आलोचना व निबन्ध

किताब महल निबंधमाला—१

संस्कृति और साहित्य

आलोचना व निबन्ध

लेखक

डा० रामविलास शर्मा

किताब महल

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १६४६

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

मुद्रक—इलाहाबाद प्रेस, इलाहाबाद

विषय-सूची

भूमिका

सन् '३५ से '४५ तक दस वर्षों में लिखे हुये मेरे प्रायः सभी निबन्धों का यह संग्रह है। दस वर्ष में साहित्य का एक छोटा-मोटा युग बीत जाता है; इस अवधि में मनुष्य का दृष्टिकोण बदलना भी स्वाभाविक है। इन निबन्धों में पाठक को मेरा विकसित और परिवर्त्तित होता हुआ दृष्टिकोण मिलेगा। मैंने अपना साहित्यिक जीवन कविता लिखने से आरम्भ किया था। कहा जाता है कि असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है। यह संशयात्मक है कि कवि रूप में मैं बिल्कुल असफल रहा हूँ। इसलिये आलोचना की सफलता भी मेरे निकट संशयात्मक है।

सन् '३४-३५ के लगभग छायावादी कवियों को लेकर अच्छा खासा विवाद चल रहा था। यह वह युग था जब श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' जैसे साहित्य-मनीषी हिन्दी के जाने-माने साहित्यकारों पर 'अभ्युदय' जैसे पत्रों में कीचड़ उछाला करते थे। जिन्होंने निराला-जयन्ती का समारोह ही देखा है, उनके लिये शायद यह कल्पना करना कठिन हो कि कुछ असभ्य विरोधियों की बकवास बन्द करने के लिये महाकवि को अपने पद-त्राण का सहारा लेने की घोषणा करनी पड़ी थी! यह बात उनके विरोधियों ने ही अपने लेखों में लिपिबद्ध करके उसे ऐतिहासिक बना दिया है। इस संग्रह में छायावाद सम्बन्धी '३५-३६ के निबंध इसी विरोध-भावना को देखकर लिखे गये थे। छायावादी कविता में जहाँ-जहाँ रहस्यवाद और पलायन का पुट है, उससे मैं

कभी सहमत नहीं रहा। मैं छायावाद को काव्य की एक नवीन परम्परा के रूप में देखता था जिसने रीतिकालीन कविता के संस्कारों को हिन्दी से निकाल फेंका था। इसके बिना साहित्य का अगला विकास असंभव होता। कुछ लोगों का आक्षेप है कि उन दिनों जिस छायावादी काव्य सौन्दर्य का मैं भक्त था, उसे आगे चलकर मैंने तिलांजलि दे दी। छायावाद के मर्मी आलोचक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने यह धारणा अपने कुछ निबंधों में व्यक्त की है। छायावादी काव्य-सौंदर्य का प्रशंसक मैं अब भी हूँ लेकिन साहित्य की वर्त्तमान धारा आज दूसरी है। छायावादी परम्परा में जो सबसे सबल और जन-हितैषी तत्त्व थे, उन्हें अपने में समेट कर यह धारा आगे बढ़ने का प्रयास कर रही है। श्री 'दिनकर' जैसे मान्यकवि और आलोचक का मत है कि प्रगतिशील कविता वास्तव में छायावादी काव्य की ही परिणति है। इस कथन से इतना तो मालूम ही होता है कि काव्य की दोनों प्रवृत्तियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। छायावादी कवियों का विद्रोह पुरानी सीमाओं से निकल कर आज एक विशद सामाजिक रूप धारण कर रहा है। इसलिये काव्य की शैली, शब्द-चयन, भाव-व्यंजना, रूप-विन्यास आदि में भी परिवर्त्तन हुआ है। परिवर्त्तित शैली और रूप में जो तत्त्व सबल और स्थायी हैं, उनके समर्थन का यह मतलब नहीं है कि समर्थक छायावादी कवियों की महान् कृतियों का विरोधी है। निरालाजी की रचनायें—'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास'—छायावादी कविता का चरम उत्कर्ष हैं। उस तरह की कला में इन रचनाओं को जितनी सफलता मिली है, उतनी सफलता नये कवियों को अपनी नवीन शैली में लिखी हुई किसी भी रचना में नहीं मिली। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम 'राम की शक्ति-पूजा' या 'तुलसीदास' की भाव-व्यञ्जना और शैली का अनुकरण करते चले जायें। साहित्य में सिद्ध ग्रन्थों की शैली का जो भी अनुकरण-मात्र करता चला जाता

है, वह सचेत नहीं जड़ साहित्य की सृष्टि करता है। उसकी कृतियों को साहित्य कहना ही भ्रामक है। यदि साहित्य में एक ही प्रकार के भाव या एक ही प्रकार की शैली अपनाने से अमरता प्राप्त होती तो कवि-कर्म बहुत सरल हो जाता। गोस्वामी तुलसीदास और शेक्सपियर का अनुकरण करके सभी कवि ट्रैजेडी और प्रबंधकाव्यों की रचना में लीन होते। परन्तु सामाजिक विकास के साथ साथ साहित्य के भाव-प्रकार और शैली भी बदलती रहती है। कोई भी साहित्यकार बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों और अपने युग विशेष की चेतना को पहचाने बिना स्थायी और रोचक साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। इसी नियम के अनुसार स्वयं छायावादी कवियों ने ही अपने पुराने भाव-प्रकार और शैली को क्रमशः छोड़ते हुए नये-नये प्रयोग करके परवर्त्ती कवियों का मार्ग प्रशस्त किया है। कोई भी प्रगतिशील कवि यह नहीं कह सकता कि छायावादी परम्परा से अलग होकर नये प्रयोग करने से ही वह पन्त या निराला के बराबर हो गया है। नयी कविता का कोई विरोधी यदि यह दावा करे कि इस नवीन परम्परा में स्थायी कृतियों का अभाव है, वह केवल प्रचार-साहित्य है और इसलिये हमें पुराने भाव-प्रकार और शब्द-चयन की ओर लौट चलना चाहिये तो यह दावा भी बिल्कुल झूठा है। द्विवेदी-युग के अनेक महारथियों ने छायावाद का विरोध करते हुए यही कुतर्क पेश किया था लेकिन वे छायावादी काव्य की प्रगति को रोक नहीं सके। यही बात नये साहित्य के विरोधियों पर भी लागू होती है।

दूसरे महायुद्ध का आरम्भ होते-होते छायावाद की पलायनवादी और निराशा को जन्म देनेवाली प्रवृत्ति बिल्कुल खोखली हो चुकी थी। अनेक छायावादी कवियों ने इस प्रवृत्ति को दूषित बताकर यथार्थवाद की ओर बढ़ने का संकेत किया था। 'रूपाभ' में प्रकाशित

अपने एक प्रसिद्ध वक्तव्य में श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने बहुत स्पष्टता से कल्पनामात्र के आधार पर लिखी हुई असम्भव स्वप्नों को रचनेवाली कविता की निन्दा की थी। जो लोग छायावाद की निराशावादी परम्परा को आगे बढ़ाना चाहते थे और उसी के अनुकरण में नये साहित्य का कल्याण मानते थे, उन्हीं को लक्ष्य करके 'हिन्दी काव्य में व्यक्तिवाद और अतृप्त वासना' नामक लेख लिखा गया था। इस लेख में व्यक्तिवाद और अतृप्ति के सामाजिक कारणों का उल्लेख स्पष्टता से नहीं किया गया। सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य के भाव-प्रकार और शैली पर किस तरह पड़ता है, यह बात तब मेरे मन में स्पष्ट नहीं थी। फिर भी इस लेख से यह पता लगता है कि जिन साहित्यकारों ने उस समय प्रगतिशील धारणाओं को अपनाया था, उनके चिंतन के अंतर्विरोध और असंगतियाँ क्या थीं। पंतजी में उस समय भी छायावाद की भर्त्सना करने के बावजूद भी—एक कल्पना-निर्मित आध्यात्मिक जगत् में पलायन करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। इसका यह मतलब नहीं कि 'रूपाभ' के बाद उन्होंने जिन नये आदर्शों को अपनाया था, उनसे स्फूर्ति पाकर उन्होंने श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं की। जो लोग यह दावा करते हैं कि प्रगतिवादियों ने अपना मोर्चा मज़बूत करने के लिये पन्तजी को ज़बर्दस्ती अपनी तरफ घसीट लिया, वे पंतजी के साथ और हिन्दी कविता के इतिहास के साथ बहुत बड़ा अन्याय करते हैं। नये आदर्शों से प्रेरित होकर पन्तजी ने 'ग्राम्या' की रचना की। इसकी भूमिका में उन्होंने बड़ी स्पष्टता से स्वीकार किया कि जनसाधारण के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक ही है। यह बात सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों की है। सौभाग्य की इसलिये है कि सहानुभूति बौद्धिक होते हुए भी उसी के सहारे पन्तजी 'ग्राम्या' जैसा अनूठा काव्यसंग्रह हिन्दी साहित्य को दे सके। इसका

शब्द-माधुर्य 'पल्लव' से किसी तरह घटकर नहीं है, उससे भिन्न कोटि का अवश्य है। इसमें 'युगवाणी' के बौद्धिक चिंतन की नीरसता नहीं है। पंतजी की कल्पना-प्रधान कवि-वाणी इतनी स्वस्थ और मांसल किसी दूसरे संग्रह में नहीं है। 'पल्लव' के बाद हिन्दी-साहित्य को यह उनकी सबसे बड़ी देन है। जिस तरह 'पल्लव' छायावादी युग का प्रकाश-स्तम्भ है, उसी प्रकार 'ग्राम्या' प्रगतिशील कविता का एक ऐतिहासिक मार्ग चिह्न है। दुर्भाग्य की बात यह थी कि पन्तजी की सहानुभूति बौद्धिक-स्तर से नीचे उतर कर मार्मिक नहीं बन सकी। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि'—इन नये काव्यसंग्रहों में उन्होंने बौद्धिकता की निंदा की है लेकिन मेरी समझ में वे मार्मिकता को अभी भी नहीं पा सके हैं। उनका अध्यात्म-चिंतन बुद्धिवाद की निन्दा करने पर भी बौद्धिक ही है। 'ग्राम्या' के बाद उनके सामने दो ही मार्ग थे। या तो वे बौद्धिक सहानुभूति को बौद्धिक ही न रखकर उसे मार्मिक बनाते या फिर जनसाधारण के प्रति इस सहानुभूति से ही मुँह फेर लेते। युद्धकाल में और उसके बाद—कम से कम कुछ समय के लिये तो—उन्होंने दूसरे मार्ग को ही अपना लिया है। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' की रचनायें अधिकतर 'युगवाणी' के नीरस बौद्धिक-चिंतन के स्तर की हैं। देवी सरस्वती को शायद यह सब स्वीकार नहीं है। इन संग्रहों में भी सबसे सजीव रचनायें वे हैं जिनमें 'ग्राम्या' के कवि की वाणी कहीं गूँज गई है। बौद्धिक स्तर पर जनसाधारण के प्रति अपनी पहली सहानुभूति से तटस्थ होने पर पन्तजी का मर्मी-कवि जहाँ तहाँ ही उनके साथ है। इन पुस्तकों की समालोचना करते हुए फिर कभी विस्तार से इस विषय पर लिखूँगा। यहाँ पर केवल उन लोगों को उत्तर देना है जो समझते हैं कि 'ग्राम्या' में जनसाधारण के प्रति एक नवीन सहानुभूति से प्रेरित होकर पन्तजी ने जो रचनायें कीं, वे आकस्मिक और उनके

विकास की विरोधी दिशा में हैं। मेरा निवेदन इतना ही है कि 'ग्राम्या' की भूमिका में पन्तजी ने जिस बौद्धिक सहानुभूति का उल्लेख किया है, उसमें और गहराई लाकर उसे मार्मिक बनाने की ज़रूरत थी, न कि उसे नमस्कार करके पुनः एक नये छायावादी अध्यात्म-जगत् में खो जाने की।

महायुद्ध का आरम्भ होते-होते साहित्य की मान्यताओं के बारे में ज़ोरों से विवाद छिड़ गया था। उन दिनों अनेक लेखकों की यह प्रवृत्ति थी कि वे प्रेमचन्द द्वारा स्थापित जन-साहित्य की परम्परा का विरोध करते थे। प्रेमचन्द की निन्दा करने के लिए वे शरत्बाबू का आदर्श उपस्थित किया करते थे। शरत्बाबू से प्रभावित होकर अनेक नये लेखक अपने अतृप्त मध्य-वर्गीय जीवन को आदर्श रूप में चित्रित करने में लगे थे। उनके लिये सामाजिक संघर्ष और राजनीतिक आन्दोलनों का कोई महत्त्व न था। उनके लिये सारा साहित्य अबलामय था और वे 'हीरो' बनकर नारी का उद्धार करने में लगे थे। छायावाद के उत्तरकाल में जो निराशा कविता में व्याप गई थी, उसी का प्रतिरूप कथासाहित्य में यह कथित नारी का उद्धार था। इस प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर शरत्-बाबू के उपन्यासों पर लेख लिखा गया था। इसमें शरत्बाबू की कमज़ोरियों का उल्लेख अधिक है और इसका कारण उस समय के हिन्दी लेखकों की वह प्रवृत्ति है जो इन कमज़ोरियों को ही शरत्बाबू की सबसे बड़ी महत्ता समझती थी। बँगला-साहित्य में कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक रोमान्सों की दुनिया से अलग होकर शरत्बाबू ने घरेलू जीवन के यथार्थवादी चित्रण का श्रीगणेश किया था। बंगाल और हिन्दुस्तान के साहित्य में उनका एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। सामाजिक उत्पीड़न और अन्याय के प्रति उनकी सहानुभूति नहीं थी। परन्तु बंगाली भद्रलोक के जीवन

में जो झूठी आदर्शवादिता और अपनी अतृप्ति को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति आ गई थी, वह शरत्‌बाबू के उपन्यासों में भी झलकती है। शरत्‌बाबू की कला साधारण पात्रों के चित्रण में खूब निखरी है। दुर्भाग्य से हिन्दी लेखकों पर भद्रलोक वाली अतृप्ति और झूठी आदर्शवादिता का ही प्रभाव अधिक पड़ा।

नये साहित्य और विशेषकर नयी समालोचना पर यह अभियोग लगाया जाता है कि वह पिछले साहित्य की परम्पराओं से तटस्थ और उनके प्रति उदासीन है। पुरानी परम्परा का उल्लेख करने पर यह भी घोषित किया जाता है कि प्रगतिशील आलोचक तुलसीदास या भारतेन्दु को ज़बर्दस्ती प्रगतिशील बना रहे हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओं से परिचित हों। परिचित होने के साथ साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण भी करना चाहिये। मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज-हित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं। उनके लिये बिहारी और तुलसीदास दोनों ही समान रूप से वन्दनीय हैं और दोनों की ही परम्परा समान रूप से वांछनीय है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मेरी दृष्टि में समाज के हित और अहित को न भूल जाना चाहिये। यदि दरबारों में राजाओं की चाटुकारिता करते हुए भी श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता था तो इसे संत कवियों की सनक ही माननी चाहिये कि वे दरबारों में आनन्द-पूर्वक समय न बिताकर चिमटा बजाते हुए रूढ़िवादियों का विरोध सहन करते रहे। 'सिर धुनि गिरा लागि पछिताना'—यह उक्ति अगर किसी पर भी लागू होती है तो इन दरबारी कवियों पर। लक्षण-ग्रंथ लिखने वाले कवियों और मध्यकालीन समाज में क्रांतिकारी परिवर्तनों की ओर बढ़ने वाले संतकवियों में आकाश पाताल का अन्तर है। इस अन्तर को न समझकर दोनों को ही बराबर तौलना

अपनी परम्परा को ग्रहण नहीं अस्वीकार करना है। 'हिन्दी साहित्य की परम्परा' नामक लेख इसी धारणा के अनुकूल हिन्दी साहित्य के विकास का एक रेखाचित्र भर है। इस विषय पर भरा पूरा विवेचन करते हुए अलग-अलग पुस्तकें लिखना आवश्यक है।

इन निबन्धों में अनेक प्रश्न उठाये गये हैं, जिनका भली भाँति निराकरण उनमें नहीं किया गया। मैं उनके सम्बन्ध में पाठकों के विचारों का स्वागत करूँगा और प्रयत्न करूँगा कि अन्य पुस्तकों में यह निराकरण अधिक सन्तोषप्रद बने।

गोकुलपुरा, आगरा
१ अक्तूबर '४७

रामविलास शर्मा

हिन्दी साहित्य की परम्परा

साहित्य के लिये प्रगति और प्रतिक्रिया नयी चीज़ें नहीं हैं। इनका क्रम तो तब से चलने लगता है, जब से समाज का विकास होता है। कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली है कि प्रगतिशील साहित्य का परंपरा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक ग़लत धारणा है। जैसे सामाजिक विकास में कोई भी नवीन व्यवस्था पुरानी सामाजिक व्यवस्था से एकदम अलग हो कर नहीं आ सकती, वैसे ही साहित्य में विकास-क्रम को भंग करके शून्य में एक नयी प्रगति नहीं आरंभ हो सकती। हिन्दी साहित्य का विकास-क्रम अन्य साहित्यों से कुछ दूसरे ढंग का रहा है। इसका कारण हमारे देश में सामाजिक विकास की भिन्नता है। जिस समय यूरुप में नयी भाषाओं और नये राष्ट्रों का जन्म हो रहा था, उसी के आसपास भारत में भी नयी भाषाओं का जन्म तथा विदेशी आधिपत्य का आरंम्भ हो रहा था। यदि हिन्दुस्तान का सामन्तवादी ढाँचा अलग छोड़ दिया जाता तो बहुत संभव था कि यूरुप की तरह यहाँ भी अलग-अलग छोटे-बड़े राष्ट्र बन जाते जहाँ अलग-अलग भाषाएँ बोली जातीं। यूरुप में जब तक रोमन साम्राज्य रहा, यूरुप की एकता कायम रही परन्तु जब वह साम्राज्य विशृंखल हुआ, तब छोटे-बड़े राष्ट्रों ने उसका स्थान ले लिया। भारतवर्ष में मुग़ल साम्राज्य औरंगज़ेब के समय तक अपने विस्तार के लिये प्रयत्नशील रहा और सदा ही—अकबर के सयय में भी—उसे अपनी सत्ता की रक्षा के लिये सचेत और सचेष्ट रहना पड़ा। जब मुग़ल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ, तब उसके मलवे पर सुदूर यूरुप की अनेक व्यापारी शक्तियों ने अपना साम्राज्य कायम करने की कोशिश की

लेकिन उस प्रतिद्वंदिता में जीत केवल ब्रिटेन की हुई। ब्रिटिश छत्र-छाया में भारतीय पूँजीवाद का जन्म हुआ; परन्तु वह ब्रिटिश पूँजीवाद से टक्कर न ले, इसलिये उसे यथासंभव निराहार ही रखा गया। पूँजीवाद के साथ हिन्दुस्तान में एक विशाल मध्यवर्ग का जन्म हुआ जिसकी दशा अन्य देशों के मध्यवर्ग से बहुत कुछ गिरी हुई थी। नयी राष्ट्रीय चेतना और नये साहित्यिक जागरण में इसका विशेष हाथ था। इस मध्यवर्ग का किसानों से काफी संपर्क था; बहुत से लोग किसान-वर्ग से ही आकर नागरिक मध्यवर्ग में शामिल हुये थे। इस वर्ग की अच्छाइयों और बुराइयों, दोनों का ही हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है।

भारतीय मध्ययुग में जब सामंतवाद अपने वैभव के दिन देख चुकने के बाद घरेलू लड़ाइयों का रूप ले रहा था, तभी उसे विदेश के, कभी संगठित कभी अलग-अलग, आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ा। जो लोग हिन्दुस्तान में अपना नया साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे, उन्हें इस्लाम के धार्मिक संगठन से सहायता मिली। भारतीय सामंतवाद विदेश की इन संगठित शक्तियों के सामने न टिक सका। कुछ लोग आक्रमणकारियों से मिल गये, कुछ खेत रहे और कुछ अन्त समय तक लड़ते रहे। मुग़ल साम्राज्य का प्रथम काल हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल है। इस साहित्य में बहुत कुछ तो सामन्तों की रूढ़िगत प्रशंसा है, उनकी प्रेम कहानियों का वर्णन है, परन्तु कहीं-कहीं उसमें विरोध के चिन्ह भी हैं और नये साम्राज्य के प्रति ललकार है। अकबर के समय में इस साम्राज्य की जड़ें काफी मज़बूत हो गईं। अकबर ने देखा कि विशृङ्खल होने पर भी भारतीय सामंतवाद का अन्त अभी जल्दी नहीं हो रहा; इसलिए उसने विद्रोही सामंतों से यथाशक्ति समझौता करने की कोशिश की। यह समझौता उच्च वर्गों का था। भारतीय किसान

वर्ग वैसे ही त्रस्त रहा जैसे पहले। अकबर की आर्थिक व्यवस्था से शोषण नियमित अवश्य हो गया । इस समय दो प्रकार की साहित्यिक धाराओं का जन्म हुआ। एक भक्त कवियों की, दूसरी दरबारी कवियों की। मुग़ल साम्राज्यवाद से समझौता करने के बाद कुछ समय के लिये भारतीय सामन्तवाद ने सुख की साँस ली। राजाओं की प्रशंसा के गीत गाये जाने लगे और नायिकाओं के हावभाव कटाक्षों आदि के वर्णन से चाटुकार कवि अपने आश्रयदाताओं को रिझाने लगे। यह परम्परा काफ़ी दिन तक जीवित रही, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इसको दबा दिया गया और अब वह साँसें लेती भी नहीं दिखाई देती। कभी-कभी उसके हिमायती यों ही भूली बातों को याद करके उबल पड़ें, वह बात दूसरी है।

इन दरबारी कवियों के साथ इनसे बिल्कुल विपरीत दूसरी परिपाटी के कवि थे—संत कवि। इनका सम्बन्ध राज दरबारों से न था। ये साधारण जनता के बीच में जीवन बिताते थे और अपने गीतों से जनता में जीवन की आशा जगाये रहते थे। इन संत कवियों में सबसे उग्र और विद्रोही मनोवृत्ति के थे कबीर। उन्होंने हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक आडंबरों को एक साथ चुनौती दे कर सामंतवादी रूढ़ियों को ललकारा। समाज के नीचे से नीचे वर्गों से उनका संपर्क था। इन वर्गों में कबीर ने एक आत्म-सम्मान की भावना जगाई। ईश्वर एक है; वह हमारा भी है; कोई उच्चवर्ग या उच्चकुल में पैदा होने से ही बड़ा नहीं हो जाता। कबीर ने उन लोगों की भी खूब खबर ली जो एक ओर तो इस्लाम की महत्ता घोषित करते थे, परन्तु दूसरी ओर जनता को लूटने खसोटने में किसी तरह की कमी न करते थे। कबीर का काफी विरोध हुआ, जैसा कि उनकी इस पंक्ति से भी मालूम होता है—"साँच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।" परन्तु खरी कहने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया

कबीर की प्रतिभा वास्तव में ध्वंसात्मक थी। उनके दार्शनिक विचार उलझे हुए हैं और सामाजिक दृष्टि से उनके रहस्यवाद में रचनात्मक तत्व कम है। इसके विपरीत तुलसीदास की प्रतिभा मूलतः रचनात्मक थी। विनयपत्रिका के अनेक पदों से देश की वास्तविक दशा पर कठोर प्रकाश पड़ता है। तुलसीदास ने अपने जीवन में घोर गरीबी के कष्ट भोगे थे। बाल्यकाल में उनकी दशा अनाथ बच्चों जैसी रही थी। पेट की आग क्या होती है, इसे वह अच्छी तरह जानते थे। "आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की"—यह उक्ति उन्हीं की है। उनके रामचरितमानस का जो प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ा है, उस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यह काव्य प्रधानतः एक भक्त कवि की रचना है परंतु ऐसे भक्त की जो भक्त को भगवान से बड़ा समझे। राम भी चित्रकूट गये थे और भरत भी, परंतु बादलों ने जैसी शीतल छाया भरत के लिये की वैसी राम के लिये भी नहीं की। ऐसे भक्त कवि की रचना का जितना प्रभाव भक्त हृदयों पर पड़ा, उससे कहीं अधिक उसका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा।

मुग़ल साम्राज्य जब अपने वैभव की सीमाएँ पूर्णरूप से विस्तार कर चुका था, उसी समय उस पर दो ओर से आक्रमण होने लगे थे—उत्तर में सिक्खों द्वारा और दक्षिण में मराठों द्वारा। दक्षिण में इस नये जागरण के नेता थे शिवाजी। वह एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुये थे और केवल अपनी असाधारण क्षमता के बल पर एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर सके थे। जैसे वह चतुर थे, वैसे ही साहसी भी थे। उन्होंने मराठा किसानों को एक नया जीवन दिया और अपनी उदार व्यवस्था के कारण किसानों के प्रिय हो गये। शिवाजी की सफलता का रहस्य यह था कि उन्होंने किसानों को ताल्लुकदारी ज़ंजीरों से मुक्त किया। मराठा शक्ति के ह्रास का कारण इसी ताल्लुकदारी व्यवस्था का पुनः सिर उठाना था। सिक्खों का संगठन

भी पंचायती ढंग का था परंतु बाद में उनमें कुछ सर्दारों का ऐसा प्रभुत्व हो गया जो जनशक्ति का उपयोग अपने स्वार्थ के लिये करने लगे। शिवाजी के नेतृत्व में जनशक्ति का जो संगठन हुआ, उसका प्रभाव भी साहित्य पर पड़ा। भूषण के छन्दों में जहाँ-तहाँ यह जन-ध्वनि सुनाई पड़ती है। परंतु भूषण आरंभ से ही दरबारों में रहे थे और तुलसीदास के विपरीत जन कवि न हो कर एक दरबारी कवि थे। नायिका भेद को अपना काव्य-विषय न बनाकर उन्होंने अपने आश्रयदाताओं पर छन्द लिखे थे। फिर भी उनके आश्रयदाता असाधारण व्यक्तित्व के लोग थे। और उनमें लोक नेताओं के गुण विद्यमान थे। भूषण अपनी धारा के अकेले कवि न थे। रीतिकाल में ही वीरगाथा काल का एक छोटा-सा नूतन आविर्भाव-सा हो गया था; परंतु "वीररस" के इन कवियों को अधिक लोकप्रियता न मिली, उसका कारण यह था कि वे अपने आश्रयदाताओं के भक्त पहले थे, देश के भक्त बाद को।

१६ वीं शताब्दी में डगमगाते मुग़ल साम्राज्य और ध्वस्त सामंतवाद की मुठभेड़ यूरुप के नवीन पूँजीवाद से हुई। यह पूँजीवाद अन्य देशों की अपेक्षा इंगलैंड में अधिक विकसित हो चुका था। इसलिये यूरुप की अन्य शक्तियाँ हिन्दुस्तान की लूट में अँग्रेजों के सामने न टिक सकीं। सन् '५७ तक यह पूँजीवादी साम्राज्य अपना विस्तार करता रहा। मुग़ल साम्राज्यवाद कुछ तो भारतीय जन-संघर्ष के कारण, कुछ अपनी कट्टर धार्मिक नीति और विलासिता के कारण और अधिकांशतः अपनी सामंतवादी बुनियाद के कारण इस नये उद्योग-धंधों की बुनियाद पर तैयार किये गये ब्रिटिश पूँजीवाद का सामना न कर सका। सन् '५७ में बुझने के पहले उसने अंतिम साँस ली। किसी हद तक उसे जनता की सहानुभूति भी प्राप्त थी। मुग़लों के आक्रमण के समय कुछ ज़मींदार, ताल्लुकेदार, राजा आदि उनसे

लड़े थे और बहुत से उनसे मिल गये थे, उसी तरह इस विद्रोह में भी इस वर्ग के बहुत से लोग जूझ गये और बहुत से अँग्रेजों की सहायता करने के कारण बन भी गये। सन् '५७ के इस नये अनुभव से लाभ उठाकर अँग्रेजों ने राजाओं और ताल्लुकेदारों से मैत्री का व्यवहार स्थापित कर लिया और ये लोग जन-आन्दोलन को दबाने में अंग्रेजों से होड़ करने लगे। सन् '५७ के बाद की साम्राज्यवादी व्यवस्था का भारतीय साहित्य पर नया प्रभाव पड़ा।

बंगाल में नवीन साहित्यिक धाराओं का पहले ही जन्म हो चुका था। उर्दू में ईरानी कविता के ढंग पर दरबारी कविता ने गुल बुलबुल की सहायता से अपना एक नया चमन आबाद कर लिया था। कफ़स और सैयाद के शायर कुछ दरबारों में बंद थे। सन् '५७ में कुछ दरबार नष्ट हुए, कुछ नये बन गये। हैदराबाद, रामपुर और लखनऊ ने दिल्ली की बुलबुलों को आश्रय दिया। मुग़ल साम्राज्य के नष्ट हो जाने से एक ऐसे वर्ग ने भी उर्दू साहित्य को प्रभावित किया जो उस नष्ट साम्राज्य की स्मृति में आँसू बहाता था और इस्लामी एकता को राष्ट्रीयता से बड़ा मानता था। इस वर्ग के प्रतिनिधि थे सर सैयद अहमद खाँ। उस वर्ग को साहित्यिक वाणी दी मौलाना हाली ने। उन्होंने इस्लाम के उत्थान-पतन पर अपना प्रसिद्ध काव्यग्रंथ लिखा।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में—जब इंगलैंड में विक्टोरियन युग की शांति थी—हिंदी के आधुनिक युग का आरंभ हुआ। नायिका-भेद वाली कविता की परिपाटी पर काफी कविता हुई और उस परंपरा को खड़ी बोली के कवियों ने ही नष्ट किया। ब्रजभाषा और खड़ी बोली की प्रतिद्वंदिता सांस्कृतिक दृष्टि से लाभकारी सिद्ध हुई। खड़ी बोली के कवियों ने उस दरबारी संस्कृति का भी बहिष्कार किया जिसका ब्रजभाषा से घनिष्ठ संबन्ध था। उर्दू में इस तरह

की प्रतिद्वंदिता न थी ; फलतः कुछ लोगों ने यह समझा और अब भी समझ रहे हैं कि दरबारी कविता का उर्दू के साथ कोई आध्यात्मिक संबंध है।

भारतेंदु युग के साहित्य में बहुत सी प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। यह स्वामी दयानंद का युग था जब रूढ़िगत धार्मिक भावनाओं पर प्रहार हो रहा था और नये-नये सुधारों के लिये आंदोलन छिड़ा हुआ था। हिन्दी के अधिकांश लेखकों ने स्वामी दयानन्द की कट्टरता से अलग रह कर उनके सामाजिक क्रांति वाले पहलू को अपना लिया। भारतेन्दु और उनके साथियों ने अपने साहित्य में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति तीव्र आन्दोलन किया। इस कारण उनका काफी विरोध हुआ। राधाचरण गोस्वामी के पिता उन्हें भारतेन्दु से मिलने न देते थे, यह सोचकर कि बेटा क्रिस्तान हो जायगा। भारतेन्दु युग के साहित्य का वह भाग, जिसका संबन्ध राजनीति से है और भी महत्वपूर्ण है। कुछ कविताओं में महारानी विक्टोरिया का गुणगान है और ब्रिटिश सरकार के प्रति भक्ति का प्रदर्शन है। परंतु देश के दुर्भिक्ष, महामारी, टैक्स आदि ने लेखकों की आँखें खोल दीं और इनको लेकर उन्होंने जनता को चौकन्ना करने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। यह नवीन राजनीतिक चेतना पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक प्रकट हुई। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में इस तरह की रचनाएँ भरी पड़ी हैं। व्यंग्य और हास्य इस साहित्य की विशेषताएँ हैं और कोई भी लेखक अपनी रचनाओं को इनसे निर्लिप्त नहीं रख सका।

भारतेंदु ने एक घोषणा प्रकाशित की थी जो आधुनिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा था कि जनता में नवीन चेतना फैलाने के लिये ग्रामीण भाषाओं का सहारा लेना चाहिए गीत ग्रामीण भाषाओं में लिखे जायँ और गायकों से उन्हें गवाया जाय उन्होंने उन विषयों की एक सूची भी दी थी, जिन पर वह इस तरह

का लोक साहित्य रचा जाना आवश्यक समझते थे। इनमें बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों से लेकर स्वदेशी और देश-प्रेम तक अनेक विषय हैं और वे भारतेंदु के प्रगतिशील नेतृत्व पर काफ़ी प्रकाश डालते हैं। भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशक बहुधा लेखक ही होते थे। पत्रिकाएँ दो आने, चार आने की होती थीं। अनेक कठिनाइयों का सामना करने पर भी इन लेखकों ने वर्षों तक अपनी पत्रिकाओं को जीवित रखा। २०वीं शताब्दी के आरंभ में पुस्तक-प्रकाशन से लाभ उठाने वालों की संख्या बढ़ गई। इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। वह मौज, वह फक्कड़पन, वह हेकड़ी अब नहीं रही। खरी बात कहने के लिये अब गुंजाइश कम थी। पूँजीवादी "प्रकाशकों" के पत्रों में "उच्च कोटि का" साहित्य प्रकाशित होने लगा और वह लड़ाई जिसे लेखक तरह तरह के विरोधियों से लड़ रहे थे, कुछ समय के लिये बन्द-सी हो गई। /

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके साथियों ने जो महत्वपूर्ण काम किया, वह पद्य में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना था। खड़ी बोली और ब्रजभाषा की लड़ाई भारतेन्दु के पश्चात् ही शुरू हो गई थी परन्तु द्विवेदी युग में संघर्ष और तीव्र हुआ और ब्रजभाषा के समर्थकों को दिखाई देने लगा कि अब पद्य के लिये ब्रजभाषा का ही प्रयोग हो, यह असंभव है। वे अब यह माँग करने लगे कि कविता खड़ी बोली में भी हो लेकिन ब्रजभाषा का माधुर्य भी स्वीकार किया जाय और उसमें लिखने वालों को बुरा-भला न कहा जाय। पत्र-साहित्य की उन्नति में द्विवेदी जी का बहुत बड़ा हाथ था। हिन्दी में कुछ दिनों तक जो अनेक सुन्दर पत्रिकायें निकलीं, वे बहुत कुछ 'सरस्वती' से होड़ के कारण सुन्दर बन गईं। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को एक निश्चित रूप दिया और व्याकरण तथा अन्य प्रयोगों में जो गड़बड़ थी

ऽसे बन्द किया। परन्तु इस संस्कार में भारतेंदु युग की सजीवता भी ाहुत कुछ नष्ट हो गई।

हिन्दी को द्विवेदीजी की मुख्य देन श्री मैथिलीशरणजी गुप्त थे। ़नकी पुस्तक "भारत-भारती" की तुलना काका कालेलकर ने ाहात्मा गांधी के "हिन्द-स्वराज्य" से की है। साहित्य में भारत-भारती ने वही किया जो राजनीति में गांधीजी की पुस्तक ने। गुप्तजी की तरह ोमचन्द भी गांधीवादी थे, परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर था। प्रेमचन्द केसानों के बहुत निकट थे, उन्हें बहुत अच्छी तरह जानते-पहचानते थे; विचारों में नर्म होते हुये भी परिस्थितियां का चित्रण उन्हें एक क्रांतिकारी लेखक की सतह तक खींच लाता था। अपने उपन्यासों में उन्होंने महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का चित्रण किया है। "सेवासदन" में ही उन्होंने वेश्या-जीवन पर लिखते हुये उस समस्या को देश की आर्थिक पृष्ठभूमि के साथ चित्रित किया था। भारतीय कथा-साहित्य में यह एक महत्वपूर्ण परंपरा का आरंभ था। "रंगभूमि" में उन्होंने नये उद्योग-धन्धों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर प्रकाश डाला। "कर्मभूमि" में अछूत आन्दोलन और लगानबन्दी तथा "प्रेमाश्रम" में किसान-जमींदार संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को चित्रित किया। "गोदान" में उन्होंने किसान-महाजन संघर्ष की कहानी, पूर्ण विस्तार के साथ, उसकी करुणा और भयानकता पर बिना पर्दा डाले हुए, कही। हिन्दुस्तान के किसानों को प्रेमचन्द की रचनाओं में जो आत्माभिव्यञ्जन मिला, वह भारतीय साहित्य में बेजोड़ है।

प्रेमचन्द और श्री मैथिलीशरण गुप्त के साथ-साथ हिन्दी में उन नये कवियों का अभ्युदय हो रहा था जो छायावादी कहे जाते हैं। गुप्तजी को देखते हुए ये लोग नयी पीढ़ी के कवि थे। पहले अपनी कविताएँ छपवाने के लिये इन्हें इधर-उधर भटकना भी पड़ा। पंतजी

को "सरस्वती" का सहारा मिला परन्तु निरालाजी की प्रसिद्ध रचना 'जूही की कली' को द्विवेदीजी ने "सरस्वती" से वापस कर दिया था। उनकी अधिकांश रचनायें पहले 'मतवाला' में छपीं। प्रसाद, पन्त और निराला को लेकर हिन्दी संसार में जो वाद-विवाद आरंभ हुआ, वह अभी तक समाप्त नहीं हुआ। इनके विरोधियों में नाना कोटि के प्राणी थे। पं० पद्मसिंह शर्मा ब्रजभाषा के अनन्यप्रेमी थे। उनका हृदय ऐसा कोमल था कि उसमें "पल्लव" भी काँटे की तरह चुभ गया। आधुनिक हिंदी कविता पर उन्होंने जो आक्षेप किये, उनका सबसे अच्छा उत्तर उनकी "बिहारी सतसई" की टीका है। आशिक-माशूकों के जिन चोंचलों पर वे फ़िदा थे, उन्हीं के विरोध में कविता की इस नयी रोमांटिक धारा का जन्म हुआ था। अन्य विरोधियों में सबसे ज़्यादा हठी पं० बनारसीदास चतुर्वेदी थे जो एक बार किसी के पीछे पड़ गए, तो उसकी प्रत्येक साहित्यिक क्रिया को ध्यान से देखा करते थे कि मौका मिलते ही उस पर टूट पड़ें। वैसे साहित्य और कविता के मर्म को समझने में अपनी असमर्थता का वह खुले दिल से इज़हार भी करते थे। आधुनिक हिन्दी कविता के विरोधियों में या तो वे लोग थे जो नायिका भेद में प्रवीणता प्राप्त कर चुके थे, या वे थे जो गुल और बुलबुल की शायरी पर रघुपति सहाय की तरह लोटन कबूतर बने हुए थे। जिन आलोचकों ने पुरातन प्रेम और व्यक्तिगत ईर्ष्या और स्पर्द्धाभाव को छोड़कर छायावादी कवियों का विरोध किया, उनमें पं० रामचंद्र शुक्ल मुख्य थे। शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना में स्वयं रचनात्मक कार्य किया था। दरबारी परंपरा का उन्होंने विरोध किया था और साहित्य में जन-हित की भावना को श्रेय दिया था। वह छायावादी कवियों के विरोध में आये, इसका कारण उनकी कुछ भ्रांत धारणाएँ थीं। पहली यह कि छायावादी कविता अंग्रेज़ी या बँगला की नकल थी; दूसरी यह कि इसकी विशेषता केवल इसकी

अन्योक्ति-प्रधान शैली थी। उन्होंने उसके विद्रोह और रचनात्मक क्षमता की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु धीरे-धीरे उनके विचारों में परिवर्तन हुआ था और अन्त समय में तीव्र विरोध से उनका रुख उदार और सहानुभूतिपूर्ण हो गया था।

हिन्दी की नयी रोमांटिक कविता ने हिंदी के लिये बहुत कुछ वही किया जो इस तरह की कविता ने इङ्गलैंड में अंग्रेज़ी के लिये किया था। रीतिकालीन परंपरा को इसने पूरी तरह खत्म कर दिया। 'पल्लव' की भूमिका में यह विद्रोह का स्वर स्पष्ट सुनाई दिया था। अवश्य, पंतजी ने रीतिकाल के साथ और बहुत से कवियों को भी लपेट लिया था। निरालाजी ने अपनी आलोचनाओं में नये-पुराने का संतुलन किया। बिहारी और रवींद्रनाथ पर तुलनात्मक लेख लिखकर और तुलसीदास के दर्शन पर विशेष-रूप से प्रकाश डालकर उन्होंने छायावादी आलोचना को एकांगी होने से बचाया। मुक्तछंद में रचनाएँ करने के कारण उनके विरोधियों को अपने दिल का गुबार निकालने का अच्छा अवसर मिला और मुक्तछंद के बहाने वे यथाशक्ति नयी कविता का विरोध करने लगे। परंतु युग-चेतना का विकास दूसरी ओर हो रहा था; विरोधियों को मुँह की खानी पड़ी।

नयी रोमांटिक कविता ने नायक-नायिकाओं की क्रीड़ा के स्थान पर व्यक्ति और उसके भावों-विचारों को प्रतिष्ठित किया। निष्प्राण प्रतीकों के बदले सजीव भावों को व्यंजना द्वारा वे साहित्य को जीवन के निकट लाये। नारी केवल विलास और वासना की वस्तु बनी हुई थी; उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्होंने उसे देवी बना दिया। रीतिकालीन कविता दरबारी संस्कृति का पोषण करती थी। नये कवियों ने मनुष्य मात्र की महत्ता घोषित करके, विश्वबंधुत्व के विचारों का प्रचार करके, धनी वर्गों के स्वार्थ के मूल पर कुठाराघात किया। दरबारी संस्कृति के प्रेमियों ने और पूँजीवाद के हितुओं ने कभी

मुक्तछंद को लेकर, कभी अश्लीलता को लेकर नयी कविता की इस देन पर पर्दा डालना चाहा। परंतु उन्हें इस कार्य में सफलता न मिली।

रोमांटिक कविता की कमज़ोरी है, व्यक्तिवाद। नयी समाजवादी प्रवृत्तियों के ज़ोर पकड़ने से इस व्यक्तिवाद का विरोध हुआ। छायावादी कवियों ने प्रशंसनीय उदारता के साथ नवीन प्रवृत्तियों के प्रति सहानुभूति दिखाई और उन्हें अपनी रचनाओं में प्रश्रय देने की चेष्टा भी करने लगे। हिंदी में सब से नई पीढ़ी उन लेखकों की है जो इन समाजवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं और साहित्य में उन्हें स्थापित करने के लिये प्रतिक्रियावादियों से लड़ रहे हैं। प्रगतिशील साहित्य बहुधा छायावाद की प्रतिक्रिया कहा जाता है परंतु उसका विरोध करने वालों में कोई प्रमुख छायावादी नहीं है। उसके विरोधी अधिकतर वे ही लोग हैं जो ब्रजभाषा के लिये अब तक सिर पीट रहे हैं और हिन्दी साहित्य को प्रगति की ओर जाते देखकर अपने वर्ग-स्वार्थ की डगमगाती नैया में बैठे हुए झख मार रहे हैं। श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'रूपाभ' में छायावाद से नाता तोड़ने की चेष्टा की और प्रगतिशील लेखकों से आ मिले। 'रूपाभ' उस साहित्यिक आन्दोलन का प्रतीक था जिसमें हिन्दी साहित्य सहज गति से छायावाद से आगे प्रगति के प्रकाश की ओर बढ़ता है।

'हंस' में नये लेखकों को एक मुखपत्र-सा मिल गया और नयी प्रगतिशील शक्तियों के संगठित होने के साथ उनका विरोध भी बढ़ चला। 'हंस' से अलग 'विप्लव' ने भी जन-साहित्य के निर्माण में विशेष योग दिया। उसमें चिंतन और अध्ययन के बदले प्रचार और मनोरंजन की सामग्री अधिक रहती थी और बिना जाने वह उस साहित्यिक धारा की सृष्टि कर रहा था जो भारतेन्दु युग की विशेषता थी।

यहाँ पर छायावादी कवियों की कुछ गद्य-रचनाओं का उल्लेख आवश्यक है। निरालाजी के 'देवी,' 'चतुरी चमार' आदि स्केचों में कविता की अपेक्षा जीवन का अधिक स्पष्ट और यथार्थवादी दर्शन है। पंतजी ने अपनी कहानियों में इस नये दृष्टिकोण को—कविताओं की अपेक्षा—सफलता से अपनाया था। महादेवीजी ने भी अपने रेखाचित्रों में यथार्थ-चित्रण के उदाहरण दिये हैं। यदि उनके प्रशंसक उनको यह समझा पाते कि वेदना पर 'सूरसागर' लिखने के बदले वे अपनी सहज मानवीय संवेदना से अपने आसपास के पीड़ित जनसमुदाय की वेदना के चित्र खींचें तो इनसे उनका पीड़ा का साम्राज्य भी अधिक विस्तृत होता और हिंदी की प्रगतिशील शक्तियां को भी एक अबला का बल मिलता। वैसे तो गुप्तजी ने प्रगतिपथ से स्त्रियों का वहिष्कार-सा कर दिया था—"प्रगति के पथ में विचरो उठो। पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो।" परंतु यह वहिष्कार का युग नहीं है। पुरुष तो अपना पुरुषार्थ दिखावेंगे ही।

कविता में सबसे पहले पंतजी ने छायावाद से नाता तोड़ा, परंतु नाता पुराना था, एकबारगी इतनी आसानी से टूट कैसे जाता? पंतजी से लोगों को शिकायत है कि वह पहले की ही तरह स्वप्न सौंदर्य पर कविता क्यों नहीं लिखते। मुझे ऐसा लगता है कि वह स्वप्न सौन्दर्य से काफ़ी दूर चले जाना चाहते हैं परन्तु वह उन्हें अपनी ओर घसीट ही लाता है। फिर भी 'ग्राम्या' में उन्होंने एक प्रयत्न किया है। यह प्रयास उस व्यक्ति का है जो स्वभाव से दुनिया की भीड़-भाड़ से दूर रहने वाला था। हिंदी के अन्य कवि तो गाँवों की धूल में ही पले हैं; उनके लिये नये ढङ्ग की कविता एक स्वाभाविक वस्तु हो जाती है। पंतजी के भीतर अब भी एक संघर्ष है जो समाप्त नहीं हुआ। निरालाजी छायावादी कवियों में सब से अधिक प्रगतिशील रहे हैं और अपने उस प्रगतिशीलता को याद

करके ही वह मानों छायावाद से नाता नहीं तोड़ना चाहते। छायावाद को उन्होंने ही भारतीय अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार दिया था। इसलिये छायावाद उनके लिये रोमांटिक विद्रोह मात्र नहीं रहा। यह उनका जीवन-दर्शन था। वह कर्म-मय जीवन की ओर ढकेलता है; संघर्ष से बचकर किसी कोने में छिप रहने का बहाना नहीं है।

हिंदी के प्रगति-पथ में बहुत सी बाधाएँ है। प्रगति के विरोधी पहले से अब ज़्यादा चौकन्ने हैं परन्तु उनका विरोध बहुत निर्बल है। नये या पुराने लेखकों में एक भी ऐसा नहीं है जो समर्थ भाव से उनकी हिमायत कर सके। हिंदी के ६६ फ़ीसदी अच्छे लेखकों की सहानुभूति नई धाराओं के साथ है। १ फ़ीसदी में वे लोग हैं जिनकी कहीं पूछ नहीं है और जो विरोध द्वारा अपना जीवन सफल करना चाहते हैं; या वे लोग हैं जो अपनी जीविका वृत्ति के लिये दूसरों की देहरी पर माथा रगड़ रहे हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो ख़ब्तुलहवास हैं और संसार की प्रगति से आँखें मूँदे हुए १६वीं सदी के क़फ़स में चहचहा रहे हैं और अपने चहचहाने पर फ़िदा होकर कभी-कभी ज़ोरों से पर भी फड़फड़ाने लगते हैं। तभी इनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होता है। प्रगतिशील साहित्य के विकास और प्रसार में प्रकाशन आदि की बाधाएँ भी हैं। ये बाधाएँ साधारण नहीं हैं और बार-बार प्रयत्न करने पर भी अभी तक दूर नहीं हो पाईं। युद्ध के समय उनके दूर होने की कोई संभावना भी नहीं है। परन्तु एक दिन वे दूर होकर ही रहेंगी। नये लेखकों में प्रतिभा है, लगन है; अपनी संगठन-शक्ति को पहचान लेने के बाद अपने मार्ग में वे किसी भी बाधा को न टिकने देंगे। हिन्दी में प्रगति की एक जाग्रत परंपरा है। राजा रईसों के संरक्षण के बिना ही हिंदी के लेखक जीवन-संघर्ष में जर्जर होकर भी साहित्य-रचना से विमुख नहीं हुए।

हम सबने इन लेखकों को जीवन-संघर्ष में क्षय होते और आगे बढ़ते देखा है। जो नष्ट हो गये हैं उनका वही मूल्य है जो जन-संग्राम में जूझने वाले शहीदों का होता है। हिन्दी लेखक की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो उसे हठात् पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी बना देती हैं। जो पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की खुशामद करे, उन्हें स्थायी बनाने में मदद करे, प्रगति के मार्ग में काँटे बिछाये, वह देश का शत्रु है और हिन्दी का शत्रु है, धर्म और संस्कृति के नाम पर जनता का गला घोंट कर वह पूँजीवाद के दानव को मोटा करना चाहता है। उससे सभी लेखकों और पाठकों को सावधान रहना चाहिये।

आधुनिक हिन्दी कविता

भारतेन्दु बाबू का स्वर्गवास हुए प्रायः ५५ वर्ष हुए होंगे। उनके समय में साहित्यिकों ने खड़ी बोली को केवल गद्य के लिए अपनाया था। उनके पीछे जब पद्य के लिए भी खड़ी बोली अपनाने का आन्दोलन चला तो उनके समय के अनेक साहित्यिकों ने इस बात का विरोध किया। स्वर्गीय द्विवेदीजी सरस्वती के संपादक बने तब इस आन्दोलन को एक नई गति मिली। यह कहना भी अनुचित न होगा कि यह आन्दोलन तभी से ठीक-ठीक आरम्भ हुआ। द्विवेदीजी ने अब से केवल ३७ वर्ष पहले—सं० १९६०—में सरस्वती का संपादकत्व ग्रहण किया था। पंतजी के 'पल्लव' को निकले अभी १५ वर्ष ही हुए हैं और उनकी 'ग्राम्या' को निकले अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ। हिन्दी कविता की प्रगति इसीसे समझी जा सकती है। किसी भी साहित्य के लिए यह गति गर्व की वस्तु हो सकती है। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी साहित्य और विशेषकर कविता में जो परिवर्तन-आवर्तन हुए हैं, उनकी तुलना हिन्दी के ही रीतिकालीन साहित्य से की जा सकती है। रीतिकाल का साहित्य विभिन्न भाव-धाराओं से निर्मित है; जो बहुधा एक दूसरे की विरोधिनी हैं। एक ओर मतिराम की कविता है तो दूसरी ओर भूषण की। दोनों एक ही युग के कवि थे; कदाचित् एक ही माता-पिता के पुत्र भी थे। आधुनिक हिन्दी कविता में भी 'ग्राम्या' और 'दुलारे दोहावली' एक ही युग की रचनाएँ हैं। इससे हमारे युगकी प्रगति अथवा दुर्गति भली-भाँति समझी जा सकती है।

मेरी समझ में हिन्दी के लिए यह सृजनशीलता नयी नहीं

है। मध्य युग में महान् साहित्यिकों का अभाव नहीं रहा। कुछ पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में मध्ययुग अधिक दिनों तक रहा, कहना चाहिए कि अभी तक है, परन्तु मध्ययुग के जैसे यशस्वी कवि हिन्दी में हुए, वैसे बहुत कम भाषाओं के मध्यकालीन साहित्यों में हुए होंगे। हमारे सीखने-समझने के लिए इन कवियों में भी बहुत कुछ है। विशेषकर तुलसी की भाँति संत कवियों तथा भूषण की भाँति वीर कवियों में भाषा का वह देसीपन है, जो हम अभी तक अपने काव्य की भाषा में नहीं उत्पन्न कर सके। हमारी कविता की भाषा उन कवियों की वाणी की भाँति जनता के कंठ में नहीं बसी। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारे युग की आयु अभी ३०-३५ वर्ष की ही है तथा इस युग में कविता के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों का भी विकास हुआ है। आधुनिक कविता की प्रगति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि जब हमारे देश में पूरी तरह आधुनिक युग आयेगा और हम अन्य उन्नत देशों के साथ कन्धा मिलाकर चल सकेंगे, तब हमारे मध्यकालीन साहित्य की भाँति हमारा आधुनिक साहित्य भी विश्व के आधुनिक साहित्य में अन्यतम स्थान पा सकेगा।

इस युग की हिन्दी कविता में दो प्रधान धाराएँ रही हैं। एक तो श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔधजी वाली पुरानी परिपाटी की तथा दूसरी प्रसाद और पंतजीवाली छायावादी प्रणाली की। इनके पश्चात् एक नई धारा आजकल धीरे-धीरे बन रही है, जिसे अभी 'प्रगतिशील' कह लेते हैं। इन धाराओं ने हिन्दी भाषा तथा साहित्य को पुष्ट किया है। यद्यपि वे कभी-कभी एक-दूसरे का विरोध करती दिखायी देती हैं, परन्तु उन्होंने अनेक प्रकार से भाव की व्यंजना-शक्ति को बढ़ाया है अथवा कवि-भावना को प्रसार दिया है। इन धाराओं के पहले जो साहित्य की परम्परा स्थापित हो चुकी थी अथवा हो रही थी, वह

नगण्य नहीं है। भारतेन्दु-युग में ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनसे आधुनिक साहित्य को जोड़कर एक परम्परा स्थापित करने से लाभ होगा। भारतेन्दु-युग में जो गद्य लिखा गया, उसमें भाषा की एक अपनी सजीवता थी, जो पीछे के परिमार्जित गद्य में कम मिलती है। प्रतापनारायण मिश्र जैसे लेखक धड़ल्ले से ग्रामीण प्रयोगों को अपनाते थे, और इसीलिए उनकी भाषा में अधिक प्रवाह और जीवन है। उनकी भाषा, मालूम होता है, बैसवाड़े की धूलि में खेली है; आज के लेखकों की भाषा, मालूम होता है, मुँह में क्रीम लगाकर आई है। गद्य में ही नहीं, उस काल के पद्य में भी इस सजीवता के चिह्न मिलते हैं। यद्यपि पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी, फिर भी जैसे जन-संपर्क के चिह्न उस काल की बहुत-सी कविताओं में मिलते हैं, वैसे आज की कविता में कम। उस समय के राजनीतिक वातावरण की कल्पना कीजिए, उस समय की कांग्रेस की नीति का विचार कीजिए, और तब प्रतापनारायण मिश्र की ये पंक्तियाँ देखिए—

बहुतेरे जन द्वार-द्वार मंगन बनि डोलहिं।
तनिक नाज हित दीन बचन जेहि तेहि ते बोलहिं॥

बहुत लोग परदेस भागि अरु भागि न सकहीं।
चोरी चंडाली करि बंदीगृह पथ तकहीं॥

पेट अधम अनगिनतिन अकरम करम करावत।
दारिद दुरगन पुंज अमित दुख हिय उपजावत॥

यह जिय धरकत यह न होइ कहुँ कोउ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारहि अरु रोवन नहिं देई॥

भारतेन्दु बाबू की कविता में भी इसी प्रकार के सजीव वर्णन मिलेंगे। उनकी राजनीतिक उग्रता किस सीमा तक पहुँच चुकी थी यह आप उनकी एक पहेली से जान सकते हैं—

भीतर भीतर सब रस चूसै,
बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि साजन, नहिं अंग्रेज।

देश के लिये भारतेन्दु की मंगल कामनाएँ कहीं-कहीं बड़े सरल ढंग से व्यक्त हुई हैं, जैसे उनके—"खल गनन सों सज्जन दुखी नहिं होइ, हरिपद मति रहै" छन्द में। उस परम्परा के कवियों में ऐसी ही सरलता, परन्तु सरलता के साथ तन्मयता भी, मिलती है। श्रीधर पाठक की ये पंक्तियाँ कितनी सरल हैं—

वंदनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निंदनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतंत्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों।

इन कवियों की सरलता ग्रामीणता से मिलती-जुलती है, परन्तु अपनी अलंकार शून्यता के भीतर वह उतनी ही सबल है। सत्य-नारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि की देश-सम्बन्धी कविताएँ इसी परिपाटी की हैं। देवीप्रसाद पूर्ण कविता में खड़ी बोली अपनाने के विरोधी थे, परन्तु खड़ी-बोली में उन्होंने स्वयं कविता की थी। स्वदेशी के आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने 'स्वदेशी कुंडल' लिखा था। उसे और 'भारत भारती' को एक साथ मिलाकर पढ़ने से इस परिपाटी की सजीवता और उसके अटूट क्रमका पता चल जायगा। पूर्णजी ने गाढ़े पर लिखा था—

गाढ़ा, झीना जो मिलै उसकी हो पोशाक
कीजै अंगीकार तौ रहै देश की नाक
रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने

जिन्हें नहीं दरकार चिकन योरप का काढ़ा
तन ढकने से काम गजी होवै या गाढ़ा

आज के राजनीतिक दृष्टिकोण से उस समय की कविता में बहुत-सी बातें हमें अच्छी न लगेंगी, परन्तु भाषा की यह सरलता तो ईर्ष्या की वस्तु है; उसे हमारा आदर्श होना चाहिए। यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्वदेशी के समर्थक होते हुए भी पूर्णजी मशीन के विरोधी न थे। उन्होंने लिखा था—

भरतखंड ! कल बिना तुझे, हा, कैसे कल है !

कविता की यह परम्परा श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में भली भाँति विकसित हुई है और श्री सोहनलाल द्विवेदी जैसे कवियों में वह पायी जाती है। इस परंपरा की विशेषता यह है कि वह पुस्तकों के दर्शनशास्त्र से दूर है। वह बहुधा विशेष अवसरों के लिए विशेष परिस्थितियों से प्रभावित होकर लिखी जाती है। इसलिए उसमें एक नैसर्गिकता है, जो पुस्तकों से प्रभावित कविता में नहीं मिलती।

इसी परम्परा के अन्तर्गत वह कविता आती है, जो पौराणिक कथाओं आदि पर लिखी गई है। श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध' इसका एक लोकप्रिय उदाहरण है। पौराणिक कथाओं ने साहित्य और जनता के सम्पर्क को बनाए रखा है। ऐसी ही वे सब रचनाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध ऐतिहासिक विषयों से है। प्रबन्ध-काव्य की परम्परा से छायावादी कवि भी प्रभावित हुए हैं, और छायावादी परम्परा से प्रबन्ध-काव्य के कवि। गुप्तजी के 'साकेत' और 'जयद्रथ वध' को एकसाथ पढ़ने पर दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। 'जयद्रथ वध' तब लिखा गया था जब छायावादी प्रणाली का विकास नहीं हुआ था। 'साकेत' पर छायावाद की पूरी छाया है; उर्मिला की करुणा छायावाद की उपज है। पुरानी परम्परा का शायद सबसे

विकृत रूप समस्यापूर्ति वाला है। परन्तु आजकल के मासिक-पत्रों में जो नब्बे सैंकड़ा रोनी कविताएँ भरी रहती हैं, उनसे 'सुकवि' की समस्या-पूर्तियाँ मेरी समझ में लाख दर्जे अच्छी हैं। छायावाद का विकृत रूप और पुरानी दरबारी कविता का विकृत रूप दोनों ही बुरे हैं, परन्तु इसे कौन अस्वीकार करेगा कि समस्यापूर्ति वाली परम्परा जनता के अधिक निकट थी ? समस्या-पूर्ति वाली कविता के लिए कोई यह नहीं कहेगा कि वह कवि हृदय से बरबस फूट निकली है; परन्तु उसमें मनोरञ्जन अवश्य है। साधारण जनों को समस्या पूर्ति में चमत्कार दिखाई देता है और यह चमत्कार इस प्रकार की कविता को लोकप्रिय बनाता है। हमें समस्यापूर्ति वाली कविता में विश्व-वेदना की मूक झंकार सुनने के लिए उत्सुक न रहना चाहिए; उसे तो हम किसी भी मासिक-पत्र में सुन सकते हैं। हमें उसके बारे में केवल इतना स्वीकार कर लेना चाहिए कि वह बहुत से ऐसे काम कर सकती है जो विश्व-वेदना वाली कविता नहीं कर सकती।

समस्यापूर्ति उसी परम्पराका दूसरा छोर है, जिसके एक छोर पर 'भारत-भारती' है। यह परम्परा व्यक्तिवाद की परम्परा नहीं है, इस कविता में कवि-हृदय की व्यक्तिगत भावनाओं की प्रधानता नहीं है। कवि की भावधारा का केन्द्र वह स्वयं नहीं है; उसकी कविता का केन्द्र जनता है। भारतेन्दु-युग में लोग विशेष अवसरों के लिये कविता लिखना पसन्द करते थे, जैसे स्वयं भारतेन्दु ने मिस्र में भारतीय सैनिकों की विजय पर कविता लिखी थी और उसे एक भरे हॉल में पढ़ा था। प्रेमघनजी ने दादाभाई नौरोजी के काले कहे जाने पर कविता लिखी थी। विशेष राजनीतिक अवसरों के लिये कविता लिखने से साहित्य और राजनीति निकट रहते हैं। परन्तु छायावादी परम्परा ने इस परम्परा को बदल दिया है। हम कविता को कवि

हृदय का नैसर्गिक उद्रेक समझते हैं; इसलिये यह नहीं चाहते कि कवि अपनी सरस्वती को प्रेरित करे। हम धैर्यपूर्वक उस नैसर्गिक उद्रेक की बाट जोहने के लिये तैयार रहते हैं। अधिकांशतः जब कवि-हृदय में भावना उमड़ती है तो वह उसके व्यक्तित्व अथवा अहङ्कार को लेकर। राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से जैसे उसका कवि-हृदय उमड़ता ही नहीं। यदि उमड़ता भी है तो इसलिये कि उनसे उसके अहङ्कार का सम्बन्ध है। सामाजिक परिस्थितियों के प्रति उसका विद्रोह भी करुण-रस में भीगकर निकलता है।

एक ओर सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, दूसरी ओर अपना अहङ्कार लिये मध्यवित्त श्रेणी का नवयुवक कवि है। दोनों के मेल से अतृप्त पिपासा का जन्म होता है और यह अतृप्त पिपासा ही विश्ववेदना बन जाती है। नवयुवक कवि उसे आध्यात्मिक रूप दे देता है। एक आधुनिक कवि ने अपनी कविता-पुस्तक की भूमिका में इस व्यापार का समर्थन किया है। समर्थन के साथ उसने विश्ववेदना के सारे मनोविज्ञान को भी स्पष्ट कर दिया है। कवि ने लिखा है—

"आज यदि सामाजिक बन्धनों के कारण एक नौजवान या नवयुवती अपने स्नेहपात्र को प्राप्त नहीं कर सकते और यदि वे वियोग और बिछोह के हृदयग्राही गीत गा उठते हैं, तो यह न समझिये कि यह केवल उन्हीं की वेदना है जो यों फैल पड़ी है—यह वेदना तो समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार है······कवियों का प्रत्यक्ष में केवल आधिभौतिक दिखाई देने वाला दुःखवाद वास्तव में आध्यात्मिक है—आज की कविता में रोदन और गायन का समन्वय हो रहा है।"

इस आधुनिक कवि ने रोदन और गायन के समन्वय से हिन्दी कविता के भण्डार को भरने का व्रत ठाना है। जो नवयुवक और नवयुवती अपने स्नेह पात्रों को नहीं पाते, उनकी वेदना कवि के लिये समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार बन जाती है, मानो इस प्रकार का

चीत्कार करना भ। संस्कृति का एक लक्षण है। इस दुःखवाद को वह आध्यात्मिक भी बताता है, यद्यपि उसका कारण नवयुवक और नवयुवती का न मिल सकना ही है। छायावाद के विकृत रूप में हमें यह न मिल सकने से पैदा हुआ अध्यात्मवाद ही पढ़ने को मिलता है। कविता के लिये यह कहना कि वह रोदन और गायन का समन्वय है, उसकी पर्याप्त आलोचना है; यदि इस पर भी कोई उसका समर्थन करे तो वह आलोचना से परे हो जाता है।

ऐसे छायावादी कवि के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह पुरानी परम्परा का विरोध करे। वह अपनी कविता को भीड़भाड़ से जैसे बचाना चाहता है। कविता को जनता तक लाने का सहज साधन कवि-सम्मेलन है। कवि-सम्मेलन में कवि की वाणी सुनकर पाठक के हृदय में तुरन्त एक प्रतिक्रिया होती है और वह प्रतिक्रिया कवि तक पहुंचती है। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण श्रोताओं में धैर्य और विचार-शक्ति का अभाव होता है और कविता के चरम उत्कर्ष को ग्रहण करना उनके लिए प्रायः असम्भव होता है। परन्तु इसके साथ ही पुस्तक में कवि का कंठ-स्वर पाठक तक नहीं पहुँचता। बहुत-सी बातें कवि अपने स्वर से प्रकट कर सकता है जो श्रोता जान सकता है, पाठक नहीं। यह कहना कि कविता केवल मन में पढ़ी जाय और कवि के स्वर को उससे दूर रखा जाय, श्रोताओं के साथ अत्याचार करना है। बहुत से लोगों को 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' निरालाजी के मुँह से सुनकर बहुत-कुछ आनन्द आ जाता है; वैसे छपी हुई देखकर वे उनसे दूर भागते हैं। हमारे कवि-सम्मेलनों में एक ओर बच्चनजी के सरल गीत गाये जायँ, और दूसरी ओर 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कठिन कविताएँ पढ़ी जायँ, और दोनों से ही जनता का न्यूनाधिक मनोरञ्जन हो; इसे हिन्दी कविता के लिये एक शुभ लक्षण ही समझना

चाहिए। शेक्सपियर के समय में नाटकों द्वारा कविता जनता के संपर्क में आती थी, इसलिये उसमें यह सजीवता है, जो बाद के अँग्रेज़ी साहित्य में बहुत कम है। यदि शैली, कीट्स या टेनीसन भी किन्हीं कवि-सम्मेलनों में अपनी कविताएँ सुनाते, तो निश्चय उनकी अनेक निर्बलताएँ कम हो जातीं।

ऊपर जिस आधुनिक कवि का उल्लेख हो चुका है, उसी की भूमिका से कवि-सम्मेलनों के प्रति छायावादी दृष्टिकोण देखिये। कवि का कहना है—

"हिंदी भाषा की कविता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते समय हमारे सामने कवि-सम्मेलनों की संस्था आकर मटकने लगती है....... तहसील राजनैतिक कॉन्फ़रेंस होने को है तो कवि-सम्मेलन भी उसके साथ नत्थी है, ज़िला राजनैतिक सभा है तो वहाँ भी कवियों का जमाव मौजूद है.......स्वामी दयानन्द की निर्वाण-तिथि का उत्सव है तो वहाँ ज्वान लोग हाँक रहे हैं लंतरानी; कृष्णाष्टमी, रामनवमी, दशहरा, दिवाली, होली, हर त्यौहार पर कवि-सम्मेलन की योजना मौजूद है। गोया जनाब, कवि सम्मेलन क्या हैं, एक बवाले जान हैं!"

कवि महोदय ने इन कवि-सम्मेलनों की इस प्रकार भर्त्सना कर के एक अखिल भारतीय हिंदी कवि-सम्मेलन का प्रस्ताव किया है। उनकी दृष्टि में 'हिन्दी भाषा को विश्व वेदना की वाणी' बनना है और विश्व वेदना की वाणी सुनने के लिये यदि एक विश्व-कवि-सम्मेलन स्थापित न हो सके तो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन तो स्थापित हो ही जाना चाहिए।

कवि सम्मेलनों में सुरुचि और संस्कृति का अधिक विकास होना चाहिये, परन्तु इसके लिये उनकी संख्या में कमी करने की आवश्यकता नहीं। राजनीतिक कॉन्फ़रेन्सों और त्योहारों में यदि कवि-सम्मेलन होते हैं तो बुरा क्या है? हमारे सामाजिक जीवन के प्रत्येक अङ्ग से

कविता क्यों न निकट सम्पर्क में आये ? कवि का कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक विकास में सहायता दे, समाज के विभिन्न अङ्गों को सुरुचि और संस्कृति की ओर विकसित करने के लिए लोगों को प्रभावित करे। हमें यह न भूलना चाहिये कि उच्च कोटि की कविता जन-संपर्क से दूर रहकर नहीं पनप सकती। गुलाब का फूल धरती से अलग हवा में नहीं खिलता, उसके लिए मिट्टी, पानी, हवा, सभी कुछ चाहिए। तभी उसमें रूप और गन्ध का विकास होता है।

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि लोकप्रिय कविता केवल कवि-सम्मेलनों में होती है अथवा कवि-सम्मेलनों में होने वाली सभी कविता लोकप्रिय होती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त कवि-सम्मेलनों से दूर रहते हैं, परन्तु वे हमारे लोकप्रिय कवियों में से हैं। कवि-सम्मेलनों में ऐसी कविता भी लोकप्रिय हो सकती है जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हो - परन्तु जो स्वर की मिठास के कारण श्रोताओं को मुग्ध कर दे और वे मदक के-से नशे में आ जायँ। बच्चनजी के गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं, परन्तु वे एक पतनोन्मुख परम्परा के अन्तिम गीत हैं। उन स्वरों का न दुहराया जाना ही समाज के लिये हितकर है। यह नयी परम्परा जो आज पतनोन्मुख दिखाई देती है, प्रसादजी से आरम्भ हुई थी। प्रसादजी का 'आँसू' हिन्दी की वेदना धारा का उद्गम है। वैसे तो व्यक्तिवादी कवि के लिये सामाजिक सङ्घर्ष से दूर भागकर एक काल्पनिक स्वर्ग बनाने अथवा विषाद की उपासना करने के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं रहता; फिर भी नवयुग के व्यक्ति-वादी अथवा छायावादी कवियों ने हमारी संस्कृति तथा दृष्टिकोण को उदार बनाया है। परम्परा के प्रति यदि विद्रोह न हो तो वह स्वच्छ साहित्य की सरस्वती न बने। इन पिछले बीस-तीस वर्षों में हिन्दी में नवीन और पुरातन दोनों धाराएँ प्रवाहित रही हैं और उनका एक-दूसरे पर शुभ प्रभाव ही पड़ा है। आधुनिक हिन्दी कविता

में हमें विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय मिलता है। गुप्तजी का 'गुरुकुल' देखिये, निरालाजी की सिक्खोंपर 'समर में अमर कर प्राण' वाली कविता देखिये और प्रसादजी के बौद्धकालीन नाटक देखिए और विभिन्न संस्कृतियों का मिलन स्पष्ट हो जायगा। प्रसादजी ने हिन्दी कविता में पुरानी भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित किया है। प्रसादजी का व्यक्तित्व करुणा और प्रेम के सन्देश में अधिक व्यक्त हुआ है, 'आंसू' की वेदना में कम। उनके नाटकों और 'कामायनी' के आगे 'आँसू' बहुत छोटा लगता है, परन्तु जैसे कभी-कभी छोटे तालों से बड़ी-बड़ी नदियाँ निकलती हैं, वैसे ही 'आँसू' से एक वेदना-धारा उमड़ पड़ी। प्रसादजी के बौद्ध तथा आर्य संस्कृति के समन्वय को लोग भूल गये। प्रसादजी की करुणा करुण-रस नहीं है, उनके नाटकों में प्रेम के सन्देश के साथ संघर्ष भी है।

प्रसादजी से मिलती जुलती पन्तजी की विश्वबन्धुत्व की भावना है। वे सदा से विश्वमैत्री से पूर्ण एक सुन्दर संसार की कल्पना करते रहे हैं। उन के प्रगतिवाद से भी उनके काल्पनिक संसार के सौन्दर्य में कमी नहीं हुई। निरालाजी अद्वैतवादी हैं और साथ ही पन्त और प्रसाद से बढ़कर व्यक्ति अथवा व्यक्तित्ववादी। व्यक्तिवाद पन्त और प्रसाद में भी है, परन्तु उस व्यक्तिवाद में सबल व्यक्तित्व ने कहीं जगह नहीं पायी। निरालाजी का अद्वैतवाद चाहे जितना विशद हो, उसमें उनका व्यक्तित्व अथवा अहं नहीं खो सकता। बहुत पहले 'मतवाला' में उन्होंने लिखा था—

मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जी भरसक झकझोर

और 'परिमल' की एक कविता में उनका अद्वैत अहम्‌का ही एक विकसित-रूप जान पड़ता है—

तुम हो महान् , तुम सदा हो महान्,

है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज-भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार।

निरालाजी के इसी अहं का चित्रण हमें 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' में भी मिलता है। 'तुलसीदास' का मानसिक संघर्ष और उनके विद्रोही प्राण जो 'ज्ञानोद्धत प्रहार' करते हैं, गोस्वामी तुलसीदास के नहीं हैं; तुलसीदास और राम दोनों ही कवि निराला के दो रूप हैं। ऐसा उद्धत व्यक्तित्व मुझे अन्य किसी साहित्य के व्यक्तिवादी अथवा रोमाण्टिक कवि में देखने को नहीं मिला। परन्तु यह व्यक्तित्व एक व्यक्तिवादी का है, और उद्धत है, इसीलिए उसके साथ उसकी छाया की भाँति विषाद भी है।

जिन कवियों में यह व्यक्तित्व नष्टप्राय है, उनकी कविता में केवल विषाद है। हिन्दी के अनेक कवियों ने आत्मघात पर बड़ी सुन्दर रचनाएँ की हैं। जैसे—

अपने पर मैं ही रोता हूँ,
मैं अपनी चिता सँजोता हूँ,
जल जाऊँगा अपने कर से रख अपने ऊपर अंगारे!

कवि भी मनुष्य है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः समाज को उसके इस कृत्य पर बहुत प्रसन्नता नहीं हो सकती। यह छायावाद का अति विकृत रूप है, जब व्यक्तिवादी कवि परिस्थितियों से हारकर अपने व्यक्तित्व को ही नष्ट कर लेना चाहता है।

हिन्दी में प्रगतिशीलता का आन्दोलन नया है। प्रगतिशील कवियों में बहुत से वेदनावादी और छायावादी भी भर्ती हो गये हैं। पुराना अभ्यास देर से छूटता है, वर्दी बदलने से सिपाही थोड़े ही बदल जाता है! कुछ लोगों की मानव सम्बन्धी करुण कविता छाया-

वादी वेदना का रूपान्तर है। छायावाद के आलम्बन और स्थायी-सञ्चारी भाव आदि प्रगतिशील कविता में भी मिलेंगे। इसका एक अति सुन्दर उदाहरण एक प्रगतिशील कहानी में देखने को मिला था। कहानी में हँसिया-हथौड़े का उल्लेख था, परन्तु हथौड़े को चिरन्तन पुरुष कहा गया था और हँसिया को प्रकृति। पन्तजी ने कार्ल मार्क्स पर भी कविता लिखी है और गाँधीजी पर भी। मूलतः दोनों में कोई अन्तर नहीं। मार्क्स गाँधीवादी है और गांधीजी मार्क्सवादी, और दोनों ही छायावादी हैं।

अभी छायावादी युग का अन्त नहीं हुआ; नवीन कवियों के दृष्टिकोण में पूरा परिवर्तन नहीं हुआ। उनकी सबसे बड़ी निर्बलता यह है कि उनकी भावनाओं का आधार पुस्तकें हैं, जनता नहीं है। उनके भीतर अत्यधिक तटस्थता है; प्रेमचन्द की भाँति उन्होंने अपने आपको जनता के बीच नहीं पाया। पन्तजी ने इस बात को 'ग्राम्या' में स्वीकार किया है। 'ग्राम्या' की रचनाओं के लिए उन्होंने कहा है—"इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम-जीवन में मिल कर उसके भीतर से ये अवश्य नहीं लिखी गयी हैं।" ऐसी स्पष्टता अन्य कवियों में कम देखने को मिलती है, परन्तु पन्तजी ने बौद्धिक सहानुभूति का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है—"ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।" यदि गाँववालों में घुलने-मिलने का अर्थ उनके कुसंस्कारों तथा अंधविश्वास को अपनाना है तो कविता अवश्य प्रतिक्रियात्मक होगी, परन्तु यदि घुलने मिलने का अर्थ उनकी वास्तविक दशा का ज्ञान करना है तो कविता का प्रतिक्रियात्मक होना आवश्यक नहीं। 'ग्राम्या' की एक कविता में पन्तजी ने यह भी लिखा है:—

"देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से।"

पन्तजी के सुन्दर नेत्रों को ग्रामीण मान लेने से इस कविता को प्रतिक्रियात्मक मानना पड़ेगा। कुछ लोग इस प्रगतिशील आन्दोलन से निराश हो गये हैं और समझते हैं कि शेली और रवीन्द्रनाथ वाली कविता का तो अन्त होगया है। इस मशीन-युग में कविता के लिए ठौर कहाँ ? परन्तु अभी हमारे यहाँ मशीन-युग पूरी तरह आया कहाँ है ? अभी भारतवर्ष में नये उद्योग-धंधों का पूरा बोलबाला नहीं हुआ। इन हताश कविता-प्रेमियों को आशा रखनी चाहिए कि आगे अभी बहुत-सी निराशावादी कविता होगी, क्योंकि मशीन युग की बर्बरता का पूर्ण विकास होने पर अनेक कवि अपने लिए कहीं काल्पनिक स्वर्ग बनायेंगे और वे छायावादी कविता को चिरजीवी नहीं तो पुनर्जीवी अवश्य करेंगे। परन्तु जिन्हें देश और साहित्य से प्रेम है, वे इस नयी बर्बरता की ललकार को स्वीकार करेंगे और उससे युद्ध करके विजयी होंगे।

आजके हिन्दी कवि के लिए विकास-पथ खुला हुआ है। छायावादी कवियों ने भाषा का व्यञ्जना-शक्ति का विस्तार किया है, उन्होंने छन्दों में नये परिवर्तन किये हैं और अपनी कविता में नये-नये ढङ्ग की गति को जन्म दिया है। नये कवि के लिए पुरानी परम्परा में सीखने को बहुत कुछ है। उसके सामने ऐसे आदर्श हैं, जिनसे वह सीख सकता है, जनता के लिए किस प्रकार का साहित्य लिखना चाहिए। पुस्तकों की विद्या की उसे कमी नहीं। उसमें केवल लगन और सच्चाई होनी चाहिए। जनता से सची सहानुभूति ही नहीं, जनता का निकट से ज्ञान भी होना चाहिए। भारतेन्दु से लेकर आज तक की हिन्दी कविता का विकास अति तीव्र गति से होता रहा है। साहित्य के एक विशद प्रवाह में काव्य-धाराओं की गति एक-सी अथवा एक ही ओर को नहीं रही। परन्तु उस विशद प्रवाह की दिशा स्पष्ट है। पुरानी तथा नयी, दोनों ही परम्पराओं के कवियों में दोष रहे हैं, परन्तु उनसे

साहित्य को जो लाभ हुआ है, उसके सामने हानि नगण्य है। नवसन्तति के कवि तब तक हिन्दी कविता को नवीन प्रगति न दे सकेंगे, जबतक उन्हें अपने पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य का, अपनी परम्परा का ज्ञान न होगा। अपने पूर्ववर्ती कवियों से हम जितनी बातें ले सकें, लेनी चाहिए; उन बातों में जब हम अपनी नयी बातें जोड़ेंगे, तभी ठीक-ठीक काव्य-साहित्य का विकास सम्भव होगा।

(दिसम्बर '४०)

छायावाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

छायावाद शब्द की अनेक व्याख्याएँ हो चुकी हैं और छायावाद कविता को परखने के लिये आलोचना के अनेक मापदंड बनाये जा चुके हैं, परन्तु 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहै' की तरह हिन्दी के विद्यार्थी-मृग को निकलने की राह अब भी नहीं मिली।

छायावाद के जन्म काल में आचार्यों ने उसे बँगला और अंग्रेजी की जूठन कहकर उसकी व्याख्या करने के कष्ट से बचना चाहा। फिर शैली-विशेष कहकर उसे टाल दिया। कुछ समर्थकों ने उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा और कुछ ने शिशु-कवि के लिये उसे माँ की गोद बताया। लेकिन छायावादी साहित्य व्याख्याओं की परवाह न करता हुआ फलता-फूलता रहा और हिन्दी के एक सम्पूर्ण युग पर अपनी अमिट छाप डालकर उसने हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि भी की।

छायावाद के मुख्य स्तम्भ प्रसाद, पंत और निराला रहे हैं; आगे चलकर श्रीमती महादेवी वर्मा उस धारा को पुष्ट करनेवालों में सब से आगे रहीं। हमें अपनी व्याख्याओं की चिन्ता न करके इन कवियों के समूचे साहित्य का अध्ययन करना चाहिये और साहित्य के ऐतिहासिक क्रम-विकास को ध्यान में रखते हुए उसकी विशेषताओं को परखना चाहिये। हमें यह भी देखना है कि छायावादी कविता हिन्दी ही के लिये कोई अनोखी चीज़ है या उस तरह की धारा दूसरी भाषाओं में भी बही है।

छायावाद के प्राथमिक विरोधियों ने बहुत छिछले ढंग से इस समता को देखा था। अंग्रेज़ी की रोमांटिक कविता और बँगला में

रवि बाबू के गीतों से उन्होंने नयी हिन्दी कविता की तुलना की और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उसमें मौलिकता नाम को नहीं है; वह भारतवर्ष की पवित्र भूमि के लिये एक विदेशी पौधा है, जो यहाँ पनप नहीं सकता। यदि वह विदेशी होता, तो विरोध की आंधियों में कभी का निर्मूल हो कर शून्य में विलीन हो गया होता। परन्तु वह कोई ऐसा अनुपम और अद्वितीय देशज भी नहीं है, जो भारतवर्ष की धरती में ही पनपा हो और उसे देखते हुए विदेशी भूमि बञ्जर ही लगती हो।

रवि बाबू को किसी ज़माने में बंगाल का शेली कहा जाता था और निरालाजी को हिन्दी का रवीन्द्रनाथ तो नहीं परन्तु यथेष्ट अनादर के साथ उनका अनुवर्ती अवश्य कहा जाता था। शेली, ठाकुर और निराला के युगों की परिस्थितियों में एक बात समान रूप से विद्यमान है, और वह है पूँजीवाद का प्रारंभिक विकास। तीनों युगों में ही यांत्रिक पूँजीवाद से उत्पन्न होनेवाली विषम परिस्थितियों के प्रति घोर असन्तोष है; इसके साथ ही पूँजीवाद ने जो पुरानी वर्ग-शृङ्खलाओं को झकझोर कर आत्मविश्वासी पथिकों के लिये नये संगठन और नयी प्रगति का मार्ग निश्चित किया, उसकी चेतना भी इन कवियों में विद्यमान है। सामाजिक पृष्ठभूमि में समानता है, तो समाज को प्रतिबिंबित करनेवाले साहित्य में भी समानता होनी अनिवार्य है।

मध्यकालीन शृङ्खलाओं के टूटने से मनुष्य को जो नयी स्वाधीनता मिली, उसका एक रूप व्यक्तित्व की साधना, मानव के निर्द्वंद 'अहम्' की प्रतिष्ठा, उसकी निरपेक्ष स्वाधीनता की कल्पना है। यही व्यक्तित्व, 'अहम्' अथवा निरपेक्ष स्वाधीनता उसके साहित्य का उद्‌गम है। नया कवि अपने अन्तः को अपनी काव्य-सरिता की गंगोत्री मानता है। दरबारी कवि ने 'जयै साह के हुकुम' से प्रेरणा पाई थी; भक्त ने इष्ट के 'तरुण अरुण बारिज नयनों' से। परन्तु छायावादी

युग में यह परंपरा टूट गई। कवि अब भक्त नहीं है, न वह किसी नराधीश का चाटुकार। अपनी कविता का स्रोत वह स्वयं है, अथवा किसी रहस्यमयी शक्ति की व्यञ्जना का माध्यम बनकर स्रोत को वह अलौकिक बना देता है। इसीलिये 'आपनाते आपनि विकशि'—यह उक्ति रवीन्द्रनाथ की ही नहीं, सभी रोमांटिक और छायावादी कवियों की प्रतिभा-उर्वशी पर चरितार्थ होती है। निरालाजी ने 'पंत और पल्लव' में 'अपने' शब्द के प्रयोग की ओर इंगित किया है, परन्तु वह पन्तजी या रवि बाबू की विशेषता न होकर सभी रोमांटिक कवियों की सामान्य पूँजी है। स्वयं निरालाजी की कृतियों में—

दूर थी,
खिंचकर समीप ज्यों मैं हुई
अपनी ही दृष्टि में; (प्रेयसी)
अंधकार था हृदय
अपने ही भार से झुका हुआ, विपर्यस्त। (उप०)
देखता मैं प्रकृति चित्र—
अपनी ही भावना की छायाएँ चिर-पोषित। (रेखा)

यह 'स्व' की चर्चा हमें रहस्यवाद की ओर लाती है। छायावाद में रहस्यवाद कितना है, और जितना है, वह असली है कि नकली; छायावादी कवियों को ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है, साक्षात्कार की उन्हें उत्कंठा भी है या नहीं,—इस पर काफी विवाद हो चुका है। बहुमत संभवतः इसी पक्ष में है कि न तो साक्षात्कार हुआ है, न है उसकी उत्कंठा। यही बात और देशों के छायावादी अथवा रोमांटिक कवियों पर भी लागू होती है। आंशिक रूप से रहस्यवाद उन सभी में मिलता है; और इसका भी कारण होना चाहिये।

यहाँ पर रहस्यवाद के प्राचीन रूपों की चर्चा न करके रोमांटिक कविता के रहस्यवाद के दो पहलुओं पर ध्यान देना काफी होगा।

एक तो वह रूप, जिसमें वह अहम् का ही असीम विस्तार है—'पदरज भर भी है नहीं पूरा यह विश्वभार' अर्थात् नये युग में 'रज' की निरपेक्षता चरम सीमा को पहुँच गयी है। दूसरा रूप वह है जब 'रज' परास्त होकर रहस्य की कल्पना में पलायन का बहाना ढूँढ़ती है। एक में विस्तार और अतिरंजित स्वाधीनता है, तो दूसरे में पराजय का अथाह सागर और आत्मघात। पूँजीवाद से इन दोनों ही रूपों का घनिष्ठ संबंध है। सामन्तवादी युग की शृङ्खलाएँ छिन्न होने से जहाँ मुक्ति की अतिशयता का भान होता है, वहाँ नये बन्धनों के दृढ़ होने पर यही अतिशयता पराजय और पलायन की भावना में भी बदल जाती है। पूँजीवाद के आरंभ काल में नयी आशाओं से आन्दोलित कवि-हृदय में पहला रूप जाग्रत होता है: पराजयवादी रहस्यवादी रूप बहुधा आगे का होता है। छायावादी कविता में विद्रोह और पलायन, ओज और करुणा, संसार को चुनौती और दीनतापूर्ण आत्मनिवेदन—इन विरोधी भावों का कारण पूँजीवादी युग की असंगतियाँ हैं, जो स्वाधीनता की भावना को जगाती हैं परन्तु उन्हें पूर्ण नहीं कर सकतीं।

यह पलायन अनेक रूपों में प्रकट होता है। कवि ऐसे युग की कल्पना करता है जब संसार में सुख ही सुख था। प्रथम, आदिम जैसे शब्दों की भरमार का यही कारण है; जो सृष्टि के आरंभ में था, वह निष्कलुष और सुन्दर था। 'आदिम बसंत प्राते' के अतिरिक्त मध्यकाल का ऐश्वर्यमय जीवन बड़ा भला लगता है। सामंतशाही के बन्धन भूल जाते हैं, जिनके टूटने से कवि ने ये स्वप्न देखना सीखा है। मध्यकाल न सही तो और कोई युग कवि के लिये न्यूनाधिक रूप में आदर्श बन जाता है। पुरातन युगों के चिंतन में सदा पलायन का ही भाव नहीं रहता; कवि अपनी संस्कृति की प्रगतिशील परंपरा की रक्षा भी करता है। प्रसादजी ने बुद्धकालीन भारत की सांस्कृतिक

देन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। निरालाजी ने अद्वैत मत को अपने चिंतन का आधार बनाया है, परन्तु शंकराचार्य और उनके समर्थकों के साथ प्रतिक्रिया का जो भी अंश रहा है, निरालाजी उसकी ओर सतर्क रहे हैं। 'संस्कृत के द्वारा उन्होंने दिग्विजय ही किया है, अपने मत की प्रतिष्ठामात्र की है, जाति की जीवनीशक्ति का वर्द्धन नहीं।' इतिहास के प्रति जितना सतर्क और जागरूक दृष्टिकोण निरालाजी का है, उतना और किसी कवि का नहीं है। 'प्रभावती' उपन्यास में उन्होंने बार-बार मध्यकालीन सरदारों द्वारा जनता के शोषण का उल्लेख किया है और उसे पराजय का कारण बताया है। यह दृष्टि एक युग आगे की है; छायावाद की मोहाविष्ट कल्पना नहीं है।

विद्रोह और पलायन की असंगति छायावाद के अन्य अंगों में भी मिलेगी। प्रकृति-वर्णन में छायावादी कवि मध्यकालीन कवि-कल्पना की परिधि से बाहर आकर प्रकृति से निकट संपर्क स्थापित करता है। वह प्रकृति को मानवीय संदर्भ में देखता है और मानव-जीवन से उसका नया सम्बन्ध स्थापित करता है। दूसरी ओर वह प्रकृति को रहस्यमयी भी बना देता है, जिससे वह अरूप होकर अपना अस्तित्व ही मिटा देती है; उस अरूप के बाहर और कुछ नहीं रह जाता। जीवन-संघर्ष से पलायन करके वह प्रकृति की गोद में सुख की नींद सोना चाहता है। पूँजीवादी युग में विज्ञान का दुरुपयोग देखकर वह उसके सदुपयोग के प्रति भी उदासीन हो जाता है और प्रकृति को ही मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एकमात्र ज्ञानाम्बुधि मान लेता है। कुछ ऐसी ही बात नारी के सम्बन्ध में भी होती है। छायावादी कवि स्त्री-स्वाधीनता का समर्थक होता है, मध्यकालीन दासता का वह विरोध करता है। वह दो हृदयों के मिलन और विछोह के गीत गाता है, नारी को विलास-व्यापार की पूँजी मात्र

नहीं समझता। परंतु पूँजीवादी समाज में नारी पूँजी की वस्तु बनी ही रहती है। उसके व्यक्तित्व के विकास पर पूँजी को पूजनेवाले समाज के कड़े बन्धन रहते हैं। विवाह का आधार प्रेम नहीं होता, वरन पूँजी का आदान-प्रदान होता है। इधर कवि नारी की अप्सरा रूप में कल्पना करता है; उसकी उपासना के गीत गाता है; भाव और छंदों के अर्घ्य चढ़ाता है। परंतु यह न भूलना चाहिये कि वही विधवा और पत्थर तोड़नेवाली मजदूरिन के प्रति भी समवेदना से द्रवित हो उठता है। वह सामाजिक रूढ़ियों का प्रेमी नहीं है; उनका विरोध करता है, उनसे बचकर अपनी आशाओं की पूर्ति के लिये एक स्वर्ग भी रच लेता है।

भाव-क्षेत्र के इस ऊहापोह की छाया हम व्यंजना के माध्यम में भी देख सकते हैं। रीतिकाल के इने-गिने छन्दों की राह छोड़कर नया कवि बहु गीत-रूपों की प्रशस्त भूमि पर आगे आता है। आत्मनिवेदन के लिये वह सुकोमल पदोंवाले गीतों को अपनाता है। उदात्त भावनाओं की व्यंजना के लिये छन्दों के नये-नये समन्वय प्रस्तुत करता है। मुक्त छन्द में वह नयी गति, नयी लय, नये प्रवाह का परिचय देता है, परन्तु यह स्वाधीनता कभी-कभी निरंकुश स्वच्छंदता में बदल जाती है। नये प्रतीकों का प्रयोग दुरूहता का रूप ले लेता है। व्यक्तित्व की व्यंजना साधारण पाठकों के प्रति अवज्ञा का रूप धारण कर लेती है। रोमांटिक कविता के पतनकाल में "स्यूर-रिअलिस्ट" (Sur-realist) (परोक्षवादी) कविता की यह गति होती है।

अस्तु, हिन्दी की छायावादी कविता की व्याख्या करने के लिये 'छाया' से लड़ना आवश्यक नहीं है। "छायावादी कविता स्थूल के प्रति विद्रोह है और जो कवि इस शाश्वत सत्य को चरितार्थ नहीं करता, वह कवि नहीं है"—इस तरह की व्याख्याओं का आधार

छायावादी कविता नहीं, आलोचक की कल्पना है। इसी प्रकार उसे पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी कहकर लांछित करना सरासर अन्याय है। उसमें पराजय और पलायन की भावनाएँ हैं, तो विद्रोह, विजय, मानवमात्र के प्रति सहानुभूति के स्वर भी हैं। उसकी विशेषताएँ न्यूनाधिक वही हैं जो अन्य भाषाओं की रोमांटिक कविता की हैं। रहस्यवाद, प्रकृति-पूजा, नारी की नवीन प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक जागरण, नये छंद, नये प्रतीक आदि गुण या दोष बनकर अन्य साहित्यों में भी प्रतिष्ठित हैं। उनकी व्याख्या को जैसा-का-तैसा ही उठाकर अपने साहित्य पर लागू करना भ्रामक होगा। छायावादी कविता का एकांगी अध्ययन छोड़कर उसका सर्वांगीण अध्ययन करें और उसी के बल पर उसकी विशेषताओं को परखें, तो वे देशकाल की परिस्थितियों के अनुकूल थोड़े हेर-फेर से, अन्य देशों की रोमांटिक कविता की विशेषताओं से बहुत भिन्न न होंगी।

(१९४३)

हिन्दी काव्य में व्यक्तिवाद और अतृप्त-वासना

रोमांटिक कविता की मूल-धारा व्यक्तिवाद की ओर झुकी होती है। कवि अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान देता है, समाज की आवश्यकताओं की ओर कम। व्यक्ति और समाज के संघर्ष से रोमांटिक कविता का जन्म होता है। समाज की रूढ़ियों से अपना मेल न कर सकने के कारण कवि कभी अपना स्वप्न-लोक बसाता है, कभी प्रकृति की गोद में शरण लेता है, कभी भविष्य के एक सुनहरे संसार के गीत गाता है। परन्तु रोमांटिक कवि सामाजिक परिस्थितियों से विद्रोह करके उन्हें बदलने का भी प्रयत्न करता है। रोमांटिक कविता की यही सार्थकता है; अपने विद्रोह में वह अपना लक्ष्य व्यक्ति से हटा कर समाज की ओर ले जाती है। फिर भी रोमांटिक कविता में प्रधानता व्यक्तिवाद की होती है; समाज के प्रति विद्रोह में, और एक नये संसार की कल्पना में, अपनी व्यक्तिगत आकांक्षा की पूर्ति अधिक होती है, समाज की हितकामना कम। शेली का 'प्रोमीथ्यूस अनबाउंड' इसी प्रकार की एक व्यक्तिवादी कल्पना है।

आधुनिक हिन्दी कविता में भी, जिसके सर्वश्री प्रसाद, निराला, पंत तथा श्रीमती महादेवी वर्मा प्रतिनिधि हैं, व्यक्तिवाद की भावना काम करती रही है, परन्तु सभी कवियों में वह एक समान नहीं है। सामाजिक हितकामना की दृष्टि से उसके एक छोर पर प्रसादजी हैं तो दूसरे छोर पर श्रीमती वर्मा। व्यक्तिवाद को उकसाने वाली शक्ति अतृप्त-वासना है। वासना की तृप्ति के लिए तरसता हुआ व्यक्ति पहले अपनी ही दाढ़ी की आग बुझाना चाहता है; समाज का हित उसके सामने मुख्य नहीं रहता। अंतर्द्वंद के कारण वह अपनी शक्तियों

को साधकर उन्हें एक सामाजिक लक्ष्य की ओर नहीं लगा सकता। अपनी वासना की तृप्ति में बाधाएँ देखकर वह बहुधा समाज से विद्रोह करता है परन्तु वह ऐसा वीर होता है कि समाज को ध्वस्त करने की प्रतिज्ञा के साथ आत्मघात की धमकी भी देता जाता है।

'अतृप्त-वासना' कहते ही यह ध्यान होता है, क्या वासना कभी तृप्त भी हो सकती है? और जब तृप्त नहीं हो सकती तब सारी कविता क्या अतृप्त-वासना के ही कारण नहीं है? अतृप्ति और साधना में अन्तर है, उतना ही जितना विजय और पराजय में। वासना को वश में करके साधना द्वारा विजय पाना और बात है; वासना की तृप्ति के साधन न पाकर लार बहाना और बात। दोनों का ही अन्त बहुधा एक अखंड अनन्त जीवन की कल्पना में होता है परन्तु विजयी वह है जो जीवित रहकर एक महत्तम शक्ति से आत्मीयता का अनुभव करता है; 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु-प्रसादान्महिमानमात्मनः।' पराजित वह है जो जीवन से निराश होकर, मृत-तुल्य होकर, एक अनन्त जीवन में अपने आपको खो देना चाहता है। निराश कवि, शक्ति के ह्रास से जर्जर, अनन्त मृत्यु को अनन्त जीवन समझता है और उसे यह समझाना कठिन होता है कि उसके अनन्त जीवन की कल्पना में व्यक्तिवाद ही प्रधान है।

रोमांटिक कविता के साथ लगा हुआ रहस्यवाद वीतशोक ज्ञान का परिणाम नहीं है। निराशा, वेदना, मृत्यु-कामना का संसर्ग अधिक दिखाई देता है, जीवन का कम। निर्झर के स्वप्न-भंग में अध्यात्म-चिंतन से अधिक वासना की उथल-पुथल है:—

'उथलि जखन उठे छे वासना,
जगते तखन किसेर डर!'

इसीलिए निर्झर की रहस्यवादी क्रियाओं के साथ विवशा गोधूलि की कल्पना वर्तमान है जिसकी पूर्व में वेणी खुल गई है और पश्चिम

में सुनहरा आँचल खिसक गया है। इसीलिए लाज से विह्वल कुसुम-रमणी का क्रन्दन है। प्रकृति में प्रेयसी की कल्पना और काल्पनिक नारी-सौंदर्य के चित्र इसी अतृप्त-वासना का परिणाम हैं।

प्रसादजी में अतृप्ति और व्यक्तिवाद की भावनाएँ कम हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रसादजी के काव्य-ग्रन्थों में 'कामायनी' एक महाकाव्य है, 'लहर' फुटकर कविताओं का एक छोटा सा संग्रह है और 'आँसू' जिसने उन्हें वास्तव में कवि रूप में प्रसिद्ध किया, अलंकारों से इतना लदा है कि 'वेदना' की दम निकल गई है। 'आँसू' की प्रसिद्धि का कारण परवर्ती कवियों का वेदना-प्रेम है। प्रसादजी ने उस पुस्तक में व्यंजना को आलंकारिक बनाने की इतनी चेष्टा की है कि भावना की भुठाई अपने आप प्रकट हो जाती है। अपनी प्रतिभा और जीवन को उन्होंने नाटक लिखने में अधिक लगाया। यद्यपि उनके नाटक ऐतिहासिक हैं, तो भी उनकी कथावस्तु में व्यक्तिवाद अथवा अतृप्त-वासना की प्रधानता नहीं है। उन्होंने संघर्ष के युग चुने हैं और इस संघर्ष में त्याग और शौर्य के बल पर उन्होंने मनुष्य को विजयी होता दिखाया है। ऐसी ही कथा-वस्तु बहुत कुछ 'कामायनी' की भी है। प्रसादजी यौवन और सौन्दर्य के कवि हैं; उनमें वासना है परन्तु उसका अन्त निराशा में कम होता है। उनमें जीवन की कामना है, मरण की नहीं। अतृप्त वासना के साथ तो मृत्यु-कामना आप ही चल पड़ती है।

निरालाजी के अद्वैतवाद में व्यक्तित्व की प्रधानता है। वह अपने व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहते हैं। अन्य रहस्यवादी अपने को अद्वैत में लय कर देते हैं, निरालाजी अद्वैत को ही अपने में लय कर लेना चाहते हैं। 'केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं, केवल ज्ञान।' व्यक्ति और समाज का संघर्ष निरालाजी की रचनाओं को प्रेरणा देता है। समाज का पुनःसंगठन भी उनका ध्येय है परन्तु उस

संगठन में व्यक्ति की ही प्रधानता है। 'बादल राग' नाम की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। दूसरे नम्बर की कविता में उन्होंने बादल की उच्छृङ्खलता, अबाध गति, उन्माद आदि पर जोर दिया है; उनका बादल आतंकवादी है। छठी कविता में भी बादल का वही आतंकवादी रूप है परन्तु यहाँ वह कली का निष्ठुर पीड़क मात्र नहीं है; उसका सम्बन्ध धनी और निर्धनों से भी है।

'रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अङ्गना अंग से लिपटे भी
आतङ्क-अङ्क पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल!
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!'

बादल का ध्येय जितना विप्लव है, उतना क्रांति नहीं। कृषक स्वयं विप्लव में भाग नहीं लेते—उनका विप्लव एक अकेले वीर का है, वही वीर जो 'तुलसीदास' है, 'राम की शक्ति-पूजा' में 'राम' है तथा अब विपरीत 'विकास' द्वारा 'कुकुरमुत्ता' में सब कुछ है।

जब से प्रगतिशीलता का आन्दोलन चला है, 'बादल-राग' की वह छठी कविता निरालाजी को विशेष प्रिय हो गई है। कवि सम्मेलनों, गोष्ठियों आदि में वह उसे अनेक बार पढ़ चुके हैं। बातचीत में भी वह कभी अपनी कविताओं में समाजवाद सिद्ध करते हैं, कभी छायावाद के समर्थन में कहते हैं, यदि अनन्त न होगा तो तुम अपनी रोटी रक्खोगे कहाँ! इसी से निरालाजी का मानसिक-द्वन्द्व समझा जा सकता है। वह दोनों ही लक्ष्यों की ओर झोंका खाते हैं परन्तु उन्हें शांति किसी ओर नहीं मिलती। अपने इस द्वन्द्व से ही वह अपनी

शक्ति का परिचय देते हैं और इसीलिए उनकी कविता में छाया-प्रकाश की जैसी चित्रकारी है, वैसी अन्यत्र कम मिलती है। फिर भी शांति तो नहीं मिलती और न उन दो लक्ष्यों के बीच मिलनी चाहिये। अकेला विप्लवी वीर चाहे वह अद्वैत को ही अपने भीतर क्यों न समेट ले, सामाजिक व्यवस्था में गहरे परिवर्तन नहीं कर सकता। दूसरी ओर व्यक्तिवाद का अन्त जिस निराशा और मृत्यु में होता है, उससे शांति न मिलना ही अच्छा है।

निरालाजी साहित्यिक शाक्त हैं, इसलिए निराशा और वेदना के उनके स्वर सच्चे नहीं लगते। आँसुओं का संदेश—

'हमें दुःख से मुक्ति मिलेगी,—हम इतने दुर्बल हैं—
तुम कर दो एक प्रहार!'

अथवा 'विफल-वासना'—

'गूँथे तप्त अश्रुओं के मैंने कितने ही हार
बैठी हुई पुरातन स्मृति की मलिन गोद पर प्रियतम!'

ऐसी कविताओं में निरालाजी की अलंकार-प्रियता उभर आयी है। भावना में स्वाभाविकता नहीं रही। परन्तु ऐसी कविताओं की संख्या नगण्य नहीं है; उनकी ओर लोगों का ध्यान कम इसीलिए गया है कि उनमें कविता की सचाई कम है और वेदना और रुदन में श्रीमती वर्मा ने निरालाजी को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

पन्तजी अपनी पहली कविताओं में स्त्री बनकर बोलते हैं—इसका उल्लेख निरालाजी ने भी किया है। निरालाजी स्वयं भी इस स्त्रैण-भावना से एकदम बरी नहीं हैं। 'तुम और मैं' के बादवाली कविता में वह कहते हैं:—

'तृष्णा मुझमें ऐसे ही आई थी,
सूखा था जब कण्ठ बढ़ी थी मैं भी,

बार-बार छाया में धोखा खाया,
पर हरने पर प्यास पड़ी थी मैं भी !'

इस कविता की नायिका बिना पानी पिये ही अपनी प्यास बुझा लेती है। बाग में एक तालाब के पास पहुँचती है परन्तु 'खजोहरा' की प्रगतिशील बुआ की भाँति पानी में पैठती नहीं है, वह छाया में सो जाती है और सोने से ही प्यास दूर हो जाती है। सम्भव है नहाने से भी दिमाग़ कुछ ठण्डा हो जाता और यह झूठी प्यास न रहती। अतृप्त-वासना के कवि की वासना बहुधा झूठी ही होती है; वह जीवन से इसलिए निराश नहीं होता कि उसे वासना-तृप्ति के साधन नहीं मिलते वरन् इसलिए कि साधन होने पर भी तृप्ति मिलना कठिन होता है।

पन्तजी छायावाद के प्रतिनिधि कवि रहे हैं परन्तु उनकी समस्या औरों-जैसी सरल नहीं है। पहली कविताओं में वह बालिका बनकर आते हैं और आगे के गीतों में, बालक बनने पर भी, मधुप-कुमारी से ही गीत सीखना चाहते हैं। 'छाया' कविता में वह अपने को उसी जैसी अभागिन बताते हैं परन्तु रात में छाया तो तरुवर के गले लगती है, कवि बेचारी वैसी ही रह जाती है !

'और हाय ! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि-दिन बन-बन !'

यह भी अतृप्त-वासना है परन्तु दूसरे ढंग की।

पन्तजी जन-सम्पर्क से सदा दूर रहे हैं, आज भी हैं। उनकी सौन्दर्य-साधना ऐसी सलज्ज है कि सूर्य के प्रकाश में वह मुरझा जाती है। जग 'अति दुख' से तो पीड़ित है परन्तु 'अति-सुख' से कहाँ पीड़ित है; सुख-दुख का उनका बँटवारा बहुत कुछ हलुआ के साथ चटनी खाने की भाँति है जिससे हलुआ उबिठ न जाये। सौन्दर्य की कल्पना में आशा होती है; पन्तजी निराशा के कवि नहीं हैं। संसार जहाँ

और कवियों को रुदन और आत्मघात की ओर ले जाता है, पन्तजी को वह एक और सुन्दर संसार रचने की प्रेरणा देता है। पन्तजी का व्यक्तिवाद पलायनशील है; वह उन्हें कल्पनालोक में ले जाता है और इस कल्पनालोक का सबसे अच्छा चित्रण ज्योत्स्ना में हुआ है। पंतजी में विश्व-बन्धुत्व और मानव-मात्र के कल्याण आदि के भावों की कमी नहीं है परन्तु जो नया संसार पन्तजी बसाना चाहते हैं, वह मानवमात्र का न होकर उनका अपना है, जिसकी सुन्दरता में उन्हें वही कोमलता मिलेगी जो बालिकारूप धरके प्रकृति में उन्होंने देखी थी। प्रकृति में बालिका जिस भोले सौंदर्य को देखती थी, उसी की चाह उन्हें आज भी है। उनकी मनःस्थिति ऐसी है कि सुन्दरता को खोजने के अतिरिक्त वह और कुछ कर ही नहीं सकते। उनका इधर का गीत 'बजी पायल छुंम' बताता है, कौन-सी कल्पना उनके प्राणों में अधिक बजती है।

प्रकृति में मधुर सौन्दर्य की यह खोज बताती है कि पन्तजी की कवि-दृष्टि 'पल्लव' के समय की ही है। 'ग्राम्या' का कवि गाँवों को देखता भर है, क्या उसे प्रिय और सुन्दर लगता है और क्या अप्रिय और असुन्दर ! संघर्ष में पैठ न सकने का मूल कारण पन्तजी का व्यक्तिवाद है; व्यक्तिवाद बौद्धिक नहीं, वह उनकी सौन्दर्य-कामी कवि-चेतना का फल है।

'साँझ,—नदी का सूना तट,
मिलता है नहीं किनारा,
खोज रहा एकाकी जीवन
साथी, स्नेह सहारा !'

(रेखाचित्र-ग्राम्या)

नक्षत्र के बहाने पन्तजी ने अपनी ही बात कही है। और भी—

'वहीं कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ !
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ।

प्रकृति नीड़ में व्योम-खगों के गाने गाऊँ।
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ!'

इसलिए 'ग्राम्या' पढ़ने पर भी यही कहना पड़ता है कि पन्तजी में अब भी पलायन-प्रिय व्यक्तिवाद का कवि मिटा नहीं है; उन्हें अब भी अपने आश्रय के लिए नीड़ चाहिये, चाहे वह पेड़ की डाली पर हो चाहे नव-संस्कृति से सारा विश्व ही एक नीड़ बन जाय।

श्रीमती महादेवी वर्मा वेदना और रुदन की अनुपम कवयित्री हैं और उनकी वेदना में 'व्यक्ति' प्रधान है। व्यक्ति का क्रन्दन भुलाकर उन्होंने गीत में विश्व को अवश्य याद किया है।

'विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुन-गुन।'

खेद है कि प्रियतम और पीड़ा के खेल में विश्व का क्रन्दन डूब ही गया है। यह ठीक है कि प्रियतम विश्व में व्याप्त हैं परन्तु इस विश्व का सम्बन्ध क्रन्दन से नहीं है; प्रियतम तो कलियों में मुसकाते आते हैं और सौरभ बनकर उड़ जाते हैं। श्रीमती वर्मा की साधारण मनोदशा वह है जिसमें प्रियतम से अधिक पीड़ा का महत्त्व हो जाता है, जैसे कोई रोगी अपनी टीस से प्रेम करने लगे और उपचार से दूर भागे। इस पीड़ा के मूल में अतृप्त-आकांक्षा अन्य कवियों के समान ही वर्तमान है।

'तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में!'

अन्य कवियों से भिन्नता इस बात में है कि श्रीमती वर्मा अतृप्ति में ही सुखी हैं, वह उसी को तृप्ति मानती हैं।

छायावाद के प्रधान कवियों के उपरांत नवीन गीतकारों में अतृप्त-वासना छायामात्र न रह कर एक स्थूल व्यंजना पा गई है। नरेन्द्रजी की रचनाओं में जीवन से ऊब, जीवन में आनन्द करनेवालों के प्रति

ईर्ष्या आदि के भाव स्पष्ट हैं। 'फागुन की रात' में 'गजनेरी साँड़' का वर्णन इसी ईर्ष्या का द्योतक है। 'पाँवों की हड़कल' में कवि अपनी प्रेम-क्रियाओं का वर्णन करता है—'फागुन की आधीरात' की क्रियाओं से कितनी भिन्न! नरेन्द्रजी की मनोदशा बच्चनजी के समान विकृत नहीं है। वह मृत्यु-कामना नहीं करते वरन् भाग्य के सहारे सब कुछ छोड़कर ठेलमठेल किसी प्रकार जीते रहने में विश्वास करते हैं।

'थे आगे भी सुख दुख आए,
उनको रो गा कर भोगा ही!
अब घड़ी, दो घड़ी रोए भी
फिर भी तो जीना होगा ही!'

और भी—

'ऊब गया हूँ जिससे, पूरी होती हाय न जो चलते,
इस खँडहर के बीच भाग्य की रेखा-सी है मेरी राह!'

बच्चनजी में यही ऊब और निराशा मृत्यु-कामना में परिणत हो जाती है। जिस कविता को morbid कहा जाता है, उसका बच्चनजी में पूर्ण विकास हुआ है।

मृत्यु-कामी कवियों से भिन्न एक दल उनका है जो अपनी वासना को न दबा सकने के कारण समस्त संसार में प्रलय मचा देना चाहते हैं। प्रलय-सम्बन्धी कविता इतनी हुई है कि उद्धरण अनावश्यक है। श्री सुधीन्द्र, अंचलजी, आदि में अतृप्त-वासना प्रलय बनकर आई है।

बहुत-सी ऐसी कविताएँ भी प्रगतिशील मानी जाती हैं जिनमें घासवाली, सागवाली, चमारिन, भिखारिन आदि को लेकर पाठक की करुणा उकसाई जाती है। ऐसी कविताएँ भी व्यक्तिवादी कहलायेंगी क्योंकि इनमें व्यक्ति की करुणा उकसाना प्रधान लक्ष्य होता है। निरालाजी का 'भिक्षुक' इन कविताओं का पुराना आदर्श है।

व्यक्तिगत दया और करुणा पर हमें पहले विश्वास होता है, सामाजिक आन्दोलनों की ओर ध्यान कम जाता है।

इस थोड़ी-सी चर्चा से यह न समझना चाहिये कि आधुनिक हिन्दी कविता में व्यक्तिवाद और अतृप्त-वासना को छोड़कर और कुछ है ही नहीं। पहले तो ऐसे अनेक कवि हैं जो इस धारा से अलग अपना काम करते रहे हैं और जिनकी कविता समाजहित के अधिक निकट है। फिर इस लेख में जिन कवियों की चर्चा है, उनमें भी अनेक स्वस्थ रचना करने में अक्षम सिद्ध नहीं हुए। हमारा युग संघर्ष का युग है और लक्ष्य-प्राप्ति की चेष्टा और प्रयत्न की कठिनाई हिन्दी कविता में भी व्यक्त हुई है। साथ ही संघर्ष से ही ऐसे व्यक्ति भी जन्मते हैं जो पलायन को आदर्श मानकर संघर्ष से जी चुराते हैं। अँग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता की तुलना में हम अपने यहाँ भी समाज-हित के काफ़ी तत्त्व देखते हैं। और उन्नीसवीं सदी के अन्त में जो पतन Decadence फ्रांस और इंगलैंड में दिखाई दिया था, उसका यहाँ शतांश भी गोचर नहीं हुआ। लोग चौकन्ने हो गये हैं और कविता को स्वस्थ भाव-धाराओं की ओर ले चल रहे हैं। जैसे कांग्रेस में पराजयवादी भरे हुए हैं, वैसे साहित्य में भी। परंतु देश में विजयकामी और विजय के लिये प्रयत्न करने वाले हैं, वैसे ही साहित्यिकों में। निरालाजी के शब्दों में—

'सिंहों की माँद में आया है आज स्यार'—

और यह व्यक्तिवाद का स्यार शीघ्र ही समाज-सिंह की माँद छोड़ कर भाग जायगा। भाग तो वास्तव में वह पहले से ही रहा है; सिंह ही अभी पूर्णरूप से अपनी तन्द्रा त्यागकर नहीं जागा।

नयी हिन्दी कविता पर आक्षेप

विद्वानों का स्वभाव होता है कि वे समालोचना में कुछ सूत्र बनाकर उनकी सिद्धि किया करते हैं। इससे उनके और पाठक दोनों के ही हृदयों को सन्तोष होता है। इसी प्रकार नयी हिन्दी कविता पर टीका टिप्पणी करते हुए हिन्दी के अनेक विद्वान् आलोचक बहुधा तीन सूत्रों का सहारा लेते हैं। पहला—अश्लीलता, दूसरा—नास्तिकता, तीसरा—रूस की नक़ल। इन सूत्रों से वे नयी हिन्दी कविता को सिद्ध करके कुछ मिश्रित आशा और निराशा के स्वरों से अपनी आलोचना समाप्त करते हैं। आलोचना एकांगी न हो, इसलिये वे दबी ज़बान से यह भी कह देते हैं कि ज़माना अब बदल गया है, इसलिये कविता भी जन-साधारण के निकट आयेगी।

एक ध्यान देने की बात यह है कि ये विद्वान् इन तीनों सूत्रों की परिधि के बाहर की नई हिन्दी कविता की सफलता का उल्लेख नहीं करते। उन्हें यह मनवाने में कठिनाई न होगी कि इन सूत्रों के बाहर ढेर की ढेर कविता लिखी जाती है और उसके मूल्य को आंकना भी आवश्यक है। फिर नये हिन्दी कवियों के सिवा पुराने कवियों में उत्तम मध्यम श्रेणी के कलाकार कलम चलाना बन्द नहीं कर बैठे हैं। उनकी रचनायें इस युग की साहित्यिक प्रगति में क्या स्थान रखती हैं?

पहले उन तीन सूत्रों को लें जिनका जप करके ये विद्वान् कविता के समुचित अध्ययन से बचना चाहते हैं। पहले अश्लीलता। नयी हिन्दी कविता में अश्लील पंक्तियां लिखी गई हैं, यह बिल्कुल सच है! लेकिन किसी महीने की तमाम हिन्दी पत्रिकाएं उलट जाइये

और सच बताइये कि कवितायें पढ़कर आपकी यह धारणा होती है कि हिन्दी कविता में अश्लीलता का रंग ही गहरा है ? उन विद्वानों की प्रशंसा करनी पड़ती है जो पुस्तकों से अश्लील पंक्तियाँ छाँटकर उनसे अपने लेखों की शोभा बढ़ाते हैं। जिन कवियों से वे ऐसी पंक्तियाँ छाँट लेते हैं, उनके बारे में भी वे एकबारगी ऐसा न कह सकेंगे कि उनकी रचनाओं में अश्लीलता और शृङ्गार के सिवा और कुछ है ही नहीं। देव, जयदेव और बिहारी की तरह उनकी कविता का मूलस्रोत रसराज नहीं है, न समूची खड़ी बोली की कविता में उतनी अश्लील पंक्तियाँ मिलेंगी जितनी कि सिर्फ़ इन तीन महाकवियों की रचनाओं में।

रीतिकालीन शृंगार और आधुनिक शृंगार की रचनाओं में अन्तर है। रीतिकालीन कवियों के लिये नारी कामक्रीड़ा की वस्तु थी—"क्रीड़ाकला-पुत्तली"। इसीलिये नायिका-भेद की भरमार हुई अर्थात् नारी की विशेषता, उसका मूल्य, उसका मनुष्यत्व किंवा देवीत्व उसके नायिकापन में ही है। राधाकृष्ण का नाम लेने से देव या जयदेव के अदेवत्व का हरण नहीं हो सकता। नारी के प्रति इस दृष्टिकोण का अन्त किया छायावादी कवियों ने, नारी को स्वर्गलोक की परी बनाकर। उसके बाद सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए अतृप्त आकांक्षाओं के कवि आये, नये युग के। इन्होंने नारी को नारी कहा और अपनी स्पष्टवादिता में वे पाठकों के सामने ऐसी बातें भी कह गये जिन्हें वे अपने तक ही रखते तो ज़्यादा अच्छा था।

यह सब कहने का यह अर्थ नहीं है कि अश्लीलता क्षम्य है। भले ही हमारे गौरवपूर्ण प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य में घोर शृंगार की कविता हुई हो, हम उसका अनुकरण करने में अपना गौरव नहीं मानते; न यह मानते हैं कि उसके अनुकरण के बिना हमारी सजीव साहित्यिक परंपरा टूट जायगी। पहले अश्लीलता ज़्यादा

थी, आज कम है, इससे कोई उसका समर्थन नहीं कर सकता। जो अश्लील कविता के विरोधी हैं, उनसे मेरा कोई विरोध नहीं है। उनसे मतभेद इस बात में है कि वे कुछ छुटपुट कविताओं के नाम पर सारी नयी हिन्दी कविता को, विशेषकर प्रगतिशील हिन्दी कविता को बदनाम करते हैं। प्रगतिशीलता और अश्लीलता का कोई भी आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि भक्ति और शृंगार का मध्य कालीन दरबारी भक्तजनों के लिये था।

दूसरा सूत्र है नास्तिकता का। हिन्दी कवि नास्तिकता का प्रचार करते हैं, यह कोई घोर आस्तिक भी न कहेगा। सारी हिन्दी कविता छानने पर आलोचना की छलनी में कहीं दस पांच पंक्तियाँ आ पायेंगी। उनके बहाने नयी हिन्दी कविता को लांछित करना उतना ही संगत होगा जितना यह पूछना कि सूर तुलसी ने रामनाम जपने के सिवा कविता कितनी लिखी है। वास्तव में ईश्वर का विरोध वहाँ होता है जहाँ यथेष्ट जन-जागरण नहीं हुआ। आज कोई भी कवि यह नहीं लिखता—या नेता यह नहीं कहता—कि ईश्वर का नाम लेने से अन्न-संकट दूर हो जायगा। अन्न-संकट दूर करने के लिये वे राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय सरकार का नारा लगाते हैं। अधिक निराश हुये तो लार्ड वैवल का मुँह देखते हैं परन्तु सामाजिक कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिये ईश्वर को कष्ट नहीं देते। तब ईश्वर से असन्तुष्ट होने वाला कोई व्यक्ति यह कह बैठता है कि ईश्वर नहीं है, तो उसे ईश्वर का सबसे बड़ा भक्त समझना चाहिये। नास्तिक वे नहीं हैं जो ईश्वर का विरोध करते है वरन् वे हैं जो उसका नाम ही नहीं लेते।

तीसरा सूत्र है—रूस की नक़ल। सूत्र क्या यह मंत्र है जिससे विद्वान् आलोचक किसान मज़दूरों की कविता को भस्म कर देना चाहते हैं। कविता में होना चाहिये रस, सो रसराज को छोड़कर

ये कवि किसान-मज़दूरों पर कविता लिखने चले हैं; कला का तो इन्होंने गला घोंट दिया।

पहले तो निवेदन यह है कि हिन्दी कवियों से मिलकर यह पता लगाइये कि उन्हें कितनी रूसी कवितायें पढ़ने को मिली हैं और अपराध क्षमा हो, यह बताइये कि स्वयं आपने कितनी पढ़ी हैं। छायावादी कविता के विरोधी उसे बंगला की नक़ल बताकर दो चार बंगला की पंक्तियाँ भी उद्धृत कर देते थे। यहाँ तो वह भी नहीं, केवल मंत्र से मार देने का प्रयास है!

दूसरी बात—जब बाबा तुलसीदास ने "बिन अन्न दुखी सब लोग मरैं" और "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी" आदि लिखा था तब किन भावी रूसी रचनाओं का उन्होंने पारायण किया था? पुनः भारतेन्दु बाबू ने जब "कवि-वचन-सुधा" में राष्ट्रीय विषयों पर ग्रामीण बोलियों में कविता लिखने की विज्ञप्ति निकाली थी, तब उन पर किस रूसी कवि की छाया पड़ी थी? राष्ट्रकवि ने जब "बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा" आदि लिखा था, तब वे किस साहित्य से प्रभावित हुए थे? वास्तव में ये सब कवि परिस्थिति से प्रभावित हुए थे, सहृदय होने के नाते भूख महामारी में भी उनका हृदय आन्दोलित हुआ था। इससे उनकी कवि-सुलभ सहृदयता में बट्टा नहीं लग गया। परिस्थितियों के प्रभाव से आँख चुराकर जो रूसी कविता का प्रभाव ढूँढ़ने जाते हैं, वे स्वयं किन स्वार्थों से प्रभावित हैं, यह स्वयं देखें। कवि परिस्थिति को बदलना चाहता है तो विद्वान् आलोचक कहते हैं, तू रूस की नकल करता है! संसार परिवर्तनशील है। छकड़े के चढ़ने वाले व्यक्ति भी रेल में बैठने लगे हैं। अब हर जगह ज़मींदारी ज़िन्दाबाद का नारा नहीं लगाया जा सकता। इन बातों को रूस की नक़ल बताना अपने में अविश्वास करना है।

मानव समाज के अग्रसर व्यक्ति हमेशा से अन्याय का विरोध करते आये हैं, करते रहेंगे।

परिस्थिति—न कि रूस—के प्रभाव का एक ज्वलन्त उदाहरण "बंगदर्शन" है। इस संकलन में श्री मैथिलीशरण गुप्त, निरालाजी, श्रीमती महादेवी वर्मा आदि ने बंगाल पर कवितायें लिखने का ही अपराध नहीं किया है वरन् महादेवीजी ने उसकी बिक्री का रुपया भी बंगाल के अकाल-पीड़ितों के लिये भेजा है। लीजिये, कवि किताबें बेचकर भूखों को रोटियाँ बाँटने पर आ गये। भारतीय संस्कृति का पतन हो गया! साहित्य रसातल चला गया! "बंगदर्शन" का विरोध होगा, यह बात कल्पना से भी परे है; परन्तु हिन्दी में ऐसे लेखक हैं जिन्होंने श्री महादेवी पर रोष भरी दृष्टि डाली है कि आप भी....! अब प्रलय के दिन दूर नहीं हैं।

सचमुच प्रलय के दिन दूर नहीं है,—उन विद्वान् आलोचकों के लिये जो दो तीन सूत्रों को जपकर हिन्दी साहित्य की समूची प्रगतिशील परम्परा को असिद्ध कर देना चाहते हैं!

[१६४४]

युद्ध और हिन्दी साहित्य

पिछले चार-पाँच वर्षों में संसार की कुछ बहुत बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो गई हैं। युद्ध का आरम्भ, सोवियत्-संघ पर जर्मन आक्रमण, नौ अगस्त का दमन और बंगाल का अकाल इस युग की ऐसी मुख्य घटनाएँ हैं जिनका प्रभाव इस युग में ही सीमित नहीं है। इन घटनाओं से हमारे देश की जनता आन्दोलित हुई है और उस जनता की आशा-निराशा का चित्रण करनेवाला साहित्य भी घटनाओं से प्रभावित हुआ है। इतिहास की इस पृष्ठभूमि पर नज़र रखते हुए हम अपने साहित्य की गतिविधि परखेंगे।

पहले प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन के सम्बन्ध में एक मोटी बात यह साफ़ दिखाई देती है कि पाँच साल पहले जैसे लोग 'प्रगति-शील' शब्द पर शंकाएँ प्रकट करते थे, आज वह बात नहीं है। आज के लेखक में बड़ी सतेज साम्राज्यवाद-विरोधी भावना है; वह मानव द्वारा मानव के शोषण को जड़ से मिटा देने के पक्ष में है; स्पष्ट या अस्पष्ट-सी नये शोषणहीन समाज की भावना सभी लेखकों के सामने घूम रही है। अश्लीलता, नास्तिकता और रूसकी नकल के नाम पर कुछ लोगों ने इस आन्दोलन का विरोध किया है तो बहुत लोगों ने उसे युग की माँग कहकर उसका स्वागत किया है। युग की माँग का अनुभव करके ही नये और पुराने लेखक ज़्यादा से ज़्यादा संख्या में ऐसे साहित्य की ओर अग्रसर हुए हैं जो युग के अनुकूल है। कवि या साहित्यकार दूर रहकर अपने एकान्तवास में सप्राण साहित्य की रचना कर सकता है,—इस बात का दावा करनेवाले लोग अब प्रायः नहीं ही रह गये हैं

जिस समय युद्ध का आरम्भ हुआ, उस समय राष्ट्रीय साहित्य की धारा का प्रवाह मन्द न हुआ था। श्री मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत' लिखने के बाद विश्राम करना चाहते थे, परन्तु युग की प्रगति ने उन्हें विश्राम न करने दिया। कुणाल के गीतों में उन्होंने "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" का सन्देश दिया। 'कर्बला' में साम्प्रदायिक वैमनस्य से ऊपर उठकर दूसरों की संस्कृति और धर्म के महत्त्व को समझने का सन्देश उन्होंने दिया। श्री सुमित्रानन्दन पंत ने अनेक प्रगतिशील रचनाएँ कीं जो 'ग्राम्या' में प्रकाशित हुईं। जनता को समझने और परखने का इस तरह प्रयास किया, जिस तरह पहले उन्होंने कभी न किया था। निरालाजी ने गद्य और पद्य में नये-नये प्रयोग किये—विशेषकर व्यंग्यात्मक प्रयोग। कथा-साहित्य में प्रेमचंद के साथी लेखक विश्वम्भरनाथ शर्म्मा कौशिक ने नयी कहानियाँ लिखीं जिनका विषय, पुरानी सामाजिक समस्याएँ न होकर नया आर्थिक संकट था। इसके विपरीत जैनेन्द्रजी की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और बढ़ी और कुछ दिन बाद वह शून्य में विलीन होती दिखाई दी। पुराने कथाकारों में बहुतों की कृतियाँ देखने को नहीं मिलीं, जैसे सुदर्शन, जनार्दन प्रसाद झा द्विज इत्यादि; साथ ही ठाकुर श्रीनाथ सिंह, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह आदि लेखक कथा साहित्य की सृष्टि करते रहे। नाटकों के क्षेत्र में कमी बनी रही। कुल मिलाकर सन् ४२ के पहले के तीन-चार वर्षों का हिन्दी साहित्य यथेष्ट रूप से सजीव और अपने आशापूर्ण संघर्ष का द्योतक है। अभी तक युद्धजनित अर्थ-संकट और दमन ने राष्ट्रीय जीवन में जड़ता न उत्पन्न कर दी थी।

नये लेखकों का रचनात्मक कार्य और भी तेज़ी के साथ हुआ। यशपाल ने अपने उपन्यास और अधिकांश कहानियाँ इसी समय में लिखीं। 'देशद्रोही' में उन्होंने युद्धजनित परिस्थितियों का चित्रण

किया। रोमांटिक उपन्यासकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी और सर्वदानन्द वर्मा ने अपने 'निमंत्रण' और 'अनिकेतन' उपन्यासों में श्रमिक-समस्याओं की ओर ध्यान दिया। नरोत्तमप्रसाद नागर ने राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं को लेकर व्यंग्य-प्रधान 'दिन के तारे' को रचना की। श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'वोल्गा से गंगा', 'सिंह सेनापति' आदि प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं।

लेकिन जहाँ राष्ट्रीय जागरूकता का प्रतिनिधित्व करनेवाले लेखक इस कोटि की रचनाएँ कर रहे थे, वहाँ कुछ दूसरे लेखक अपनी अन्तर्मुखी वृत्तियों के कारण बाहर की दुनिया से बराबर मुँह फेरते चले जा रहे थे। ज्यों ज्यों राष्ट्रीय संकट बढ़ता गया, त्यों त्यों उनके अन्तस्तल की समस्याएँ भी उबलकर सतह पर आने लगीं। पहली श्रेणी के लेखकों में व्यक्तिवाद और रोमांटिक भावुकता का अभाव नहीं है। वरन् कभी कभी तो वह उनकी कृतियों के सामाजिक महत्व को दबा लेती है। और उनके उपन्यास प्रेमकथाएँ मात्र रह जाते हैं, जिनके ताने बाने में कुछ रंगीन तार किसान-मज़दूर समस्याओं के भी होते हैं। परन्तु अन्तस्तल में डुबकी लगाने वाले कलाकार बड़ी दूर की कौड़ी लाते हैं। उनका कहना है कि जब तक मन की ये समस्याएं न सुलझेंगी, तब तक प्रगति असम्भव है। दमन और अकाल से ज्यों ज्यों निष्क्रियता का रंग गहरा होता गया, त्यों त्यों अन्तर्मन की समस्याओं में इनका विश्वास भी दृढ़ होता गया। श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास और लेख इस प्रवृत्ति के निदर्शक हैं।

कविताक्षेत्र में गीतों की एक प्रबल धारा का आविर्भाव हुआ है। नरेन्द्र, दिनकर, सुमन, नेपाली, केदार, गिरजाकुमार, अञ्चल आदि नामों का स्मरण करते ही इस युग की विविध और बहुमुखी गीत-रचना का आभास मिल जाता है। एबीसीनिया पर इटली के फ़ासिस्टों का

आक्रमण होने पर दिनकर ने मेघरंध्र में विद्रोह-रागिनी सुनी। नरेन्द्र ने देवली जेल में सोवियत्-जर्मन युद्ध की बात सुनकर 'गीत लिखूँ क्या वीरों के जब गला घोंटती हो कारा' से आरम्भ करके अनेक कविताएँ लिखीं जिन्होंने उनके असमंजस को धक्का दिया। गिरजाकुमार अपनी नव-वयस्क रोमांटिक कल्पना से दूर होते हुए अधिक स्वस्थ चिन्तन की ओर बढ़े। 'आज अचानक बल आया है, थकी हुई मेरी बाहों में'—इस नये चिन्तन और चेतना का प्रतीक है।

सोवियत् युद्ध से हिन्दी के अधिकांश नये कवि प्रभावित हुए हैं। नरेन्द्र ने लोकगीतों की धुन और उन्हीं जैसी सरल शब्दावली लेते हुए लाल फ़ौज, स्तालिनग्राद, फासिस्ट आक्रमण आदि पर अनेक कविताएँ लिखीं। शिवमंगलसिंह सुमन की कविता "मॉस्को अब भी दूर है" उस समय लिखी गई थी, जब मॉस्को घिरा हुआ था और पराजयवादी आये दिन उसके पतन की प्रतीक्षा कर रहे थे। सोवियत् संबन्धी वह सबसे अधिक ओजपूर्ण रचना है। रांगेय राघव ने स्तालिनग्राद पर एक खंडकाव्य लिखा है, जिसमें उन्होंने उस युद्ध से भारतीय जन-संग्राम का सम्बन्धसूत्र जोड़ा है। भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे आदि ने भी सोवियत् युद्ध से प्रभावित होकर कविताएँ लिखी हैं।

गीत-रचना का यह प्रसार सन् ४२ के दमन के बाद क्रमशः क्षीण होता गया है। देश के राजनीतिक गतिरोध का गहरा असर राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों पर पड़ा है। वह असर हमारे साहित्य में भी दिखाई देता है। अगस्त के बाद बहुत से लेखक यह न समझ पाये कि इस उत्पात के लिये उत्तरदायी कौन है और ब्रिटिश-जर्मन युद्ध में सोवियत् के आ जाने से जो नये परिवर्तन हुए, वह भी स्पष्ट रूपरेखा में उनके सामने नहीं आये। गतिरोध की जड़ता ने देश में निराशा को जन्म दिया।

फिर भी बंगाल के अकाल से नये-पुराने अनेक लेखकों का हृदय द्रवित हुआ और उन्होंने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए अपनी लेखनी का उपयोग किया। सुमन, नरेन्द्र, अञ्चल आदि की रचनाएँ साहित्य की वस्तु बन गई हैं। 'बंगदर्शन' ने जो मार्ग प्रदर्शन किया है, वह भी भारतीय साहित्य में गर्व करने की बात है। भारतीय संस्कृति की जननी की दुःख-गाथा से श्रीमती महादेवी वर्मा, निरालाजी, श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, श्री माखनलालजी चतुर्वेदी आदि का हृदय द्रवित हुआ। महादेवीजी ने बंगदर्शन की भूमिका में मुनाफ़ा खोरी का पर्दाफ़ाश किया और नये कवियों ने अपनी रचनाओं में उसे आड़े हाथों लिया।

फिर भी,—बंगाल के अकाल से जो हलचल हिन्दी संसार में हुई थी, वह कुछ दिन बाद शांत-सी हो गई। बिखरे तार जहाँ-तहाँ झंकृत हुए, परन्तु कवि-समूह का हृदय किसी राष्ट्र-व्यापी अथवा समाज व्यापी आन्दोलन से नहीं लहराया। राष्ट्र का जीवन उन्हें निस्पंद और गतिहीन दिखाई दे रहा था।

यहाँ पर अपने ग्राम कवियों का स्मरण करना उचित है जो जन जीवन के अधिक निकट होने से उसी भाँति निराशा के शिकार नहीं हुए। इस समय हमारे दो बहुत सुन्दर कवि पढ़ीस और उनके पुत्र बुद्धिभद्र जीवन-संग्राम में जूझते हुए खेत रहे। आज ये जीवित होते तो अवधी के जन-साहित्य को मज़बूत सहारा मिलता। फिर भी चन्द्र-भूषण त्रिवेदी उस परम्परा को आगे ले गये हैं और उनका श्रेष्ठ गीत 'धरती हमारि' किसान की अजेय चेतना का प्रतीक है। राजस्थानी, मैथिली, बुन्देलखण्डी आदि भाषाओं में इस काल अनेक सुन्दर गीतों की रचना हुई है। बनारस ज़िले के रामकेर और धर्मराज ने अपने गीतों से सैकड़ों किसानों में आशा और नवजीवन का सञ्चार किया है।

युद्धकालीन हिन्दी साहित्य ने अपनी सजीव और प्रगतिशील परम्परा की रक्षा की है। कविताएँ हमें नये गीत-रूप में मिली हैं, कवि अपनी भाषा, लय और छन्द में जनता के अधिक निकट आये हैं। कथा-साहित्य में राहुलजी और यशपाल ने नया क़दम उठाया है; अपनी कथाओं में उन्होंने अछूते विषयों पर लेखनी उठाई है और अनूठी कथावस्तु का गठन किया है। आलोचना-साहित्य में इधर दो वर्षों से कुछ स्थिरता सी आ गई थी। फिर भी कुल मिलाकर युद्धकाल में नये-पुराने साहित्य के मूल्याङ्कन और सिद्धान्तों को लेकर लेखकों और पाठकों में काफ़ी चर्चा रही है। निराशा और गतिरोध के समय हमारे लेखक हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहे।

फिर भी, यह सत्य है कि निराशा की वह अँधेरी रात अभी बीती नहीं है। 'योगी' (दीपावली विशेषाङ्क) अपने 'हड्डी का चिराग' शीर्षक सम्पादकीय द्वारा आज के राष्ट्रीय जीवन की निस्पंदता की ओर ध्यान आकर्षित करता है। राष्ट्रीय नेताओं का कारावास और गान्धी-जिन्ना वार्ता का भंग होना इस जड़ता को बनाये रखने में सहायक होते हैं। संभवतः यह निराशा की अँधेरी रात का अन्तिम प्रहर है, परन्तु जैसी निष्क्रियता के दर्शन हमें इस समय हो रहे हैं, वैसी निष्क्रियता संपूर्ण युद्धकाल में भी नहीं रही। इसीलिये उससे लोहा लेने के लिये आज हमें अपना संपूर्ण मनोबल सञ्चित करना है और इसके लिये सामूहिक प्रयास आवश्यक है।

गतिरोध की तह तक गये बिना जो भी प्रयास किया जायगा, वह सतह का होगा, उससे जीवन की जड़ता न दूर होगी। यह जड़ता दूर होती दिखाई दी थी जब गाँधीजी ने आत्मनिर्णय के अधिकार पर मि० जिन्ना से समझौते की बातचीत शुरू की थी। जड़ता के दूर करने का वही एक मार्ग है। कलाकारों, कवियों और लेखकों को देशव्यापी गतिरोध को दूर करने के उपायों पर विचार करना है, सामाजिक

प्रगति के अनुगामी नेताओं की हैसियत से वह वातावरण उत्पन्न करना है, जिससे आज का मतभेद दूर हो और जो समझौता आज नहीं हुआ, वह कल होकर ही रहे। साहित्य और संस्कृति में यदि हमें गतिहीनता और जड़ता का अनुभव होता है, यदि गतिरोध का व्यापक प्रभाव हम अपने सारे समाज पर देखते हैं, तो हम साहित्य में उसका चित्रण भी कर सकते हैं, उससे लड़ने के लिये अपने पाठकों में मनोबल भी उत्पन्न कर सकते हैं। इस ओर से पराङ्मुख रहने का परिणाम होगा अश्लील साहित्य की वृद्धि, अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का उन्मेष और साहित्य में निराशाजन्य अराजकता का प्रसार।

हमारा साहित्य आज जिस दलदल में है, उससे उसे उबारने का एक ही मार्ग है,—गतिरोध को भंग करने के उद्योग में हम अपनी लेखनी द्वारा सक्रिय सहयोग दें। हमारे नये और पुराने लेखक जो राष्ट्रीय परम्परा में पले और बढ़े हैं, यह सहयोग दे सकते हैं। केवल नितान्त अहंवादी, स्वरति और विकृत कामभावनाओं के प्रेमी, उच्छृङ्खल और अराजकवादी व्यक्ति ही इस प्रयत्न का विरोध करेंगे। शेष सभी स्वस्थ मन के देशभक्त लेखकों से हम सक्रिय सहयोग की आशा कर सकते हैं।

स्वाधीनता आन्दोलन और साहित्य

देश में नये सांस्कृतिक और राजनीतिक जागरण के साथ-साथ आधुनिक हिन्दी का जन्म हुआ और उसका साहित्य क्रमशः विकसित होता गया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में गद्य के लिये ब्रजभाषा को त्यागना और खड़ी बोली को अपनाना एक सामाजिक आवश्यकता की पूर्त्ति था। १८५७ के पहले और कुछ दिन बाद तक विकसित और पुष्ट गद्य के बिना भी साहित्य अधूरा नहीं माना जाता था। लेकिन अब परिस्थितियाँ बदल रही थीं। समाज में नये उच्च और मध्यवर्गों का जन्म हो रहा था। ये वर्ग पुराने सामंती वर्गों की जगह लेकर साहित्य और समाज दोनों का ही नेतृत्व करने के लिये आगे बढ़ रहे थे। इस परिवर्त्तन के फलस्वरूप जो नयी-नयी सामाजिक आवश्यकतायें पैदा हुईं, उनकी पूर्त्ति के लिये गद्य-साहित्य अनिवार्य हो गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नवीन हिन्दी गद्य की प्रतिष्ठा करके एक ऐतिहासिक कार्य किया।

उस समय के साहित्य को देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य होता है कि सन् '५७ के विद्रोह पर कवितायें या कहानियाँ क्यों नहीं लिखी गयीं। जो कुछ लिखा गया है, वह बहुत ही कम है और उसमें भी विद्रोह का वही रूप नहीं दिखाई देता जो हमारी कल्पना में है। इसका एक कारण यह है कि उस समय की राजनीतिक चेतना का स्तर विप्लव और विद्रोह की भावना से बहुत दूर था। उच्च और मध्यवर्गों के लिये अँग्रेज़ी राज एक वरदान के रूप में था जिसने देश में फैली हुई अराजकता को शान्त कर दिया था। शिक्षित लोग अँग्रेज़ों से आशा करते थे कि वे सामाजिक कुरीतियों को दूर करेंगे और

भारतवासियों का सहयोग लेकर समाज को सुधार की ओर बढ़ायेंगे। महारानी विक्टोरिया की घोषणाओं के ऊपरी रूप से भी लोग आकर्षित हुए। इसीलिये उस समय के साहित्य में अँग्रेज़ों के लिये प्रशस्तियों की कमी नहीं है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीवाद में एक आंतरिक विरोध था जो दोनों के मेल-जोल पर बार बार प्रहार करता था। उच्चवर्गों के एक अंश ने यह बहुत जल्दी देख लिया कि अँग्रेज़ों के सहारे भारतवर्ष वह उन्नति नहीं कर सकता जिसे वे आवश्यक समझते थे। हिन्दुस्तान के अपने कल-कारखाने हों, वह ख़ुद अपना माल पैदा करे और तमाम धन विलायत न भेजे, यह भावना भारतेन्दु काल में पैदा हो गई थी। इसलिये इस युग के साहित्य में हमें दो मिली-जुली धारायें मिलती हैं, एक तो अँग्रेज़ों की प्रशस्ति करने वाली है, उनसे सहयोग की इच्छा करती है और उसका तमाम प्रगतिशील चिंतन समाज सुधार के क्षेत्र में सीमित रहता है। इस धारा के सबसे अच्छे प्रतिनिधि राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे। दूसरी धारा समाज-सुधार के साथ साथ स्वदेशी और स्वाधीनता की चेतना को भी फैला रही थी। इस धारा के प्रतिनिधि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र थे। यह सोचना ग़लत होगा कि पहली धारा का प्रभाव भारतेन्दु पर पड़ा ही नहीं। वे उससे भी प्रभावित हुये परन्तु उस पुरानी धारा को छोड़कर नई दिशा में बढ़ने का कार्य सबसे पहले उन्होंने ही किया।

सामाजिक सुधार नयी धारा का एक आवश्यक अङ्ग था। तभी से यह परम्परा चली कि स्वाधीनता आन्दोलन के नेता समाज-सुधारक भी हों और अपने राजनीतिक प्रचार में सुधारों की बात भी कहें। गाँधीजी के स्वराज्य-प्रचार में हरिजन उद्धार को इसी तरह स्थान प्राप्त है। भारतेन्दु के ज़माने में विधवा-विवाह का समर्थन करना

अँग्रेज़ी राज को हटाने से कम क्रान्तिकारी नहीं था। इस प्रश्न को लेकर कई दशकों तक घनघोर युद्ध होता रहा। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी आदि ने विधवा-विवाह के साथ बाल-विवाह, स्त्रियों की अशिक्षा, धार्मिक अंध-विश्वास आदि का विरोध किया। यह समाज-सुधार की भावना स्वदेशी और स्वाधीनता की कल्पना से जुड़ी हुई थी। सन ५७ तक हिन्दी के साहित्यिकों में राष्ट्रीयता की कल्पना उभर कर न आई थी। भारतेन्दु काल में प्रत्येक सजग लेखक राष्ट्रीयता की नई कल्पना से प्रभावित दिखाई पड़ता है। प्रताप-नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, कार्तिकप्रसाद खत्री आदि-आदि की रचनाओं में यह नई भावना बार-बार प्रकट हुई है।

इस राष्ट्रीयता का एक उग्र और क्रांतिकारी पहलू भी था। देश में अकाल पड़ते देखकर और सरकार को तटस्थ ही नहीं, उसके लिये उत्तरदायी मानकर, कई लेखकों में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हो रहा था। वे देख रहे थे कि अँग्रेज़ कूटनीतिज्ञ एशिया और अफ्रीका में अपना राज्यविस्तार करने के लिये भारत के धन जन का दुरुपयोग कर रहे हैं। अपने जनगीतों, निबंधों और नाटकों में उन्होंने इसका तीव्र विरोध किया। ये लेखक गौरवमय अतीत को जगाकर ही संतुष्ट नहीं थे। वे एक क़दम आगे बढ़कर सामंती अत्याचार का विरोध करते थे और गाँव से हर तरह का दमन खतम करने के लिये हिन्दू-मुसलमान किसानों के संगठन की बात भी कहते थे। भारतेन्दु ने बलिया में दिये हुये अपने एक व्याख्यान में इस एकता पर काफ़ी ज़ोर दिया था। उनके शब्द इस बात के सूचक हैं कि आर्य और म्लेच्छ की भावना से आगे बढ़कर जनता दोनों के साम्राज्य-विरोधी संगठन की ओर बढ़ रही थी। भारतेन्दु ने कहा था—"घर में आग लगे तब जिठानी-दयौरानी को आपस का डाह छोड़कर एक साथ वह आग बुझानी चाहिये। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक,

जैन, ब्राह्मो, मुसलमान, सब एक का हाथ एक पकड़ो। जैसे हज़ार धारा होकर गङ्गा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारा लक्ष्मी हज़ार तरह से इंगलैण्ड, फ्रांसीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। अफ़सोस, तुम ऐसे हो गये कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। चारों ओर दरिद्रता की आग लगी है। अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ-यहाँ से पकड़-पकड़ कर लाओ। उनको बाँध बाँध कर क़ैद करो। जब तक सौ-दो-सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायँगे, दरिद्र न हो जायेंगे, क़ैद न होंगे, वरञ्च जान से न मारे जायेंगे तब तक कोई देश भी न सुधरैगा।"

प्रगति की यह अंतर्धारा साहित्य की वर्त्तमान प्रगतिशील धारा के अत्यंत निकट है। भारतेन्दु ने "कवि-वचन-सुधा" में प्रकाशित अपनी घोषणा में कहा था कि हिन्दी लेखकों को साधु हिन्दी में रचना करने के साथ-साथ ग्रामीणों और अपढ़ किसानों और स्त्रियों के लिये भी उन्हीं की बोलियों में गीत आदि लिखना चाहिये—और इनका विषय स्वदेशी तथा समाज सुधार होना चाहिये। इस प्रकार साहित्य को सामाजिक उन्नति का साधन मानकर उन्होंने वह आदर्श रक्खा जिस पर चलने से ही भारत के नये साहित्य और समाज का कल्याण हो सकता था।

ये सब बातें तब हुईं जब संगठित रूप से देश में कोई स्वाधीनता आन्दोलन न चला था। सदियों से चली आती हुई सामंतशाही के प्रभुत्व को पहली बार धक्का लगा और उच्च और मध्यवर्ग के नेतृत्व में पहली बार भारत की जनता ने अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों को पहचाना। समाज का ठहराव टूटा और उसकी नयी हलचल से हिन्दी का यह ज़िन्दादिल साहित्य पैदा हुआ।

पहले महायुद्ध के बाद देश की ग़रीबी और बढ़ी। महामारी का प्रकोप हुआ। युद्ध में किये हुये वादे एक के बाद एक टूटते गये। यही नहीं, अपने शासन को जमाये रखने के लिये अँग्रेज़ों का दमन भी बढ़ता गया। राष्ट्रीय आन्दोलन के सुधारवादी नेतृत्व से असंतुष्ट होकर उग्र विचार के कुछ युवकों ने सशस्त्रक्रांति के लिये छुट-पुट तैयारी शुरू की। जहाँ तहाँ षड्यंत्र पकड़े गये। पंजाब में रौलट-बिल और जलियानवाला बाग़ के दृश्य दिखाई दिये। डायर ब्रिटिश साम्राज्य-वाद का प्रतीक बन गया। वैसे ही जलियानवाला बाग़ देश की उग्र साम्राज्य विरोधी भावना का महामंत्र बन गया। तब से लेकर आज तक न जाने कितने गायकों और कवियों ने जलियानवाला बाग़ का आह्वान करके अपने राष्ट्रीय सम्मान की भावना को जाग्रत किया है। १९४७ में अँग्रेज़ी कूटनीति के भुलावे में आकर हिन्दू-मुसलमान और सिक्खों ने जलियानवाला की पवित्र भूमि को अपने ही रक्त में फिर डुबाने की कोशिश की। लेकिन पंजाब के इतिहास के साथ जलियान-वाला बाग़ और भगतसिंह के दो नाम ऐसे जुड़े हैं कि यह तमाम रक्त-पात भी उनके गौरव को डुबा नहीं सकता। शांति और एकता के प्रचार के लिये जलियानवाले का नाम आज भी मन्त्र का काम करता है।

१९२० के आन्दोलन में हिंदू-मुसलमान एकता के अभूतपूर्व दृश्य देखे गये। उस एकता से साम्राज्यवादी कितना आतंकित हुये, यह उन्हीं की रिपोर्टों में अंकित है। १९४७ के हिन्दुस्तान के लिये वह सब एक सपना है परन्तु ऐसा सपना है जो कलकत्ता और बम्बई की सड़कों पर अब भी हमारे उज्ज्वल भविष्य की तरह झलक उठता है। सन् '२० की एकता, स्वाधीनता के लिये अद्भुत उत्साह, आज़ादी के आन्दोलन में विद्यार्थियों और स्त्रियों के पहली बार प्रवेश करने का प्रभाव उस समय के साहित्य पर भी पड़ा। नये-नये नाटक और गीत इसी भावना से प्रेरित होकर रचे गये। मूक जनता को अचानक जैसे नई वाणी

मिल गई। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, त्रिशूल (सनेही), माधवशुक्ल आदि-आदि कवियों की वाणी ने इस नयी चेतना को व्यक्त किया। उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द के रूप में यह भावना साकार हुई। सन् '२० के आन्दोलन ने प्रेमचन्द की कायापलट कर दी। जिस लक्ष्य की ओर वे धीरे-धीरे पैर उठा रहे थे, उसकी ओर अब एक झटके से दौड़ते हुये चल दिये। सन '२० के बाद स्वाधीनता-आन्दोलन की परम्परा से उनका अभिन्न सम्बन्ध जुड़ गया। तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों की जीर्ण-शीर्ण परम्परा को छोड़कर उन्होंने कथा साहित्य में पहली बार देश की साधारण जनता को प्रतिष्ठित किया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि साम्राज्यवाद के विरोध को उन्होंने ज़्यादा गहराई से देखा। किसान और ज़मींदार की समस्या साम्राज्य-विरोध का ही एक अङ्ग थी। अँग्रेज़ों ने अपने राज्य की जड़ जमाये रखने के लिये ज़मींदारों के रूप में उसका सामाजिक आधार क़ायम किया था। साम्राज्य का पूरा विरोध करने के लिये इस आधार पर भी आक्रमण करना आवश्यक था। प्रेमचन्द ने किसानों की समस्या को स्वाधीनता आन्दोलन का अभिन्न अङ्ग बना दिया। शुरू के उपन्यासों में वे इस समस्या के सुधारवादी समाधान की ओर बढ़ते हैं परन्तु कुछ दिन बाद उस पर से उनकी आस्था उठ जाती है। जैसे-जैसे आज़ादी के आन्दोलन में ख़ुद किसान आगे बढ़कर हिस्सा लेते हैं, वैसे-वैसे किसानों की शक्ति पर प्रेमचन्द का विश्वास भी बढ़ता जाता है।

• प्रेमचन्द का स्वाभाविक विकास भारत के नये जनतंत्र की ओर हो रहा था। सन् '३० के आन्दोलन के बाद उनकी यह धारणा पुष्ट हो गई कि अँग्रेज़ों के जाने के बाद हिन्दुस्तान में जन साधारण का राज क़ायम होना चाहिये। उनके जनतंत्र में देशी राज्यों के बड़े-बड़े सामंतों और ब्रिटिश भारत के बड़े बड़े ताल्लुकेदारों के लिये कोई स्थान नहीं था। सन् '२० के बाद उन्होंने जो कुछ लिखा था,

उससे प्रतिक्रियावादियों में खलबली पड़ गई थी। सन् '३० के बाद उन्होंने जो कुछ लिखा, उससे सुधारवादी चौंकने लगे। समाजवाद के क्रांतिकारी मार्ग की ओर बढ़ने वाले प्रेमचन्द की कला में उन्हें ह्रास दिखाई देने लगा। स्वाधीनता आन्दोलन में जो एक आंतरिक प्रवृत्ति थी कि वह आगे चलकर समाजवादी रूप धारण करे, उस ऐतिहासिक विकास-क्रम का प्रतिबिम्ब पहले प्रेमचन्द में पड़ा। सन् '३० के बाद हिंदी साहित्य में समाजवाद की काफ़ी चर्चा होने लगी। सोवियत् रूस का नया साहित्य, जिसे साम्राज्यवादियों ने देश से दूर रखने की भरसक कोशिश की थी, अब हिन्दी लेखकों तक पहुँचने लगा। प्रेमचन्द गोर्की की रचनाओं से विशेष प्रभावित हुए। राजनीतिक सुधारवाद से चलते हुए वे क्रमशः उस मंज़िल तक पहुँचे, जहां से वे नयी प्रगतिशील विचारधारा के प्रवर्त्तक कहे जा सकते थे।

सन् '२० के आन्दोलन के बाद हिन्दी कविता में एक नये युग का आरंभ हुआ और यह युग छायावाद का था। छायावादी कविता से अनंत और पलायन का विशेष संबन्ध जोड़ा जाता है। उसकी प्रारंभिक अवस्था में उसके विरोधियों ने अनन्त के पक्ष पर विशेष रूप से ज़ोर दिया। वास्तव में छायावादी कविता रीतिकालीन परम्परा की विरोधी थी। यद्यपि खड़ी बोली को कविता की भाषा मान लिया गया था, फिर भी लक्षण ग्रन्थों के आदर्श अभी साहित्य मर्मज्ञों के लिए बने हुए थे। छायावादी कवियों ने इन पर अचूक प्रहार किया। इसलिये विरोधी तिलमिला कर उनके अनन्तवाद की खिल्ली तो उड़ाते रहे, परंतु उनके विद्रोही पक्ष को जनता की दृष्टि से छिपा गये। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी कि पंत और निराला ने अपने गद्य-लेखों में दरबारी कविता की परिपाटी की निन्दा की। देश का स्वाधीनता आन्दोलन हो सामंतशाही से विरुद्ध एक दूसरी दिशा में बढ़ रहा था। उसकी प्रतिक्रिया साहित्य के क्षेत्र में भी हुई और नये कवियों और लेखकों ने उस

पुरानी परम्परा को चुनौती दी। इसका यह मतलब नहीं था कि वे समस्त प्राचीन साहित्य के विरोधी थे। पंत और निराला दोनों ने ही संत साहित्य का समर्थन किया है।

समाजसुधार के पक्ष को इन कवियों ने और गम्भीर बनाया। निरालाजी की 'विधवा' आदि रचनायें, पंतजी की बाल विधवा के प्रति सहानुभूति—रँगे कलही हल्दी में हाथ—आदि समाज-सुधार की परिपाटी की ओर इंगित करती है। इन कवियों की विशेषता यह थी कि सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने नारी की पूर्ण-स्वाधीनता की घोषणा की। जाति और वर्गभेद से परे उन्होंने पूर्ण मनुष्यता की प्रतिष्ठा की। श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर के समान उन्होंने अपने साहित्य का आधार मानव-वाद को बनाया। जाति, वर्ग और प्रान्तों की ही नहीं, देशों की सीमायें भी पार करके परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिये उन्होंने मार्ग प्रशस्त किया। स्वाधीनता-आन्दोलन संकीर्ण रूढ़ियों को छोड़कर स्वराज्य की जिस व्यापक कल्पना की ओर बढ़ रहा था, उसका विजय-घोष सबसे पहले छायावादी कविता में सुन पड़ा। द्विवेदी युग के सुधार-वादी कवि क्रांति और विप्लव शब्दों से भय खाते थे। समाज में आमूल परिवर्त्तन करने की भावना छायावादी कवियों की अत्यंत प्रिय भावना थी। इसी के अनुरूप भाषा, भाव, छन्द, साहित्य के सभी अंगों में वे मुक्त कल्पना के सहारे नये रंग भरना चाहते थे। उन्होंने कुछ दुरूहता के साथ हिन्दी कविता को नयी व्यञ्जनाशक्ति भी दी। अनन्त की कल्पना के साथ उनका उदात्त विद्रोही स्वर भी सुनाई देता है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। साम्राज्य-विरोध, किसानों की मुक्ति आदि की भावनायें निरालाजी के विप्लवी बादल पर आरूढ़ होकर साहित्य के आकाश में आईं। उन्होंने लिखा—

यह तेरी रण तरी
भरी आकांक्षाओं से,

घन, भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर,
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल!
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल!
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्णबाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही हैं आधार,
ऐ जीवन के पारावार!

यद्यपि यह विप्लव एक व्यक्ति द्वारा होता है, वर्ग-संगठन द्वारा नहीं, फिर भी वह समाज के आमूल परिवर्तन की भावना को व्यक्त करता है। यह बात सूचित करती थी कि आगे चल कर राष्ट्रीय आन्दोलन पर क्रान्तिकारी विचारधारा का गहरा असर पड़ेगा और हमारे स्वाधीनता-संग्राम का लक्ष्य केवल अँग्रेज़ों को हटाना न होगा वरन् उनके जाने के बाद एक नये जनतन्त्र की स्थापना भी होगा।

छायावाद काल में लिखी हुई अपनी रचनाओं में पन्तजी ने प्रकृति के आलम्बनों के सहारे मानव समाज की दुरवस्था का संकेत किया है। उनके गीतों की यह टेक बन गई कि प्रकृति सुन्दर है किन्तु मनुष्य परस्पर भेद और विद्वेष के कारण त्रस्त और व्यथित रहता है। इसी व्यथा से आन्दोलित होकर उन्होंने अपने मन को

सौन्दर्य लोक में छिपाने की कोशिश की। 'ज्योत्स्ना' नाटिका में एक शान्त और सुखी मानवसमाज का गान कल्पना है। नाटक रूप में 'ज्योत्स्ना' सफल नहीं है। नये मानवसमाज की कल्पना जो नाना वर्णों में चित्रित हुई है, वह उस युग के कवियों के मर्म को छूने वाली वस्तु थी। सामाजिक विद्रोह का यह दूसरा पहलू था जो पुरानी रूढ़ियों को नष्ट करने के बाद मनुष्य मात्र की समता के आधार पर एक नये समाज का निर्माण करना चाहता था। निर्माण की यह कल्पना यथार्थ की भूमि से काफ़ी ऊपर उठी हुई और अस्फुट थी। फिर भी वह इस बात को प्रकट करती थी कि हमारी जनता और साहित्यकार एक स्वाधीन जनतन्त्र के रूप में अपने भविष्य का स्वप्न देख रहे हैं।

सन् '३३-३४ के लगभग राष्ट्रीय आन्दोलन के सुधारवादी नेतृत्व से आस्थाहीन होकर अनेक लेखक गरम-दली विचारधारा की ओर बढ़ रहे थे। इस काल के साहित्य में यह मोड़ दिखाई देता है। साधारण जनता में से चुने हुये पात्रों द्वारा सामाजिक विषमता के प्रति लेखकों का असन्तोष प्रकट हुआ है। पहले की छायावादी कविताओं के असन्तोष से यह काफ़ी भिन्न है। वह अब एक गम्भीर सामाजिक रूप ले रहा है और उसकी जड़ें यथार्थ भूमि में और भीतर तक चली गई हैं। निरालाजी की 'अलका' में यह परिवर्त्तन स्पष्ट दिखाई देता है। किसानों की समस्या को हल करने के लिये वे पुराने सुधारवादी नेतृत्व को बिल्कुल असमर्थ देखते हैं और एक नये क्रान्तिकारी किसान-नेतृत्व की कल्पना करते हैं। 'देवी', 'चतुरी चमार' आदि रेखा-चित्रों में उन्होंने एक नई यथार्थवादी व्यंग्यपूर्ण शैली के सहारे साहित्य के नये विकास की ओर संकेत किया। उनके पात्र जनसाधारण से लिये गये हैं। अनन्त की उड़ान के बदले उनमें ऐसी मांसलता है

कि उस पर कोई भी यथार्थवादी कलाकार गर्व कर सकता है। इन नये रेखा-चित्रों में छायावाद के अनन्तवादी पलायन पक्ष पर भी तीव्र आघात किये गये हैं। "मैं विलास का कवि, फिर क्रान्तिकारी", निरालाजी के ये शब्द उस अवस्था के सूचक हैं जिससे होकर हिन्दी के अनेक साहित्यिक गुज़र रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के सुधारवादी पक्ष से उनकी आस्था हट रही थी और वे उसे एक वास्तविक-साम्राज्य विरोधी का रूप देना चाह रहे थे जो पुरानी सामाजिक व्यवस्था का आमूल परिवर्त्तन कर दे। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी यह परिवर्त्तन दिखाई दे रहा था। अनेक राजनीतिक कार्यकर्त्ता सुधारवाद से आस्थाहीन होकर उग्र विचारधारा की ओर बढ़ रहे थे। काँग्रेस के भीतर एक अच्छा ख़ासा गरम दल बन गया था। किसानों और मज़दूरों के संगठन की कल्पना यथार्थ रूप धारण करने लगी थी और इस बात की माँग की जाने लगी थी कि यह संगठित वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन में अधिक से अधिक भाग ले। प्रथम काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के बाद उग्र विचारधारा के लोगों में और भी आत्म-विश्वास पैदा हुआ और वे अपने नये समाज की कल्पना की ओर और भी तेज़ी से क़दम उठाने लगे। जो परिवर्त्तन स्वाधीनता आन्दोलन में हो रहा था, उसकी झलक साहित्य में भी दिखाई देती है और काफ़ी पहले दिखाई देती है, इसलिये कि अपनी मार्मिक सहृदयता के कारण उस परिवर्त्तन के चिह्न लेखकों को सबसे पहले दिखाई दिये थे। इन्हीं का संगठित रूप प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन में प्रकट हुआ। इस नये आन्दोलन के विरोधी यह भूल जाते हैं कि साहित्य की यह नई गतिविधि देश में एक बहुत बड़े परिवर्त्तन की सूचक थी। स्वाधीनता आन्दोलन में जो परिवर्त्तन हुआ था, वह इसी साहित्यिक धारा में प्रतिबिम्बित हुआ। वे लोग देश के स्वाधीनता आन्दोलन और साहित्य की नवीन चेतना के प्रति बहुत

बड़ा अन्याय करते हैं जो देश की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठ-भूमि को एकदम भुलाकर नये साहित्य को एक आकस्मिक और अनपेक्षित घटना के रूप में देखते हैं। पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों में—यानी सन् '३० का आन्दोलन खत्म होने से लेकर १५ अगस्त के राजनीतिक परिवर्त्तन तक—प्रगतिशील साहित्य ने स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ आगे बढ़कर उसकी चेतना को प्रतिबिम्बित किया है। इन वर्षों में यह नई विचारधारा एक महान् प्रेरणा और रचनात्मक शक्ति के रूप में हमारे सामने आती है। निरालाजी के रेखा-चित्र, पन्तजी की 'ग्राम्या', सुमन और दिनकर की ओजस्वी कवितायें, नरेन्द्र की 'मिट्टी और फूल', राहुलजी और यशपाल के उपन्यास आदि आदि उसी भावना के परिणाम हैं जो राजनीतिक सुधारवाद से असन्तुष्ट होकर नई साम्राज्य-विरोधी क्रान्ति और उसके बाद समाज के नये निर्माण को अपना लक्ष्य बना रही थी।

१९३९ में युद्ध छिड़ने से इस सहज विकास को एक धक्का लगा। देश में एक राजनीतिक गतिरोध पैदा हो गया। ब्रिटेन से काफ़ी मोल-भाव किया गया लेकिन नतीजा कुछ न निकला। जनता की माँग थी कि नयी राष्ट्रीय सरकार बने परंतु साम्राज्यवादी इस माँग को बराबर अनसुनी कर रहे थे। फ़ासिस्टों का आक्रमण यूरुप तक सीमित न रह कर एशिया के भी एक बहुत बड़े हिस्से को लपेट चुका था। हिन्द एशिया, वियतनाम, बर्मा आदि दक्षिण पूर्वी एशिया के तमाम भाग जापानियों के अधिकार में आ गये। जापानी बम भारत के नगरों पर भी गिरने लगे। देश की रक्षा का कोई समुचित उपाय न हो रहा था। जापान आक्रमण करना चाहता था, यह बात निर्विवाद है। चीन, बर्मा और दूसरे देशों में उसने स्वाधीनता संग्राम नहीं छेड़ रक्खा था, यह भी निर्विवाद है। हिन्दुस्तान में कोई भी राजनीतिक विचारधारा

या पार्टी खुलकर यह नहीं कहती थी कि जापान का आक्रमण होना चाहिये और उससे हिन्दुस्तान को आज़ादी मिलेगी, लुकछिप कर कुछ लोग चाहे जो प्रचार करते रहे हों। आज़ाद हिन्द फ़ौज के मुक़दमे और दूसरे बयानों से यह बात ज़ाहिर हुई कि जापानी फ़ासिज़्म और आज़ाद हिन्द फ़ौज का पटरा नहीं बैठता था। फ़ासिस्टों की कोशिश थी कि इस फ़ौज को अपनी विजय का साधन बनायें। देश की स्वाधीनता चाहनेवाले साधारण सिपाहियों की इच्छा थी कि उनके चंगुल में न फँसकर अपने संगठन को स्वतंत्र रखते हुये ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मोर्चा लें। इस साम्राज्य विरोधी भावना के कारण—फ़ासिस्टों से किसी गुप्त मैत्री के कारण नहीं—आज़ाद हिन्द फ़ौज का प्रश्न आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया। लेकिन इसके पहिले, देश में बंगाल के अकाल की भीषण दुर्घटना हो चुकी थी। इस घटना ने हिन्दी के नये-पुराने प्रायः सभी लेखकों को आन्दोलित किया। नये लेखकों में रांगेयराघव ने अकाल पीड़ित बंगाल की यात्रा की और रिपोर्ताज लिखे। अमृतलाल नागर ने 'महाकाल' उपन्यास लिखा जिसकी घटनायें उन्होंने चित्तप्रसाद आदि ऐसे लोगों से एकत्र की थीं, जो अकाल की विभीषिका से बहुत ही निकट से परिचित थे। काव्य-साहित्य में श्रीमती महादेवी वर्मा, बच्चन, दिनकर, सुमन, नरेन्द्र आदि ने स्मरणीय कवितायें लिखीं। जो लोग साहित्य को युगविधायक सामाजिक घटनाओं से अछूता रखना चाहते थे, उन्हें मुँह की खानी पड़ी। छायावाद का विद्रोही सामाजिक पक्ष अधिक पुष्ट हुआ और प्रगतिशील विचारधारा से घुलमिल कर एक हो गया; उसका पलायनवादी पक्ष निस्तेज होकर धराशायी हो गया। छायावाद के समर्थक कुछ असमर्थ आलोचकों को छोड़कर छायावादी कवियों ने स्वयं पहले की काल्पनिक उड़ानों की निन्दा की और साहित्य में सामाजिक यथार्थ

की माँग की। हमारे साहित्य में कौन सा परिवर्तन हो रहा था, यह महादेवीजी का 'अपनी बात' (बंग दर्शन) में बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने लिखा था:—"आज ढाई करोड़ दरिद्र किसान और खेतों में काम करने वाले श्रमिकों का वर्ग है भिक्षुक, आजीविका है भिक्षाटन, विनोद है व्याधि और लक्ष्य है मृत्यु। अपने उदर की पूर्ति करने में भी असमर्थ यह धरती के पुत्र जलने के लिये दौड़ आनेवाले पतिंगों के समान नगरों की ओर दौड़ पड़े। यहीं से मानो उनकी श्मशान यात्रा आरंभ हो जाती है। अब इन ग्रामीणों के हृदय में धरती से मिली स्वर्णराशि का उल्लास था, आँखों में आत्मविश्वास के चित्र थे, पैरों में कर्त्तव्य की दृढ़ता थी और हाथों में वरदान का बल था, तब भी नगरों ने उन्हें कभी हाथ भर छाया नहीं दी। फिर आज तो अट्टालिकाओं ने इन्हें डगमगाते पैरों, काँपते हाथों, सभीत आँखों और टूटे हृदयों के साथ उन भिक्षुकों की पंक्ति में बैठते देखा जो अपनी विकलाङ्गता का प्रदर्शन करके ही जीविका प्राप्त करते हुये फुटपाथ के रंगमंच पर ही जन्म मृत्यु का अभिनय करते हैं।.......

"आज के विराट् मानव की व्यथा का समुद्र आज के लेखक को, जीवन का कोई महान तथ्य, कोई अमूल्य सत्य न दे सकेगा, ऐसा विश्वास कठिन है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला स्पर्श करके हमारे कलाकारों, लेखकों की तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा। किंतु ऐसी कल्पना करना भी सच्चे कलाकार का अपमान करना है। यदि वह आधुनिक युगीन हिंसा के ज्वार में स्थिर रह सके, आज की भेद-बुद्धि का बादल उसकी चेतना को न ढँक सके और वर्तमान सामाजिक विकृति तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता की धूल उसकी दृष्टि को धुँधला न कर सके, तो वह कल्याण पथ का पंथी न भ्रान्त होगा, न विचलित।"

विवेकशील पाठक देखेंगे कि ऊपर कही हुई बातें केवल भावुकता

का परिणाम नहीं हैं। इनमें मनुष्य के प्रति सहानुभूति के साथ-साथ एक दृढ़ मनोबल भी है जो मनुष्य के ही प्रयत्न से इस दुरवस्था को दूर करके एक नयी व्यवस्था को जन्म देने में विश्वास करता है। यहाँ पर साहित्य को कल्पना-विलास की वस्तु न मानकर समाज को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने वाली एक महान् प्रेरक-शक्ति के रूप में देखा गया है। साहित्य की पुरान-पन्थी विचारधारा से इस नई चेतना का अंतर स्पष्ट हो जाता है। साहित्य कुछ रसिकों और मर्मज्ञों की वस्तु न रहकर लेखक को चुनौती देता है कि मानव-व्यथा के समुद्र से वह जीवन का महान् तथ्य और अमूल्य सत्य निकाले। साम्प्रदायिक संकीर्णता और सामाजिक विकृति से अपने को बचाकर ही वह सिद्ध लेखक बन सकता है। ऊपर के वाक्यों में दुर्भिक्ष की ज्वाला के बदले यदि १६४७ का जनसंहार लिख दें, तो ये पुरानी बातें आज भी हमारे लिये एक चेतावनी का काम करेंगी। सामाजिक संकीर्णता की बात पहले से सौ गुनी ज्यादा खरी उतरती है। इस युग में तो और भी लेखकों के लिये आवश्यक है कि वे अपने मानवीय आदर्शों की रक्षा करें और समाज को मध्यकालीन बर्बरता की ओर लौटने से रोकें।

बंगाल के अकाल के बाद कुछ दिन के लिये साहित्य में फिर ठहराव आया। साम्राज्य-विरोधी क्रान्ति का पथ धुँधला हो रहा था। देश में चोर-बाज़ारी और मुनाफ़ाखोरी नाम की व्याधियाँ फैल रही थीं। उच्च और मध्य वर्ग के लोगों का नैतिक धरातल बड़ा नीचा हो रहा था। देश में पूँजीवाद दिन पर दिन एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में सामने आ रहा था। उसके हाथ में प्रचार और प्रकाशन के साधन थे और वह अपनी स्वार्थ-वृत्ति और असंख्य जनता को भूखा और नंगा रखने के अपराध को छिपा रहा था। नये मन्त्रि-मण्डल बनने के बाद भी अब तक चोर बाज़ारी और मुनाफ़ाखोरी

निर्मूल नहीं हो सकी। इससे पता चलता है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था और उसकी नैतिकता पर कैसा घातक आक्रमण निहित स्वार्थों ने किया है।

नेताओं के छूटने के बाद जनसाधारण में नई आशा पैदा हुई। बड़े-बड़े प्रदर्शन हुये और यह विश्वास दृढ़ होने लगा कि अब गति-रोध मिट जायगा और वर्षों बाद पुरानी स्वाधीनता की साध पूरी होगी। आज़ाद हिन्द फ़ौज के बन्दियों को लेकर प्रबल आन्दोलन छेड़ दिया गया। देश के जोशीले नवयुवकों ने फिर पहले की तरह अँग्रेज़ी फ़ौज और पुलिस की गोलियों का सामना किया। इस आन्दोलन से बहुत से लेखक प्रभावित हुए और आज़ाद हिन्द फ़ौज पर अनेक कवितायें लेख, कहानियाँ लिखी गयीं। इससे पता चलता है कि जनता की साम्राज्यविरोधी भावना कितनी प्रबल थी। इस भावना से लाभ उठाकर दक्षिण पंथी नेताओं ने चुनाव में वोट लिये और वोट लेने के बाद आज़ाद हिन्द फ़ौज की समस्या से तटस्थ हो गये। काफ़ी दिन बाद बन्दियों को रिहा किया गया, लेकिन स्वाधीन भारत की फ़ौज में उन्हें जो उचित स्थान मिलना चाहिये था, वह अभी तक उन्हें नहीं दिया गया।

इसी समय यूरुप और एशिया के अनेक देशों में युद्धोत्तर काल का उग्र राजनीतिक आन्दोलन सशस्त्र क्रान्ति का रूप ले रहा था। वियत-नाम और हिन्द-एशिया—भारत के प्रान्तों जैसे—देशों ने भी डच, फ्रांसीसी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ़ हथियार उठा लिये थे। सुमन की कविता 'नई आग है, नई आग है' में एशिया की जाग्रत जनता का नया स्वर सुनाई देता है। उधर पूर्वी यूरुप के स्वाधीनता-आन्दोलनों ने ब्रिटिश और अमरीकी पूँजी को निकाल बाहर किया। पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, ज़ेकोस्लोवाकिया आदि देशों ने वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त की। यूनान का प्राचीन देश पहले

तुर्कों और बाद को अँग्रेज़ों का उपनिवेश बन गया था। वहाँ की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अँग्रेज़ों से मिलकर जनता के स्वाधीनता आन्दोलन को दबाना चाहती थीं। इनके विरुद्ध जनवादी शक्तियों ने अपना नया मोर्चा बनाया और सशस्त्र लड़ाई छेड़ दी। दिनकर ने लिखा—

"खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुये लोग
उठने लगे ले मशाल,
खड़ा हो, कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है ज्वाला कराल।"

इस तरह हिन्दी के उग्र-पंथी कवियों ने यूरुप और एशिया के स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति प्रकट की। यह इस बात की सूचना देता है कि जो लोग राष्ट्रीयता के नाम पर ब्रिटिश या अमरीकी साम्राज्य से हिन्दुस्तान का गठबन्धन करना चाहते हैं और सोवियत विरोधी प्रचार करके अपने मन्सूबों को ढँकना चाहते हैं, उनका विरोध हिन्दी के सभी सचेत लेखक करेंगे।

ब्रिटिश साम्राज्य के युद्धोत्तर कालीन संकट में हिन्दुस्तान की जनता ने स्वाधीनता के मोर्चे को मज़बूत बनाया। फ़ौज, पुलिस डाक-तार आदि के विभागों में भी यह साम्राज्य विरोधी चेतना आग बनकर फैल गयी। तमाम हिन्दुस्तान को हिला देनेवाली डाकियों की हड़ताल हुई। किसानों ने ज़मींदारी प्रथा को मिटाने के लिये खुद कदम उठाया। ब्रिटिश शक्ति के हिन्दुस्तानी अड्डों, देशी राज्यों में, वहाँ की प्रजा ने नये नये आन्दोलन चलाये। विशेषरूप से शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में काश्मीर की जनता ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। सबसे बड़ी घटना बम्बई का नाविक-विद्रोह थी। सन् '५७ के बाद पहली बार हिन्दुस्तानी तोपों ने अँग्रेज़ी फ़ौजों पर गोले उगले। बम्बई की तमाम जनता ने विद्रोहियों का साथ दिया।

नाविकों ने नेताओं के कहने से आत्मसमर्पण किया। लेकिन अँग्रेज़ों को नहीं, भारत को। इन क्रान्तिकारी घटनाओं का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। नये गीत, कवितायें और कहानियाँ इन सब घटनाओं पर लिखी गईं। परंतु साहित्य की यह क्रांतिकारी धारा अच्छी तरह पुष्ट न हो पायी। दक्षिण पंथी नेताओं के साथ सुलह की बातचीत करके अँग्रेज़ बराबर कोशिश कर रहे थे कि इस क्रान्तिकारी उठान को रोक ही न दिया जाय, वरन् हिन्दुस्तान को एक नये गृह युद्ध की आग में झोंक दिया जाय। यह दाँव चलाने के लिये राजसत्ता की बागडोर उन्होंने कांग्रेसी नेताओं को सौंप दी। उसके बाद जो वह चाहते थे वही हुआ। भारत के बँटवारे की ज़िम्मेदारी उन्होंने हिन्दुस्तान के नेताओं पर डाली। फ़ौज और पुलिस के भीतर घुसे हुये अँग्रेज़ अफ़सरों ने अपने सिखाये पढ़ाये पुराने साथियों की मदद से बड़े पैमाने पर नरसंहार कराया। हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रों का प्रचार ज़ोरों से होने लगा। देश की सामन्ती और पूँजीवादी शक्तियाँ अल्पसंख्यकों को राजनीतिक दाँव-घात के लिये गोटी बनाकर खेलने लगीं। उनका यह प्रयत्न अब भी जारी है कि देश में अराजकता पैदा करके वे साम्राज्यविरोधी ताकतों को बिल्कुल निकम्मा कर दें और जिन अँग्रेज़ों की छत्र-छाया में वे अब तक पलती रही थीं, उन हिन्दुस्तान के दुश्मनों को फिर यहाँ बुलालें। ये प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ आज कितनी मुँहज़ोर हो गई हैं, इसका पता इसी बात से लगता है कि राष्ट्रीय सरकार में ऐसे-ऐसे लोग घुस गये हैं जिनका स्वाधीनता आन्दोलन से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यही नहीं, अँग्रेज़ों से मिलकर वे स्वाधीनता आन्दोलन का बराबर विरोध भी करते रहे थे।

आज यह किसी से छिपा नहीं है कि हिन्दुस्तान का स्वाधीनता आन्दोलन एक बहुत बड़े संकट में है। इस संकट को गहरा करने

वाले खुद अँग्रेज़, देशीराज्यों में उनकी कठपुतलियाँ राजे-महाराजे, बड़े-बड़े ताल्लुकेदार और मुनाफ़ेख़ोर पूँजीपति हैं। हिन्दुस्तान से अँग्रेज़ों के जाने पर दूसरी मंज़िल यही थी कि इन सब को खत्म करके एक ऐसा जनतंत्र कायम किया जाय जिसमें कोई नंगा या भूखा न रहे, जिसमें ज़मीन किसानों की हो और बड़े-बड़े कारखानों पर राज्य का अधिकार हो। इस मंज़िल तक पहुँचने से पहले ही जनता के दुश्मनों ने मिल-जुल कर एक गहरी खाई खोद डाली है। अँग्रेज़ों के तलवे चाटने वाले सामंती पिट्ठू आज अपने को निर्लज्जता से प्रताप और शिवाजी का वंशज कहकर हिन्दू धर्म के रक्षक बनकर सामने आते हैं। जिन मुनाफ़ाखोरों ने देश की जनता को नङ्गा और भूखा रक्खा था, वे राष्ट्रीय पत्रों के संचालक बने हुए हैं। वे ज़मींदार जो अँग्रेज़ी अफ़सरों को दावत देते रहे और घूसखोर पुलिस के अफ़सरों के मित्र बने रहे, वे कांग्रेस के बहुत बड़े बनकर हिन्दुत्व की रक्षा करने निकल पड़े हैं। इस संकट काल में प्रगतिशील शक्तियाँ त्रस्त होकर चुपचाप नहीं बैठ गयीं। जहाँ-तहाँ उन्होंने शान्ति आन्दोलन आरम्भ किया है। हर रियासत में अल्पसंख्यकों का नर संहार नहीं हो रहा है। मैसूर और त्रावनकोर की प्रजा ने बड़े-बड़े आन्दोलनों को जन्म दिया है। सबसे ज़्यादा मज़दूर आन्दोलन और कम्युनिस्ट पार्टी ने देश के सच्चे कर्णधारों के समान इस अराजकता की अग्नि को बुझाने का ऐतिहासिक प्रयत्न किया है। हिन्दी लेखकों ने अपने आपको साम्प्रदायिकता की धारा में बहने से रोका है। मासिक-पत्रों में पच्चीसों कहानियाँ, कविताएँ आदि इस साम्प्रदायिक विद्वेष के विरुद्ध निकलती रही हैं। आज देशभक्ति और प्रगतिशीलता की कसौटी यही है कि अँग्रेज़ों की कूटनीति से छेड़े हुए इस गृहयुद्ध की ज्वाला से हम अपने स्वाधीनता आन्दोलन को निकाल पाते हैं या नहीं। साम्प्रदायिकता का प्रचार करने वाले

पूँजीवादी पत्रों ने नये उत्साह से प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन पर हमला शुरू कर दिया है। वे जानते हैं कि साहित्य में यह नई विचारधारा ही उनके ज़हरीले प्रचार का खण्डन करती है। वे कभी इस विचार धारा को रूस से आई हुई बताते हैं, कभी उसे कम्युनिस्टों का षड्यंत्र कहते हैं। कुछ और लोग दूर की कौड़ी लाकर उसका सम्बंध जिन्ना और मुस्लिम लीग से भी जोड़ते हैं। उनका लक्ष्य बहुत स्पष्ट है। वे शान्ति के आन्दोलन को निष्फल करके गृहयुद्ध को उसकी आख़िरी मंज़िल तक ले जाना चाहते हैं। प्रगतिशील साहित्य के विरोध में कितनी सचाई है, इसकी कसौटी यह है कि उसके विरोधी शान्ति आन्दोलन को कितना बढ़ाते हैं और साम्प्रदायिक द्वेष को कितना कम करते हैं। वे खुलकर अपनी साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय कहते हैं लेकिन उनकी इस राष्ट्रीयता का हमारे अब तक के स्वाधीनता आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ और उनके मुख-पत्र शान्ति और स्वाधीनता के आन्दोलन को जितना कमज़ोर समझ बैठे हैं, उतना यह नहीं है। उसी के साथ हिन्दी का नया साहित्य जुड़ा हुआ है। उनकी पराजय निश्चित है क्योंकि साम्प्रदायिकता से राष्ट्रीयता बड़ी है, बर्बरता से मनुष्यता बड़ी है, अँग्रेज़ी कूटनीति से स्वाधीनता प्रेम बड़ा है, कठपुतली राजाओं और मुनाफ़ाखोरों से भारतीय जनता की सम्मिलित शक्ति बड़ी है। इसीलिये साम्प्रदायिक विद्वेष और गृहयुद्ध का प्रचार करने वाले, हिन्दी भाषा और साहित्य को कलंकित करने वाले इन पूँजीवादी पत्रों के अंधप्रचार पर भी साहित्य की प्राणवंत नयी चेतना विजय पायेगी।

(अक्तूबर '४७)

गोस्वामी तुलसीदास और मध्यकालीन भारत

गोस्वामी तुलसीदास भारतवर्ष के अमर कवि हैं, इसमें किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु वे मध्यकालीन भारत के प्रतिनिधि कवि हैं, इसके बारे में लोगों को शंकाएँ होती हैं। देश की सामाजिक प्रगति में उनका स्थान कहाँ है, उन्हें प्रगति का समर्थक कहा जाय या प्रतिक्रिया का, हिन्दू समाज पर जो उनके धर्म और नीति की गहरी छाप है, उससे देश का कल्याण हुआ है या अकल्याण, इन प्रश्नों को लेकर लोगों में यथेष्ट मतभेद है। गोस्वामीजी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे, स्त्रियों को सहज अपावन मानते थे, 'राजा राम' के उपासक और उनके गुणगायक थे; तब प्रगति से उनका सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है? डा० ताराचन्द ने "भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव" नाम की अपनी पुस्तक में रामानन्द की शिष्य-परंपरा को दो भागों में बाँटा है: पहली को 'कन्ज़र्वेटिव' और दूसरी को 'रैडिकल' बताया है। पहली के नेता तुलसीदास हैं और दूसरी के कबीर। इसके विपरीत पं० रामचन्द्र शुक्ल कबीर और दूसरे निर्गुणपंथी साधुओं और सुधारकों को ढोंगी और समाज को बरगलाने वाला समझते हैं। वह गोस्वामीजी को न रैडिकल कहते हैं, न कन्ज़र्वेटिव वरन् उन्हें लोकहित का उन्नायक मानते हैं। शुक्लजी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक हैं, इसीलिए वह उसके लिए किसी तरह की क्षमा-याचना करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। वरन् उनका 'लोकहित' इस धर्म की स्थापना में ही है जिसे कबीर आदि निर्गुणपंथी ढहाये दे रहे थे। क्या तुलसीदास का लोकहित चिन्तन वर्णाश्रम धर्म तक ही सीमित है?

प्रत्येक कवि और महान् लेखक अपने युग से प्रभावित होता है; युगसत्य उसकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है, युगसत्य की व्यंजना से कवि अपने युग को भी प्रभावित करता है; उसके परिवर्तन में, उसकी प्रगति में उसका हाथ होता है। ऐसा कवि और लेखक ही महान् साहित्यकार हो सकता है। परन्तु युग को परखने में, परिस्थितियों को आँकने में और उनसे कवि का सम्बन्ध जोड़ने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। रूसी लेखक तोल्स्तोय क्रान्ति से पराङ्मुख थे, फिर भी लेनिन ने उन्हें 'रूसी क्रान्ति का दर्पण' कहा था। इसलिये कहा था कि अपने समय की महान सामाजिक प्रगति के कई पहलुओं की प्रतिच्छवि उनकी रचनाओं में आई थी। शेक्सपियर राजसत्तावादी था, फिर भी मार्क्स उसके साहित्य का अभिनन्दन और समर्थन करते थे; इसलिये कि सामन्ती संस्कृति के विरुद्ध नवजागरण (रिनैसांस) का नेता शेक्सपियर निश्चय ही एक विद्रोही कवि था। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के अग्रदूत तब के प्रसिद्ध दार्शनिक राजसत्तावादी थे; फिर भी क्रान्ति के लिये उनका जो महत्त्व था, उसे सभी जानते हैं। यह महत्त्व इसलिये था कि उन्होंने विचारशैली में, चिन्तन-पद्धति में ही, एक क्रान्ति कर दी थी जिसका व्यापक प्रभाव फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति में प्रतिफलित हुआ। गोस्वामी तुलसीदास के वर्णाश्रम धर्म पर विचार करते हुये इन उदाहरणों को मन में रखना अनुपयोगी न होगा। गोस्वामीजी महान हैं, क्योंकि उन्होंने ब्राह्मणों को भूसुर कहकर लोकमर्यादा की रक्षा की,—यह तर्क भ्रामक है। वे प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया है—यह भी एक कुतर्क है जो सामाजिक संघर्ष और प्रगति को ठीक-ठीक न पहचानने के कारण उत्पन्न होता है।

तुलसी-साहित्य का सामाजिक महत्त्व परखने के पहले उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक बार दृष्टि डालना आवश्यक है।

तुलसीदास का काल मुगल-साम्राज्य के वैभव का काल था। अकबर और जहाँगीर उनके सम-सामयिक थे। हुमायूँ और शेरशाह के अस्थायी शासन के बाद अकबर ने मुगल-सिंहासन का पाया जमा लिया था और वह धीरे-धीरे अपना राज्य-विस्तार कर रहा था। अकबर ने धर्मान्धता और कट्टरपन को गहरी ठेस पहुँचाई थी और हिन्दू-मुस्लिम एकता की 'अपनी' नीति से देश में शान्ति स्थापित की थी। जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्लाम की रक्तरंजित प्रगति को रोकने के लिये रामचरित मानस की रचना की, उन्हें यह न भूलना चाहिये कि कट्टर मुल्ला और मौलवी अकबर पर यह दोष लगाते थे कि उसने इस्लाम से मुँह फेर लिया है। उन्हीं के अनुकरण पर स्मिथ जैसे इतिहासकार अकबर को अपना धर्म त्यागने का दोषी ठहराते हैं। यह दोषारोपण अनुचित है, परन्तु उससे यह भी स्पष्ट है कि अकबर इस्लाम का कट्टर प्रचारक न था। उसने जज़िया बन्द करा दिया था और जन साधारण को एक व्यापक धर्म-सम्बन्धी स्वाधीनता दे दी थी।

अकबर राजपूत सरदारों को अपना सम्बन्धी बनाकर अपने शासन को दृढ़ करना चाहता था। उसका मुख्य ध्येय राजनीतिक था। हिन्दू सामन्तवाद के बिखरे हुये विरोध को समेटकर अकबर ने उसे अपना समर्थक बना लिया। उसकी नीति बहुत कुछ विक्टोरिय की सी थी: सामन्त उसके विरोधी न होकर समर्थक बन गये। अकबर का शासन हिन्दू और मुस्लिम सामन्तवाद का संयुक्त शासन था उसकी हिन्दू-मुस्लिम एकता का क्रियात्मक रूप यही था। फिर भी उसकी धर्म-सम्बन्धी नीति उदार थी। उस समय प्रश्न हिन्दू-धर्म की रक्षा का नहीं था। यह प्रश्न अकबर के पहले का था। उसकी उदार धार्मिक नीति के सामने गोस्वामी तुलसीदास ने यदि हिन्दू-धर्म की रक्षा की तो इसमें उनकी कौन सी बड़ाई हुई। वास्तव में गोस्वामीजी

ने हिन्दू-धर्म की रक्षा की, परन्तु अकबर और इस्लाम से नहीं; उन्होंने रक्षा की उसकी अपने आन्तरिक शत्रुओं से, मतमतान्तर, द्वेष, कलह अन्ध-विश्वास से। परन्तु उनकी दृष्टि इस क्षेत्र से बाहर भी गई थी।

मुग़ल वैभव का यहाँ चित्र देने की आवश्यकता नहीं है। समस्त संसार में अद्वितीय उनके दरबारों की चकाचौंध की कल्पना मात्र कर लीजिये। उनके वैभव में योग देनेवाले हिन्दू और मुसलमान राजा और सरदार थे। (विशेष विवरण के लिये देखिये श्री राम प्रसाद खोसला की पुस्तक 'मुग़ल किंगशिप एंड नोबिलिटी।') राज्य की आमदनी का एक ही उद्गम था—भूमि। जैसा कि अंग्रेज़ इतिहास-कारों ने लिखा है, भूमि से ही मुख्य आमदनी होने के कारण हिन्दु-स्तान में "रेवेन्यू" कहने से लोगों को "लैंड रेवेन्यू" का ही बोध होता है। इसी भूमि-कर के आधार पर राजदरबारों की शोभा थी और उसी के बल पर अकबर ने गुजरात से लेकर बंगाल तक अपना राज्य-विस्तार किया था। इस प्रकार मध्यकालीन भारत में मुख्य उत्पादक शक्ति किसान थे और उनके उत्पादन से लाभ उठानेवाले हिन्दू और मुगल सामन्त थे, जिनका मुख्य संगठन केन्द्र अकबर का दरबार था।

भूमि-सम्बन्धी कर-व्यवस्था उचित थी या अनुचित, यह प्रश्न बाद का है। मुग़ल शासन में जो व्यवस्था थी, उसका पालन कहाँ तक होता है, मुख्य प्रश्न तब यही था। शेर शाह ने कर-सम्बन्धी व्यवस्था में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया था। परन्तु उसके शासन का शीघ्र ही अन्त हो गया। अकबर के शासन का आरम्भ होने के पहले देश में भयानक अकाल पड़ा। दो साल के युद्धों से जनता वैसे ही त्राहि त्राहि कर रही थी। उस पर महामारी का भी प्रकोप हुआ। गोस्वामी तुलसीदास को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में फिर इस महामारी का सामना करना पड़ा। फतेहपुर सीकरी और

सिकन्दरा के स्मारकों में लिखे हुए इतिहास का दूसरा पक्ष यह अकाल और महामारी है।

शासन के आरम्भिक वर्षों में अकबर ने शेरशाह की बनाई हुई लगान की दर से किसानों से कर वसूल किया। शेरशाह ने अन्न की जो मात्रा निश्चित की थी, उसके दाम लगाकर लगान तै किया जाता था। यह दाम स्वयं अकबर तै करता था और हर जगह एक ही दाम लगाये जाते थे। परन्तु चीज़ों की क़ीमत तो जगह-जगह पर अलग होती थी, इसलिए यह लगान की दर बड़ी ग़लत-सलत थी। अकबर के शासन के दसवें साल में अलग-अलग जगहों में भाव के अनुसार लगान तै किया गया। पन्द्रहवें साल में लगान की नयी दरें तैयार हुईं। हर परगने की पैदावार के अनुसार उसके एक तिहाई का दाम लगाकर लगान तै किया गया। दस साल तक यह क्रम चलता रहा। लेकिन किस फसल में भाव कहाँ पर कितना हो, इस सबका हिसाब करना कठिन था। हर फसल के लिए जगह-जगह के भाव सम्राट् ही तै करता था। युद्ध आदि की आवश्यकताओं के कारण अकबर को बराबर चलते रहना पड़ता था। इसलिए उसके हुकुमनामे निकलने में देर हो जाती थी और सारी व्यवस्था की गति बन्द हो जाती थी। स्थानीय भावों की ग़लत रिपोर्टें भी उसके पास भेजी जाती थीं। इसलिए दस साल के बाद अकबर ने भाव तै करने वाला क़िस्सा खत्म कर दिया और बीघों के हिसाब से लगान तै कर दिया।

मालगुज़ारी की एक दूसरी समस्या उन लोगों की थी, जिन्हें तनख़ाह के बदले ज़मीन दे दी जाती थी। ज़मीन का सरकारी लगान ही उनकी तनख़ाह होती थी। १५७३ में अकबर ने इस प्रथा का अन्त कर दिया और सिक्कों में तनख़ाहें देने का प्रबन्ध किया। परन्तु १५८० में भूमि देने का फिर चलन हो गया।

मालगुज़ारी विभाग को चलाना बड़ी जीवट का काम था। अन्न पैदा करने से ज़्यादा कठिन हर जगह भाव आदि का हिसाब करके लगान तै करना था। घूसखोरी और अत्याचार के लिए द्वार खुला हुआ था और शाह मन्सूर के प्रबन्ध में तो बस हद हो गई थी। जिन लोगों को भूमि मिली हुई थी, वे तो किसानों के भाग्यविधाता थे। जो राजा अकबर को सम्राट् मानकर कर देते थे, उनकी व्यवस्था अलग थी। ऐसे ही राज्य के दूर के सूबों में वही व्यवस्था न थी जो आगरा और अवध में थी, जहाँगीर के शासनकाल में यह व्यवस्था भी टूटने लगी और शाहजहाँ के समय में किसानों की बुरी दशा हो गई। किसान ज़मीन छोड़-छोड़कर भागने लगे और औरंगज़ेब को यह आज्ञा निकालनी पड़ी कि अगर कहने से किसान ज़मीन न जोतें तो उन्हें कोड़ों से पिटवाकर खेत जुतवाये जायँ। (मोरलेंड-फ्रॉम अकबर टु औरंगज़ेब ; पृ० २५४)

इस नीरस गाथा का तात्पर्य यह है कि मध्यकालीन भारत में मालगुज़ारी वसूल करने में बड़ी धाँधली होती थी। हमने मध्यकाल के जिन सुनहले स्वप्नों की कल्पना कर रखी है, वे वास्तविकता की भूमि पर चूर हो जाते हैं। उस समय का मुख्य संघर्ष सामंत और किसान के बीच था। ज्यों-ज्यों हम औरंगज़ेब की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों संघर्ष तीव्र होता जाता है। अकबर से पहले विभिन्न युद्धों के कारण उस पर पर्दा पड़ा रहा। विशेष कर हिन्दू मुस्लिम राज्य की समस्या ने मदद की। औरंगज़ेब की कट्टर धार्मिक नीति के कारण फिर इस संघर्ष पर पर्दा पड़ गया और उस समय पड़ा जब कि यह संघर्ष प्रखर हो रहा था।

इस प्रकार वर्ग-संघर्ष दबा-दबा रहा और दूसरी-दूसरी समस्याओं से लोग उलझे रहे। इसलिए हम किसी मध्यकालीन कवि से यह आशा नहीं कर सकते कि वह वर्ग-संघर्ष का स्पष्ट चित्रण करेगा, कि वह

राजाओं और सामन्तों के विरुद्ध किसानों के राज्य की माँग करेगा। परन्तु बिना अपनी रूप रेखा स्पष्ट किये हुए भी यह संघर्ष विद्यमान था और किसी न किसी रूप में उस समय के महान् साहित्यिकों की रचनाओं में उसकी छाया मिलेगी ही। अकबर और जहाँगीर के व्यक्तिगत जीवन को, उनके युद्धों को, उनके स्थापत्य-सम्बन्धी निर्माण-कार्य को आधुनिक इतिहास-पुस्तकों में जो एकांगी महत्व प्राप्त है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि ये इतिहासकार भी उत्पादन और वर्ग-शोषण की समस्याओं के प्रति सचेत हो पाये हैं।

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी"—इस प्रसिद्ध पंक्ति में तुलसीदास ने अपनी भौतिक जागरूकता का परिचय दिया है। कुछ लोग इस कवित्त को अपवाद कहकर कवि की इस जागरूकता से आँखें चुराना चाहते हैं। परन्तु यह छन्द अपवाद नहीं है। जैसा कि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, गोस्वामीजी ने कलिकाल के वर्णन में अपने समय का ही चित्रण किया है। "कलि बारहि बार दुकाल परैं" आदि पंक्तियाँ कल्पनालोक का चित्रण नहीं करतीं। उनका तथ्य तुलसी के युग का तथ्य है और इतिहास उसका साक्षी है। बचपन में उन्होंने जो कष्ट पाया था, उसका मार्मिक वर्णन उनके छन्दों में मिलता है। कुछ विद्वान् उसे भगवान् को फुसलाने का बहाना समझते हैं। उनकी समझ में महाकवि तुलसीदास के लिए यह कहना कि बचपन में उन्हें रोटी को तरसना पड़ा, उनका अपमान करना है। उनकी समझ में बाहुपीड़ा का वर्णन भी एक कल्पना है। काशी में महामारी का वर्णन समस्त काशी-निवासियों को मोक्ष-दिलाने का बहाना है। अपने को पतितों का सिरताज कहना और बात है, अन्नकष्ट, महामारी, बाहुपीड़ा आदि का यथार्थ वर्णन करना बिल्कुल दूसरी बात है। तुलसीदास जन्म भर अपने

कष्टों को नहीं भूले; इस जन्म में उनके कष्टों का अन्त हो गया, यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसी कारण दुखियों और पीड़ितों के प्रति उन्हें सहज सहानुभूति थी और मध्यकाल से लेकर अब तक मानव-सुलभ सुहृदयता के सबसे बड़े कवि तुलसीदास ही हैं। सहृदयता के अद्वितीय प्रतीक अयोध्याकांड के भरत हैं।

अपने समय की दुरवस्था के कारण ही उन्होंने रामराज्य की कल्पना की। दुरवस्था के कारण ही उन्होंने कहा कि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।" उत्तरकांड में एक ओर राम-राज्य की कल्पना, दूसरी ओर कलियुग की यथार्थता द्वारा तुलसीदास ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया है। किसी भी दूसरे कवि के चित्रों में ऐसी तीव्र विषमता नहीं है; किसी के चित्रण में यह "कंट्रास्ट" नहीं मिलता, परन्तु रामराज्य के सिवा अन्यत्र भी दुष्ट शासकों पर उन्होंने अपने वाग्बाण बरसाये हैं। उन्होंने भविष्य वाणी की है कि रावण और कौरवों के समान इन शासकों का भी अन्त होगा!

"राजकरत बिनु काज ही, करें कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज॥
राज करत बिनु काज ही, करहिं जो कूर कुठाट।
तुलसी ते कुरुराज ज्यों, जइहैं बारह बाट॥"

ये साधारण दोहे नहीं हैं; वे कवि का शाप हैं। कुठाट करने वाले राजाओं को उन्होंने कूर कहा है और उनके बारहबाट होने की कामना की है। अन्यत्र कहते हैं कि शोषण करने वाले बहुत हैं परन्तु जनता का हित करनेवाले कम हैं। पाठक "जगजीवन" और "सोषक" शब्दों पर भी ध्यान दें।

"तुलसी जगजीवन अहित, कतहूँ कोउ हित जानि।
सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक घन दानि॥"

स्वार्थ-साधक देवताओं और राजाओं को एक ही श्रेणी में खड़ा करके कवि ने उन पर एक साथ प्रहार किया है। देवता बलि चाहते हैं, राजा कर ; और बातों से उन्हें काम नहीं है।

'बलि मिस देखे देवता, कर मिस यादव देव।
मुए मार सुविचार-हत, स्वारथ साधन एव ॥''

एक अन्य दोहे में उन्होंने कहा है कि पृथ्वी गाय के समान है जो बच्छे जैसी प्रजा के लिए पन्हाती (अपना दूध उतारती) है ; उसके पैर बाँध देने से अर्थात् भूमि सम्बन्धी नियंत्रण से राजा के हाथ कुछ भी न लगेगा।

''धरनि-धेनु चारितु चरत, प्रजा सुबच्छ पन्हाइ।
हाथ कछू नहि लागिहै, किए गोड़की गाइ ॥''

यह सही है कि कलियुग के वर्णन में तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के नष्ट होने पर क्षोभ प्रकट किया है, परन्तु इसके साथ वे समाज की और व्यापक समस्याओं के प्रति भी सतर्क हैं। अन्नकष्ट, महामारी आदि का उन्होंने जो वर्णन किया है, उससे सिद्ध होता है कि वे अंगद की भाँति अपने युग की सामयिकता में पाँव रोपे हुए थे। तुलसीदास में आदर्श और यथार्थ का विचित्र सम्मिश्रण है। उनके सामाजिक वर्णन में, उपमाओं में, शब्द-चयन आदि में एक ऐसे व्यक्ति की छाप है, जिसमें अपनी भौतिक पृष्ठभूमि के प्रति असाधारण जागरूकता है।

उस जागरूकता की सीमाएँ अवश्य हैं। यह स्पष्ट है कि वे अपने युग की समस्याओं से परिचित थे, परन्तु उन समस्याओं की रूपरेखा अभी बिल्कुल स्पष्ट न हुई थी। किसान दुखी हैं, प्रजा पीड़ित है, राजा उत्तरदायित्व-शून्य हैं, परन्तु इस व्यूह से निकलने का मार्ग क्या है ? उन्होंने रामराज्य की कल्पना द्वारा मार्ग दिखाया। उन्होंने अभी यह अनुभव न किया था सामन्तवाद और राजसत्तावाद

का अन्त होने पर ही इस उत्पीड़न का अन्त हो सकता था। सामन्तवाद के साथ जातिप्रथा और वर्णाश्रम धर्म बँधा है। बिना एक का अन्त हुए दूसरे का अन्त असम्भव है। जहाँ सामन्तवाद होगा, वहाँ किसी न किसी रूप में यह जाति-धर्म भी होगा। अन्याय और शोषण का अन्त करने के लिए उन्होंने पुरानी व्यवस्था का ही सहारा लिया; राजा हों, परन्तु न्यायी और प्रजापालक हों; वर्णाश्रम धर्म हो परन्तु व्यवस्थित, रामभक्तों के लिए यथेष्ट अपवादोंवाला हो। ये युग की सीमाएँ थीं जिन्होंने गोस्वामीजी के चारों ओर एक लोहे की दीवार खड़ी कर दी थी। उसे तोड़ना ऐसे सहृदय कवि के लिए भी कठिन था।

इन सीमाओं को अतिरंजित करके देखना भूल होगी। तुलसीदास की सहृदयता और तार्किकता में सदा सामञ्जस्य नहीं रहता था। तर्क-बुद्धि से जिस वर्णाश्रम-धर्म को वे श्रेय समझते हैं, उसी के विरुद्ध उनकी सहृदयता विद्रोह करती थी। जहाँ-जहाँ उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ कहा है, वहाँ-वहाँ उनकी वाणी में एक तर्कशास्त्री की कठोरता है, कवि तुलसी का चिर-परिचित कोमल स्वर नहीं है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका मूल सन्देश यही है कि मनुष्य बड़ा होता है अपनी मनुष्यता से, न कि जाति और पद से। और भी, ब्राह्मणों की पुरोहिताई की वे निन्दा करते हैं। संस्कृत की तुलना में भाषा का समर्थन करके उन्होंने संस्कृत द्वारा पुरोहिती-शोषण पर सीधा कुठाराघात किया था। एक पद में अपने दोष गिनाते हुए उन्होंने यह भी कहा है—

> "विप्रद्रोह जनु बाँट पर्‌यो, हठि सबसों बैर बढ़ावौं।
> ताहू पर निज मति विलास सब सन्तन माँझ गनावौं।"

यदि कट्टर ब्राह्मण उन्हें विप्रद्रोही समझते रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

वर्णाश्रम धर्म और राजसत्तावाद के साथ नारी की पराधीनता जुड़ी हुई है। विरक्त होने के नाते वे उसे 'सहज अपावन' समझते हैं; पति-भक्ति को पराधीनता का रूप समझकर वे उस पर आँसू भी बहाते हैं। जिस तुलसी ने 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' लिखा था, उसी ने यह भी लिखा था—

'कत विधि सृजीं नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'

और किसी भी चौपाई में उनका हृदय ऐसा द्रवित नहीं हुआ जैसा यहाँ। यह पराधीनता सामन्तवाद के साथ ही समाप्त हो सकती थी। तुलसीदास की सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों के लिए पति-सेवा छोड़कर और गति नहीं है। परन्तु इसे वे पराधीनता समझते थे, यही क्या कम है। पतिसेवा का उपदेश देते हुए ही मैना ने पार्वती से यह बात कही थी।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनकी भक्ति का है। वे पराधीन जाति को भक्ति की बूटी देकर मोह-निद्रा में सुला रहे थे या उसे जगा रहे थे? क्या भक्ति मनुष्य को क्रियाशील भी बना सकती है?

विनयपत्रिका के पदों में उच्चतम भक्ति-काव्य हमें मिलता है। कोई भी मध्यकालीन कवि इस तरह स्पष्टता से अपने उपास्यदेव से नहीं बोला; किसी ने राम या कृष्ण को यों अपना हृदय चीरकर नहीं दिखा दिया। उनके आत्म-निवेदन में अपार वेदना है और यह वेदना उस व्यक्ति की है जिसे अपार कष्ट सहने पड़े हैं। यह उत्कट आत्म-निवेदन कल्पना-विलास से भिन्न है, जिसे भक्ति का नाम दिया जाता है। मांगकर खाने और मौज करनेवालों की भक्ति दूसरे ढंग की होती है। यह आत्मनिवेदन उस कवि का है जो अपने और दूसरों के कष्टों से पीड़ित है। उसके स्वर में आश्रयदाताओं और उनके

चाटुकारों के प्रति अवज्ञा है। स्वयं वह अपनी भक्ति के भरोसे सारी दुनिया का विरोध सहने को तैयार है।

'धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोई।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब,
काहू की जाति बिगार न सोई॥'

और,

'जागैं भोगी भोगही, बियोगी रोगी सोग बस
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।'

यह नीरस भक्ति नहीं, एक उद्दंड व्यक्तित्व का प्रदर्शन है। राम में भक्ति होते हुए भी तुलसीदास भक्त को ही बड़ा मानते थे। भरत को राम से बड़ा करके दिखाया था। अयोध्याकांड में भरत के आत्मत्याग के आगे राम का त्याग भी हलका पड़ जाता है।

भक्ति को प्रतिक्रियावाद के अन्तर्गत इसलिये समझा जाता है कि वह संसार की कठोर समस्याओं से मनुष्य का ध्यान दूसरी ओर खींच ले जाती है। भक्त उन्हें सांसारिक ढंग से नहीं सुलझाना चाहता। तुलसीदास संसार और उसकी समस्याओं के प्रति जागरूक हैं, अपने ढंग से उन समस्याओं का समाधान भी करते हैं। वे राम के उपासक हैं, राम के जो आदर्श पति, पुत्र और भाई हैं। तुलसीदास की नैतिकता उनकी भक्ति से मिली हुई है और दोनों को अलग करना कठिन है। इसी नैतिकता अथवा सामाजिकता के कारण एक जगह उन्होंने दरिद्रता को ही रावण बना डाला है और राम को पेट की आग बुझानेवाला कहा है।

'दारिद-दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु, दुरित-दहन देखि तुलसी हहाकरी।'

और,

'तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें, आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की।'

जिस भक्ति में पेट की आग को बड़वाग्नि से भी बड़ा बताया गया हो, और दरिद्रता को दशानन कहा गया हो, उससे आत्म-संतोष की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती। तुलसी लोकधर्म के समर्थक हैं, उससे विरक्त नहीं हैं। उनसे मतभेद तभी होगा जब उनकी भक्ति लोकधर्म से विमुख हो जायगी।

तुलसीदास ने राम को इष्टदेव के रूप में माना है। परन्तु इससे अन्य देवताओं की उपासना का विरोध नहीं किया। वैसे तो देवताओं में सभी मानवीय दुर्गुण हैं, फिर भी उपास्य देवता इनसे परे हैं। शैवों और वैष्णवों में सुहृद्भाव उत्पन्न करने का उन्होंने जो प्रयास किया, वह सुविदित है। परन्तु उपासना में जो व्यापक सुधार उन्होंने किया, उसका महत्व भरत की शपथों का स्मरण करके ही हम समझ सकते हैं।

'जे परिहरि हरिहर वचन, भजहिं भूतगन घोर।
तिन्हकी गति मोहिं देउ विधि, जौं जननी मत मोर॥'

आज भी ये अन्धविश्वास निर्मूल नहीं हुए, मध्यकालीन भारत में तो उनका घटाटोप अन्धकार छाया हुआ था। जहाँ मास का सन्देश पहुँचा, वहाँ कुछ अन्धकार तो अवश्य छँट गया।

अन्त में उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति महत्वपूर्ण ही नहीं, उनकी प्रगतिशीलता का मुख्य प्रमाण है। संस्कृत-साहित्य से सुपरिचित होते हुए भी उन्होंने 'खल-उपहास' की चिन्ता न करते हुए भाषा में कविता की। रामचरितमानस के लिए अवधी को अपनाया; उसकी भाषा को ग्रामीण प्रयोगों का दृढ़ आधार दिया। संस्कृत शब्दावली

उनकी आधारशिला नहीं है; उसका काम झरोखे और महराब बनाना है। आधारशिला अवधी के अति-साधारण 'भदेस' शब्द हैं जिन्हें तुलसीदास ने बड़े स्नेह से सजाकर अपनी कविता में रखा है। यह तभी संभव हुआ, जब उन शब्दों का प्रयोग करनेवालों के लिए उनके हृदय में स्थान था। उन्होंने अपना काव्य इन्हीं लोगों के लिए लिखा; उन्हीं की बोली में लिखा। किसी कवि ने ऐसे उद्धत और उद्दंड भाव से धूल भरे शब्दों को उठाकर अनुपम चतुराई से संस्कृत शब्दावली के साथ नहीं बिठा दिया। वैसे ही उनका छन्दों का प्रयोग रीति-कालीन परम्परा से भिन्न है। उसमें व्यर्थ के चमत्कारों का प्रायः अभाव है; उसमें सुचारु प्रवाह और ध्वनि-सौन्दर्य है। आलंकारिकता उनका लक्ष्य नहीं बन पाई; प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया है। रीतिकाल की साहित्यिक परम्परा को देखते हुए उनकी भाषा, छन्द और अलंकार-सम्बन्धी नीति सचमुच क्रांतिकारी ठहरती है।

इस प्रकार तुलसीदास भारतवर्ष के अमर कवि ही नहीं, मध्य-कालीन भारत के प्रतिनिधि कवि भी हैं और हम आज भी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।

भूषण का वीर-रस

आज से दो-तीन सौ वर्ष पहले हिंदी-साहित्यिकों की वीर-रस के प्रति जो भावना थी, उसमें अब तक बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है। उस समय मोटे तौर पर दो प्रकार के वीर-काव्य होते थे; एक तो खुमान रासो, बीसलदेव रासो, आल्हा प्रभृति के, जिनमें वर्णित युद्धों का मूल-कारण प्रणय होता था; दूसरे सूदन, लाल, श्रीधर आदि के ग्रंथों की भाँति, जिनका संबंध केवल युद्ध तथा वीर-रस से रहता था। दोनों ही प्रकार के ग्रंथों की वृत्ति प्रशंसात्मिका होती थी। कवि का लक्ष्य होता था, अपने नायक की वीरता का वर्णन करके उसे प्रसन्न करना। स्वभावतः कवि बात को बहुत बढ़ाकर, तिल का ताड़ बनाकर, कहता था; साथ ही यह भी ध्यान रखता था कि कहने के ढंग में चमत्कार हो, कविता सुनते ही स्वामी का हृदय गुदगुदा उठे। आधुनिक धारणाएँ इसके विपरीत हैं। हम वीर-कविता में अतिशयोक्ति-पूर्ण किसी राजा-महाराजा के शौर्य का वर्णन नहीं चाहते, जिसे सुनने से उसकी सच्चाई पर विश्वास भी न हो; धन पाने के लिए किये गये उसके यश और दान के वर्णनों की भी हमें आवश्यकता नहीं। हम वीर-काव्य के मूल में ऐसी सद्भावना चाहते हैं, जिसने किसी सुन्दरी के लिए नहीं, धन-प्राप्ति तथा राज्य-विस्तार के लिए भी नहीं, वरन् सत्य के लिए, स्वदेश तथा स्वजाति की रक्षा के लिए, अपने तथा पूर्वजों के स्वाभिमान के लिए मनुष्य को प्रेरित किया हो। हम ऐसी वीर-कविता चाहते हैं, जिसे पढ़कर अत्याचार और अन्याय से दबे हुए मनुष्य को अपनी पतित से पतित अवस्था में भी अपनी मनुष्यता का ज्ञान हे

सके तथा वह उसे पुनः प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हो। पुरानी कविता का इस कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरना असंभव है। उस समय के कवि देश व काल के किन्हीं विशेष नियमों से बँधे भी थे। वह प्रजातन्त्रवाद का ज़माना न था; देश पर शासन करनेवाले छोटे-बड़े राजे और सरदार थे। कवि उन्हीं के आश्रय में रहकर काव्य के साथ-साथ उदर-पूर्ति कर सकते थे। स्वामी की रुचि का कवि के ऊपर प्रभाव पड़ना निश्चित था। वह यदि आलंकारिक चमत्कारों तथा अतिशयोक्तियों से पूर्ण वर्णन पसन्द करता, तो कवि भी वैसी कविता करने में अपना सौभाग्य समझता। एक बार एक प्रथा के चल निकलने पर किसी सत्कवि द्वारा एकाएक उसका बहिष्कार भी संभव न था। आज जब हम उस काल के किसी कवि की कविता की परख करें, तो तत्कालीन बंधनों का ध्यान रखते हुए हमें अपने आलोचना के नियमों को लागू करना होगा।

भूषण ने अपने आश्रय-दाताओं के संबंध में जो कविता लिखी है, वह उनकी जातीयता, वीरता तथा आत्मत्याग से प्रेरित होकर नहीं लिखी; उसके मूल में एक महती प्रेरणा धन की भी है। स्थल-स्थल पर उनकी कविता में स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने नायक की वीरता से उतने ही प्रसन्न हैं, जितने उसके दान से। दान की प्रशंसा करने में उन्होंने धरती-आकाश के कुलाबे मिला दिये हैं—

"भूषन भनत महाराज सिवराज देत,
कंचन को ढेरु जो सुमेरु सो लखात है।

"भूषन भिच्छुक भूप भये भलि,
भीख लै केवल भौंसिला ही की।"

कहीं-कहीं पर यह मांगने की प्रवृत्ति अत्यंत हीन रूप में प्रकट हुई है, यथा—

"तुम सिवराज ब्रजराज अवतार आज,
तुमही , जगत काज पोखत भरत हौ।
तुम्हैं, छोड़ि याते काहि बिनती सुनाऊँ मैं
तुम्हारे गुन गाऊँ तुम ढीले क्यों परत हो ?"

यहाँ पर वीरता की नहीं, धन की उपासना की गई है। ऐसे भाव भूषण को उनके उच्च स्थान से बहुत कुछ नीचे खींच लाते हैं।

भूषण ने अपने किसी भी नायक पर उसकी जीवन-घटनाओं के तारतम्य को ध्यान में रखते हुए कविता नहीं लिखी। समय-समय पर सुनाने के लिए उन्होंने जो छंद बनाये, उनमें एक या अधिक ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया है।

किसी वीर-पुरुष पर कोई महाकाव्य लिखकर ही महाकवि हो सके, ऐसी बात नहीं; एक या अनेक घटनाओं को लेकर सुन्दर मुक्तक लिखे जा सकते हैं। परंतु भूषण घटनाओं की ओर संकेत-मात्र करके आगे बढ़ जाते हैं; अधिकांशतः किसी घटना का वह सांगोपांग वर्णन नहीं करते। किन्हीं निश्चित घटनाओं का बार-बार दोहराना खटकता है। उदाहरण के लिए शिवाजी का औरंगज़ेब के दर्बार में जाना, निम्न-श्रेणी के सर्दारों में उनका खड़ा किया जाना तथा क्रुद्ध होने पर औरंगज़ेब का .ग़ुसलखाने में पनाह लेना—

"भूषन तबहुँ ठठकत ही .ग़ुसलखाने,
सिंह लौं झपट गुनि साहि महाराज की।"

"कम्मर की न कटारी दई इसलाम ने गोसलखाना बचाया।"
"ह्याँते गयो चकतै सुख देन को गोसलखाने गयो दुख दीनो।"

इसी भाँति अन्य स्थलों में भी इसी घटना के वर्णन हैं। शाइस्ता खाँ, अफ़ज़ल खाँ आदि के वध, सूरत, बीजापुर आदि के युद्ध भी अनेक बार वर्णित हैं।

भूषण के बहुत-से वर्णन ऐसे हैं, जिनमें कोई नया तथ्य नहीं; केवल पुरानी रूढ़ियों की लकीर पीटी गई है, जैसे रायगढ़ का अधिकांश वर्णन—

"भूषन सुबास फल फूल युत,
छहुँ ऋतु बसत बसंत जहँ।"

बारहों मास वसंत का होना उस काल के किसी भी महाकवि के लिए असंभव नहीं। इसी प्रकार सेना के चलने पर धूलि से आसमान का ढक जाना, पर्वतों का हिल उठना, दिग्गजों आदि का डोलना, युद्ध में कालिका और भूत-प्रेतों का प्रसन्न होकर नृत्य करना; नाम की धाक से, नगाड़ों का शब्द सुनकर ही शत्रुओं का भाग खड़ा होना; किसी के यश में तीनों लोकों का डूब जाना तथा उसमें कैलाश पर्वत, क्षीरसागर आदि का न मिलना; किसी के दान से कुबेर व अन्य देवों का मान भंग—इस प्रकार के वर्णन पुरानी रूढ़ियों के अनुसरण-मात्र हैं। शिवाजी की सेना चलने पर—

"दल के दरारेन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के।"

एक दूसरी सेना चलने पर—

"काँच से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी सी बाँटियतु है।"

दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है।

भूषण के कुछ बँधे अलंकार, कुछ बँधे वर्णन और विचार हैं, जिन्हें उन्होंने अनेक बार दोहराया है। शत्रुओं की स्त्रियों का घर छोड़कर भागना, अपने स्वामियों को संधि की सीख देना तथा अनभ्यस्त होने के कारण अनेक प्रकार के कष्ट सहना। इस पुनरावृत्ति का एक उदाहरण है—

"तेरे त्रास बैरी-बधू पीवत न पानी कोऊ,
पीवत अघाय धाय उठे अकुलाई है।
कोऊ रही बाल कोऊ कामिनी रसाल,
सो तो भई बेहवाल भागी फिरै बनराई है।"
"भूषन भनत सिंह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरिनारी बिललाती हैं।"
"हवा हू न लागती ते हवातें बिहाल भई,
लाखन की भीर में सँभारती न छाती हैं।"
"सुनत नगारन अगार तजि अरिन की,
दारगन भीजत न वार परखत हैं।"

ऐसे वर्णनों की अत्यधिक संख्या तथा उनकी भावव्यंजना के ढंग को देखकर ऐसा भान होने लगता है, मानो भूषण को उनमें कोई विशेष आनंद आता हो तथा शत्रु-नारियों की ऐसी दशा होने से वह अपने नायक में विशेष वीरता पाते हों।

भूषण के वर्णन अधिकांशतः इतने अतिशयोक्तिपूर्ण होते हैं कि किन्हीं स्थलों पर किये गये यथार्थ वर्णन भी असत्य से लगते हैं। शत्रुओं की स्त्रियाँ जब रोती हैं तो—

"कज्जल कलित अँसुवान के उमंग संग,
दूनो होत रोज रंग जमुना के जल मैं।"

यह पढ़कर निम्न पंक्तियाँ भी तिल का ताड़ भासित होने लगती हैं—

"आगरे अगारन ह्वै फाँदती कगारन छ्वै,
बाँधती न बारन मुखन कुम्हलानियाँ।
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जायँ,
बीबी गहे सूथनी सु नीबी गहे रानियाँ।"

यह सब होने पर भी सच्ची वीर-पूजा की भावना भूषण के अनेक छंदों से फूटी पड़ती है। भूषण के दोष उनके देश और काल के हैं, उनके गुण सा इन बोझीले अलंकारों तथा बे सिर-पैर के-से वर्णनों के नीचे एक पवित्र वीर-कविता का स्रोत प्रवाहित है। उस सहृदय कवि को, जो अपने भाइयों पर निरंतर अत्याचार तथा उनकी अवधि-हीन दासता को देख व्याकुल हो उठा है, एक तिनका भी पर्वत के समान लगता है। चाहे वह महाराजा शिवाजी हों, चाहे छत्रसाल या अन्य कोई छोटा सरदार, भूषण के लिए वही राम और कृष्ण हैं। कवि उनके लिए अपने काव्य-भांडार को खोल देगा; दलितों के लिए जिन्होंने तलवार पकड़ी है, उनको महान प्रसिद्ध करने के लिए वह अपनी ओर से कुछ उठा न रक्खेगा—

"दुहूँ कर सों सहसकर मानियतु तोहिं,
दुहूँ बाहुसों सहसबाहु जानियतु है।"

शत्रु का एक सबल सामना करनेवाला देखकर भूषण उसकी पीठ ठोंकते हुए औरंगज़ेब को कितने सुंदर ढंग से ललकारते हैं—

"दारा की न दौर यह रारि नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है किधौं मीर सहवाल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारे क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल-को।"

भूषण के कवित्तों में इतना ओजपूर्ण प्रवाह है कि पढ़ने या सुननेवाला बरबस उस धारा में बहता चला जाता है। यह धारा जैसे उनकी अतिशयोक्तियों को बहाये लिये चली जाती हो।

वीर-रस के अतिरिक्त व्यंग्य-साहित्य में, जो हिन्दी में अभी तक क्षुद्र सीमाओं के ही भीतर है, भूषण का स्थान बहुत ऊँचा है। यह मानी बात है कि जिन पर उन्होंने व्यंग्य किये हैं, उन्हें वे अच्छे

न लगेंगे, पर वे केवल गालियाँ हों, ऐसी बात नहीं, उनमें साहित्यिक चमत्कार है।

दक्षिण के सूबेदार बदलने पर भूषण की उक्ति है—

"चंचल सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका समान सूबेदारी दिली दल की।"

इसी प्रकार—

"नाव भरि बेगम उतारैं बाँदी डोंगा भरि,
मक्का मिस साह उतरत दरियाव हैं।"

तथा—

"चौंकि चौंकि चकता कहत चहुँधा ते यारो,
लेत रहौ खबरि कहाँ लौं सिवराज है।"

इसी कोटि के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

भूषण यदि चेष्टा करते तो सुंदर यथार्थ वर्णन करते। जहाँ कहीं इस प्रकार के वर्णन किये हैं, वहाँ वे ख़ूब ही बन पड़े हैं।

मराठों के आक्रमण का कितना वास्तविक चित्रण है—

"ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरिमुख घाव दै दै कूदे परैं कोट मैं।

इसी भाँति रणभूमि का दृश्य—

"रनभूमि लेटे अधलेटे अरसेटे परे,
रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं।'

भूषण की इस प्रकार की स्वाभाविक चित्रणवाली कविता, उनके व्यंग्य-छंद तथा उनका वीर-रस, वह कितनी ही परिमित मात्रा में क्यों न हों, अमर हैं।

[जुलाई '३५]

कवि निराला

जिन लोगों का साहित्य से कुछ भी संबंध नहीं, केवल दूर से, या व्यक्तिगत रूप से निराला को जानते हैं, उनको भी कहते सुना है, निराला की बात ही निराली है। जो थोड़ा बहुत उसके साहित्य को जानते हैं, हृदय में सहानुभूति रखते हैं, सरासर ही उसकी कृतियों को ऊटपटांग नहीं कहना चाहते, वे भी कहते हैं, निराला निराला ही है। निराला कवि का उपनाम है परंतु इतना उसके जीवन और उसकी कृतियों पर लागू होता है कि बहुत सोचने समझने के बाद एक शब्द में ही उसके साहित्य का परिचय देना हो तो हम निराला से अधिक व्यापक दूसरा शब्द नहीं चुन सकते। निराला वह जो युग की साधारणता के विपरीत विचित्र लगे; और सार्वभौम सार्वकालिक निराला वह जो किसी भी देश, किसी भी काल के नितांत अनुकूल न हो सके। ब्रजभाषा काल में निराला की कल्पना कठिन है; आधुनिक युग के वह कितना विपरीत रहा हैं, यह उसका तीव्र विरोध देखकर कुछ समझा जा सकता है। और आने वाले युग में, राजनीति को लिए हुए साहित्य के अन्तरंग घोर संघर्ष में, निराला को कोई साहित्य सिंहासन पर बिठाएगा, यह भी कल्पना में नहीं आता। फिर भी उसके लिए हर युग में गुंजाइश है, हर युग उसमें कुछ समानता पा सकता है क्योंकि निराला एक विरोधाभास, पैराडाक्स है, उसमें विरोधी धाराएँ दूर-दूर से आकर टकराई हैं, वह नया भी है पुराना भी; भूतकाल का है, और भविष्य का भी, उसी के शब्दों में 'है है, नहीं नहीं'। उसके साहित्य में इतने संवादी और विवादी स्वर लगते हैं कि उनका प्रभाव हमारे ऊपर विचित्र पड़ता है; वे एक में बँधे हुए

हैं, उसकी साहित्यिकता के बल पर, कोमल और कर्कश सभी स्वर एक ऐसे संगीत में बँधे हैं जो राग विशेष कहकर निर्धारित नहीं किया जा सकता।

श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने किसी लेख में लिखा था, निराला सभी क्षेत्रों में चैलेंज देता है। उसकी प्राथमिक कविताओं में चैलेंज स्पष्ट है; और अत्यन्त स्थूल रूप से छंदों में। वर्णिक और मात्रिक, गेय और पाठ्यवृत्तों में उसने अनेक कविताएँ लिखीं परन्तु हिन्दी पाठकों ने यह चैलेंज स्वीकार न किया; प्रत्युत् यही कहा, उसे छंद लिखना न आता था। निराला का दावा था, मुक्त कविता के लिये मुक्त छंद की आवश्यकता है; तर्क कुछ इस रूप में दिया गया जैसे छंद की मुक्ति से ही कविता मुक्त हो जायगी। 'शिवाजी का पत्र' मुक्त ही नहीं उच्छृङ्खल भी है; गति के साथ विचारों का भी बंधान उसमें नहीं है। केवल अपने धारावाहिक वक्तृत्व के ओज पर ही बढ़ता चला जाता है; और कुछ लोगों को, जिन्हें 'परिमल' में अन्यत्र कुछ भी रस नहीं मिलता, अवश्य प्रभावित करता है। 'जागो फिर एक बार' के दूसरे भाग में यह ओज सुसंगठित हो गया है, प्रवाह जारी है। उसी कविता के पहले खण्ड में माधुर्य के साथ छंद की मद गति सहज बँध गई है। और 'जुही की कली' और 'शेफाली' में वही छंद इतने प्रशांत भावावेश का परिचायक जान पड़ता है कि छंद के नियम-भंग का सवाल ही नहीं उठता। मुक्त होते हुए भी छंद गति के इतने सुकोमल प्रायः अस्पृश्य तंतुओं से बँधा हुआ है कि उसे मुक्त कहना अन्याय जान पड़ता है। मुक्त छंद के भी अपने नियम होते हैं, साधारण छंदों के नियमों से कठिनतर क्योंकि उनकी व्याख्या सहज नहीं,—यह इन कविताओं से सिद्ध है। और ये कविताएँ वर्णिक हैं। मात्रिक मुक्त छंद में लिखी हुई कविताएँ गाई जा सकती हैं, विदेशी संगीत का आभास

देते हुए कवि उन्हें गाता भी है। इसके बाद वे कविताएँ हैं जो छंद के साधारण नियमों के अनुसार लिखी गई हैं; 'देख चुका जो जो आये थे, चले गए' इत्यादि परिमल के वे मुक्तक जिनकी सरल भाव-व्यंजना कवि की बाद की कृतियों में बहुत कम आ पाई। उछृङ्खलता, मुक्ति में बंधन, और बंधन में मुक्ति,—'परिमल' के छंदों का यही इंद्रजाल है। यह छंद-वैचित्र्य कवि के निराला-तत्व का परिचायक है।

यही हाल भावना में है। आलोक और अन्धकार दोनों तक कवि की कल्पना पेंगें भरती है। अचल का चंचल क्षुद्र 'प्रपात' अन्धकार से निकलता और प्रकाश की ओर जाता रवींद्रनाथ के 'निर्झर स्वप्नभंग' की याद दिलाता है। इसकी गति अधिक नम्र है; जहाँ रवींद्रनाथ के पर्वतचय ढह जाते हैं, वहाँ निराला का प्रपात केवल पत्थर से टकराता है, मुस्कराता है और अजान की ओर इशारा कर आगे बढ़ जाता है। और दूसरी ओर बादल हैं, जिसके लिए, 'अंधकार—घन अंधकार ही क्रीड़ा का आगार' है। इसी शून्य में बादल की सारी क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं; न कहीं आना है न जाना है। इन दो चरम स्वरों के बीच 'परिमल' का संगीत निहित है। प्रार्थना के करुण रोदन से लेकर विद्रोह की उदात्त चीत्कार तक सभी कुछ यहाँ सुनने को मिलता है। और अपने पौरुष से कवि ने इन स्वरों के झंझावात पर विजय पाई है। अपने बादल की ही तरह,

> मुक्त ! तुम्हारे मुक्तकंठ में
> स्वरारोह, अवरोह, विधान,
> मधुर मंद्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
> छा लेती है गगन, श्याम कानन,
> सुरभित उद्यान।'

'गीतिका' के अनेक गीतों में इस अंधकार तत्व का निदर्शन हुआ है। 'कौन तम के पार' गीतिका का शायद सबसे जटिल गीत है; जटिलता का एक कारण हो सकता है, कवि थोड़े में बहुत ज्यादा कहना चाहता है, यह भी हो सकता है कि उसके मानसिक द्वंद में यह भाव स्वयं कवि के लिए बहुत स्पष्ट न हो पाया हो। किन्तु इस गीत के भीतर एक ऐसी शक्ति का परिचय मिलता है जो अस्पष्ट होने पर भी अपनी तरफ़ पाठक को बरबस खींचती है। हिरैक्लिटस, बुद्ध या बर्गसन की भाँति सभी तत्व यहाँ चल रूप में देखे गए हैं। विश्व एक स्रोत कहा गया है जिसका प्रवाह यह आकाश ही है। इसी प्रवाह में चर अचर, जल और जग, दोनों आ जाते हैं। समस्या यही है, किसे चर कहा जाय, किसे अचर। और इसी प्रवाह में प्रवाहित मनुष्य है, एक सरोवर के समान, जहाँ लहरें बाल हैं, कमल मुग्ध है, किरण से वह खुलता है, आनन्द का भौंरा उस पर गूँजता है; किन्तु संध्या होते इस कमल को खिलाने वाला सूर्य निशा के हृदय पर विश्राम करता है, तब सार उसका उदय था, या उसका अस्त? प्रकाश सार है या अन्धकार? तमोगुण से सत्य का विरोध है किन्तु बिना तम के सतोगुण की कल्पना भी असंभव है। इसीलिए कवि पूछता है 'कौन तम के पार!' शून्य में ही विश्व का आदि है और अवसान! 'डूबा रवि अस्ताचल' गीत में वह अंधकार की देवी का आह्वान करता है। चारों ओर स्तब्ध अंधकार छाया हुआ है, उसी में 'तारक शत-लोक-हार' और विश्व का 'कारुणिक मंगल' भी डूब गए हैं। तभी तमसावृता मृत्यु की देवी को वह जीवन-फल दर्शन करने के लिए बुलाता है।

'वही नील-ज्योति-वसन
पहन, नील नयन-हसन,

आओ छवि, मृत्यु-दशन
करो दंश जीवन-फल।'

ऐसे गीतों में एक प्रकार की जीवन से विरक्ति है; एक ऐसी निराशा है जो जितना ही शब्दों के नीचे मुँदी हुई है, उतनी ही गंभीर है। इस निराशा में रोमांटिक निराशा की, सांसारिक सुख से अनिच्छा आदि की, झलक नहीं है। निराला की निराशा दार्शनिक और युक्ति-पूर्ण है; इसे तर्क से आशा-वाद में परिणत नहीं किया जा सकता। केवल कवि की आत्मा के सोते हुए शक्ति-केन्द्रों में जब स्फुरण होता है, तब वह इस अंधकार को छिन्न भिन्न करने के लिए आतुर हो जाता है। तम और आलोक, अस्ति और नास्ति में तुमुल संघर्ष मच जाता है और वह अपने क्लेश की एक झलक हमें किसी गीत में दे देता है।

'प्रात तव द्वार पर,
आया जननि, नैश अंध पथ पार कर।'

रात्रि भर वह अंधकारमय पथ में चला है; प्रातःकाल इष्ट की देहरी पर पहुंचा है, उसकी वाणी में थकान है परंतु विजयोल्लास भी।

"लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,
कंटक चुभे जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्रातवर—
प्रात तव द्वार पर।'

पैरों में पत्थर लगे, वे कमल से जान पड़े; उपल ही साधना के बल से जैसे खिलकर उत्पल बन गए हों। काँटे चुभे, वे नींद को दूर करते रहे। इस प्रकार वह स्मृति में संस्कारों के कंटकित मार्ग को,

पार करता रहा है। इस समय जर्जर, उसका शरीर अवसन्न हो गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। यहाँ हम एक संघर्ष का चित्र देखते हैं, और इसमें कवि अपनी पूरी शक्ति से एक विरोधी तत्व को परास्त करने में लगा है। हम यहाँ इस अद्‌भुत क्रियाशीलता की झलक भर पाते हैं; किंतु यही द्वंद निराला की इस युग की दो महत्तम कृतियों का कारण है, 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' का।

'तुलसीदास' कविता पहले लिखी गई थी; उसमें कवि ने अपना पूरा द्वंद तुलसीदास पर आरोपित करके उसका विशद चित्रण किया है। भक्त कवि तुलसीदास के लिए यह संघर्ष, विजय पराजय, तत्वों की क्रियाशीलता सत्य हो या न हो निराला के लिए अवश्य है। तुलसीदास में निराला ने अपनी प्रतिच्छाया देखी है, पुरातन कवि की मनोभूमि को उसने अपने संघर्ष का रंगमंच बनाया है तुलसीदास भारत की सभ्यता के सूत्रधार हैं; और जो कुछ है वह विरोधी तमोगुणपूर्ण है। तुलसीदास इसी विरोधी तत्व से युद्ध करते अंत में 'अस्ति' को लिए विजयी होते हैं। अनेक मानसिक भूमियों पर वे विचरते हैं, विचित्र समस्याओं से उलझते और उन्हें सुलझाते हैं और अंत में अपनी पूरी शक्ति के साथ वह बंधनों को तोड़ देते हैं। उनकी मुक्ति ही, भारत की, विश्व की मुक्ति है।

तुलसीदास के बाद तुलसी के चरित नायक राम में वह इसी द्वंद को आरोपित करता है। राम रावण का संग्राम छिड़ा हुआ है, कई दिन बीत गए हैं परंतु विजय निश्चित नहीं हुई। एक दिन की घटना का वर्णन है; राम युद्ध से थके हुए अपनी सेना के साथ अपने खेमे की ओर चलते हैं। संशय से वह विकल हो गए हैं और रावण-विजय अब पूर्व की भाँति एक निर्धारित वस्तु नहीं जान पड़ती। गरजता सागर, अमावस की काली रात और पर्वत के मान की प्राकृतिक सेटिंग में राम को चिंतामग्न हम देखते हैं।

यहाँ पुरुष और प्रकृति सभी अपने तत्वों के अनुकूल एक भयानक युद्ध में लगे हुए हैं। रावण तमोगुण का प्रतीक है; आकाश तत्व से उसकी मैत्री है। आकाश में शिव का वास होने से शिव उसके इष्टदेव हैं। शिव की संगिनी शक्ति भी स्वभावतः रावण के साथ है। इसी कारण राम की पराजय होती है। 'लांछन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक',—यह देवी रावण को गोद में लिए राम के सभी ज्योतिःपुंज अस्त्रों को अपने ऊपर ले लेती है। जांबवान के कहने से राम शक्ति की नवीन कल्पना करके उसकी पूजा में तल्लीन होते हैं और अंत में योग द्वारा शक्ति उनके वश में होती है। निराला की परुषता, उसका ओज यहाँ विरोधी तत्वों के पारस्परिक संघर्ष में ख़ूब स्पष्ट देखने को मिलता है। निराला में जो अंश शक्ति का उपासक है, उसने यहाँ अपनी पूर्ण व्यंजना पाई है। आकाश का उल्लास, रावण का अट्टहास, समुद्र का आंदोलन, अमानिशा का अंधकार उगलना और इन सब पर राम की अर्चना महावीर का विजयी होकर, आकाशवासी शंकर को भी त्रस्त करना आदि वर्णन हिंदी ही नहीं, कविता के लिए नवीन हैं। शेक्सपियर में 'किंग लियर' के तीसरे अंक में झंझा का प्रचंड कोप और लियर की विकलता, 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में सैटन का पहली बार नरक के अंधकार-आलोक को देखना, दाँते के इनफ़र्नो के पीड़ित जन समुदाय, वहाँ के तूफ़ान, वहाँ का रुदन,—सभी अपनी विशेषताएँ लिए हुए हैं, परंतु 'राम की शक्ति पूजा' की प्राकृतिक सेटिंग इन सब से भिन्न है, वेदनापूर्ण नहीं परंतु सर्वाधिक ओजपूर्ण। इस ओज का रहस्य निराला की प्रतीक-व्यंजना है। रावण, अंधकार, आकाश, सभी एक साथ क्रियाशील हैं; रहस्यवादियों ने एक ही आलोकमय जीवन में विश्व को डूबा हुआ देखा था, परंतु तमोगुण को इस प्रकार प्रकृति और मानव में फैला हुआ युद्धोन्मुख, शक्तिपूर्ण और क्रियाशील

उन्होंने नहीं देखा। 'राम की शक्ति पूजा' हिन्दी की श्रेष्ठ 'हीरोइक पोएम' है।

'तुलसीदास' में सतोगुणी तत्व का वर्णन अधिक ओजपूर्ण हुआ है; 'राम की शक्ति पूजा' में अंधकार का। विषय दोनों का प्रायः एक होते हुए भी चित्रण में भिन्नता है। 'शक्तिपूजा' में अंधकार और अन्य तामसी तत्वों की क्रिया से अधिक आकर्षक हमें कुछ नहीं दिखाई देता। राम के विजयी होने पर भी रावण और उसकी शक्ति अधिक नाटकीय हैं। और यही कवि का निरालापन है; कभी आलोक कभी अंधकार, वह दोनों को चित्रित करता है, कभी किसी को घटाकर कभी बढ़ा कर।

निराला एक नए युग की भावना लेकर आया है; व्रजभाषा के स्कूल से बहुत सी बातों में वह भिन्न है। 'गीतिका' की भूमिका में उसने पुराने गीतों से असंतोष प्रकट किया है। फिर भी आलंकारिकता में वह अपनी 'वन-बेला' या 'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति' कविताओं द्वारा ब्रजभाषा की अलंकारप्रियता को मात देता है। शब्दों के आवर्त रखने का उसे मर्ज़ सा है; अधिकांश वे सुंदर होते हैं, कभी-कभी भोंडे भी। रोमांटिक कवियों के बे सिर पैर के भावावेश में वह विश्वास नहीं करता, फिर भी 'राम की शक्तिपूजा,' 'जागो फिर एक बार' आदि में उसकी कविता स्वतः प्रवाहित जान पड़ती है। केवल मैदान में सर् सर् करती गंगा की भाँति नहीं वरन पहाड़ों के बीच टकराती, घनी अंधेरी घाटियों में पत्थरों को काटती, बहाती, वह तुमुल शब्द करती चलती है। शक्ति की एक अजस्र धारा सी, विरोधों का नाश करती, वह बहाई हुई नदी नहीं लगती। यह सब भी उसी पैराडॉक्स का एक अंग है।

भाषा में वह सरल से सरल और कठिन से कठिन शब्दों का

प्रयोग करता है। कभी माधुर्य की पुरानी कल्पना से प्रभावित जान पड़ता है,

'चलो मंजु गुंजर भर
नूपुर शिंजित चरण'

—लिखता है, कभी सीधे शब्दों के प्रयोग द्वारा वह एक कर्कश आधुनिकता का आभास देता है। कभी उसके स्वर लंबे खिंचे हुए प्राफ़ेट के से आते हैं—

'बुझे तृष्णाशा, विषानल, झरे भाषा अमृत निर्झर।' कभी वह छोटे छोटे स्वर भंग कर पढ़ना मुश्किल कर देता है,—

'मैं लिखता, सब कहते,
तुम सहते प्रिय सहते!'

उसके भीतर परुषता है, मृदुलता भी, पुरुषत्व भी, स्त्रीत्व भी, व्यंग्य भी, गंभीर उपासना भी, आस्तिक भी, नास्तिक भी.......

हिंदी आलोचक कभी हाथी की टाँग देख कर उसी को हाथी कहने लगते हैं, कभी उसकी पूँछ को ही; कोई कोई गोबर पर ही पैर पड़ने से त्राहि त्राहि करने लगते हैं। उसके संघर्षपूर्ण ड्रैमेटिक व्यक्तित्व पर लोगों की कम नज़र जाती है। बिना इस आंतरिक संघर्ष के कोई महती साहित्यिक कृति क्या देगा? जो एक का होकर रहेगा, वह विश्व का व्यापक चित्रण क्या करेगा? भावुक कवि छोटी-छोटी 'लिरिक्स' लिख सकते हैं; वे निराला की 'हीरोइक पोएम्स' नहीं लिख सकते। उसकी 'लिरिक्स' के घात प्रतिघातों को भी वे नहीं पा सकते। पो आदि ने सौंदर्य में मनुष्य को आश्चर्य में डाल देने वाली कोई वस्तु देखी है; इस 'सर्प्राइज़' को हम निरालापन कह सकते हैं। सभी कवि निराले होते हैं, क्योंकि अपनी मौलिक प्रतिभा से वे विश्व को कुछ नया देते हैं। कवि निराला खान-पान, रहन-सहन की बातों से

लेकर अपनी सूक्ष्मतम स्पष्ट अस्पष्ट विचार भावना धाराओं में निराला है। निरालापन उसके व्यक्तित्व के अणु-अणु में व्याप्त है; इसीलिए उसके काव्य-साहित्य का एक शब्द में निराला कह कर परिचय दे सकते हैं। निराला कह कर मुँह मटकाने के लिए नहीं; वरन् उसकी श्रेष्ठ कवि-प्रतिभा को स्वीकार करने के लिए।

[नवंबर '१९३८]

निराला और मुक्तछंद

'मुक्तछंद' में एक विरोधाभास है। यदि वह मुक्त है, तो फिर छंद क्यों? वास्तव में छंद का अर्थ ही बन्धन है—'बन्धनमय छन्दों की छोटी राह'। परन्तु जैसे छन्द की सीमाओं में भी कवि गति-लय में स्वच्छाचारी होता है, वैसे ही मुक्तछंद की 'मुक्ति' भी निरपेक्ष नहीं है, वरन् गति-लय की सीमाओं से बँधी है। मुक्त छंद में लिखी हुई कविता 'कविता' है या नहीं, यह अब विवाद का विषय नहीं रह गया। परन्तु मुक्तछंद और साधारण छंदों में किसका प्रयोग अधिक वांछनीय है और मुक्तछंद की 'मुक्ति' की सापेक्षता की सीमा में बाँधनेवाले कौन से नियम हैं, यह विषय विवादास्पद है और उस पर अभी यथेष्ट चर्चा भी नहीं हुई।

छायावादी युग के आरम्भ से मुक्तछंद का प्रचार हुआ है। उस समय से लेकर लगभग दस-पन्द्रह साल तक इस विषय पर जो विवाद चला, वह विवाद न होकर वितंडावाद बन गया। विरोधी अधिक थे और वे इस विषय पर गंभीरता से कुछ सोचने और कहने के लिए तैयार न थे। इसकी नकल करना आसान था और हास्यरस के लिए बहुत से जोकरों को यह बहुत सस्ता बाजा मिल गया था। एक ध्यान देने की बात है कि कवित्त-सवैया और समस्या पूर्ति वाला संप्रदाय इसका सब से कट्टर विरोधी था। वह छाया-वादियों पर जहाँ यह दोष लगाता था कि वे अलंकार-शास्त्र को नहीं जानते, वहाँ पिङ्गल-सम्बन्धी 'अज्ञान' भी उसे एक अच्छा अस्त्र मिल जाता था। उस समय मुक्त छंद ने कवित्त-सवैया और समस्यापूर्ति के मोर्चे को तोड़ने में अग्रदल का काम किया, यह

उसका ऐतिहासिक महत्त्व है और इसके लिए हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए।

यह स्वाभाविक था कि उस समय उसकी सापेक्ष मुक्ति के नियमों की ओर लोगों का ध्यान न जाय। वरन् इसके आचार्य निरालाजी की अनेक उक्तियों से किसी हद तक एक भ्रान्त धारणा की भी पुष्टि हुई। निरालाजी ने रीतिकालीन साहित्य की विचार-भूमि से जो स्वाधीनता प्राप्त की, उसे उन्होंने 'छन्द' मात्र के साथ जोड़ दिया। उनका कहना था कि मुक्त भावना का वाहक छंद भी मुक्त होना चाहिए। जैसे सन् '२४ की इस कविता में—

'आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्धविकच इस हृदयकमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह!'

"छंदों की छोटी राह' में तिरस्कारवाला भाव स्पष्ट है। इसके दस-बारह साल बाद 'माधुरी' में अपने गीतों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था—'भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वतंत्र हैं।' और 'परिमल' की भूमिका में भी—'मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।' तब क्या 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' के भाव-बन्धन में हैं अथवा स्वयं बन्धनहीन होने पर भी वे छन्द की सीमाओं के भीतर मुक्ति के लिए छटपटा रहे हैं?

'खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन'

या

'माता कहती थीं मुझे सदा राजीवनयन'

इन पंक्तियों के भाव किस प्रकार पराधीन हैं? यदि स्वाधीन हैं तो वे छंद को तोड़ने की विकलता किस प्रकार विज्ञापित कर रहे हैं?

प्रवाह में स्वाधीनता हो सकती है परन्तु उसका भावों की स्वाधीनता से कोई अगोचर सम्बन्ध नहीं है। निरालाजी ने 'पंत और पल्लव' में श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के 'वरांगना काव्य' के अतुकांत छंद का ज़िक्र करते हुए लिखा था—'गुप्तजी के छंद में नियम थे। मैंने देखा, उन नियमों के कारण, उस अनुवाद में बहाव कम था—उनके बाँध को तोड़कर स्वच्छन्द गति से चलने का प्रयास कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरों के उच्चारण से जिह्वा नाराज़ हो रही थी।' पन्द्रह वर्णों की पंक्ति में प्रवाह अचानक रुक जाता है, परन्तु सोलह वर्णों की पंक्ति में यह बात नहीं होती। सदोष छंद को छोड़ने का अर्थ यह नहीं है कि मुक्त छंद के बिना प्रवाह की रक्षा ही नहीं हो सकती।

निरालाजी ने मुक्त छंद में ओजगुण की विशेष मैत्री कल्पित की है।

> 'बंद हो जाएँगे ये सारे कोमल छन्द,
> सिन्धुराग का होगा नव आलाप,'—

और 'पंत और पल्लव' में—'वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्व है।' मुक्त छंद और पुरुषत्व का कोई भी प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है; न नियमित छन्दों और स्त्री सुकुमारता का। 'राम की शक्ति-पूजा' का स्मरण करते ही (और 'जुही की कली' का भी!) इस उक्ति का कल्पित आधार स्पष्ट हो जाता है।

यह कहा जा सकता है कि गति और प्रवाह के लिए जितना विस्तार मुक्तछन्द में सम्भव है, उतना साधारण छन्दों में नहीं है। यह बात सिद्धान्तरूप में भले ही मान ली जाय, परन्तु व्यवहार में इसका उलटा ही दिखाई देता है। मुक्तछन्द की गति अधिक सीमित, उसका प्रवाह अधिक संकुचित होता है। निरालाजी के

मुक्तछन्द की किन्हीं भी पंक्तियों का स्मरण कीजिए और इन पंक्तियों से उनकी तुलना कीजिए—

'बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध-चिता के कितने हाहाकार !
नश्वरता की—थीं सजीव जो—कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार ।'

और भी—

'गरज गरज घन अन्धकार में गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा बन्ध-विहीन ।
आँखों में नवजीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन ।'

इन पंक्तियों का प्रसार दर्शनीय है। परन्तु प्रवाह की गम्भीरता, नाद-सौन्दर्य, भाव की 'मुक्ति' और छन्द की 'मुक्ति' इन पंक्तियों से अधिक मुक्तछन्द में नहीं प्रकट हुई,—

'है अमानिशा; उगलता गगन घन अन्धकार :
खो रहा दिशा का ज्ञान ; स्तब्ध है पवनचार ;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल ;
भूधर ज्यों ध्यान मग्न ; केवल जलती मशाल ।'

इसका यह अर्थ नहीं है कि नियमित छन्दों में ही कोई ऐसा गुण है जिससे यह ध्वनि-सौन्दर्य उत्पन्न होता है। सारी बात तो कवि-कौशल की है।

मुक्तछन्द को नियमों से परे मानते हुए भी निरालाजी उसके "प्रवाह" को स्वीकार ही नहीं करते, वरन् उसे मुक्तछन्द की सफलता के लिए आवश्यक भी समझते हैं। मुक्तछन्द में लिखी हुई कविताओं की चर्चा करते हुए 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने लिखा था—'उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्तछन्द का-सा जान

पड़ता है। मुक्तछन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।' उसी भूमिका में 'जुही की कली' से पहली पाँच पंक्तियों का उद्धरण देकर कहते हैं—'तमाम लड़ियों की गति कवित्तछन्द की है' और 'हिंदी में मुक्तकाव्य कवित्तछन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है।' यह एक काफ़ी बड़ा बन्धन है, उसके पाश ढीले ही क्यों न हों। कवित्त की भूमि निश्चित कर देने के बाद उसके प्रवाह पर यह बन्धन लग जाता है कि वह उस गति से विद्रोह नहीं कर सकता। 'जिस तरह ब्रह्म मुक्त स्वभाव है, वैसे ही यह छन्द भी'—यह कहना इस नियमित प्रवाह से मेल नहीं खाता। 'पन्त और पल्लव' में उन्होंने कवित्त और मुक्तछन्द के सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

मुक्तछन्द की पंक्तियों को सुगठित बनाने के लिए ध्वनिसाम्य का आधार लिया जाता है। निरालाजी ने इसका विशेष उपयोग किया है।

'जागो फिर एक बार !
    प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण-किरण
    खड़ी खोल रही द्वार !'

'प्यारे, हारे, तारे' और 'अरुण, तरुण' शब्द पंक्तियों के सुगठित होने में सहायक होते हैं।

ऐसे ही—

समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु से;
सिन्धुनद तीरवासी,
सैन्धव तुरङ्गों पर,
चतुरंग चमूसंग ;

सवा-सवा लाख पर,
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।'
किसने सुनाया यह,
वीरजन मोहन अति,
दुर्जय संग्राम राग,
फाग का खेला रण बारहों महीनों में?—
शेरों की माद में,
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार!'

इस बन्द में ध्वनि के सहज सानुप्रास आवर्त दर्शनीय हैं। उनके साथ निरालाजी ने 'चढ़ाऊँगा,' 'कहाऊँगा' के बीच में तुकान्त कड़ियाँ भी मिला दी हैं। अन्त में 'स्यार' और 'बार' की तुकान्त पंक्तियों से बन्द समाप्त होता है। तमाम पंक्तियों में आन्तरिक संगठन के साथ पूरे बन्द में तारतम्य और सम्बद्धता है। बन्द के पश्चात् पूरी कविता में यह तारतम्य विद्यमान है। हर बन्द के बाद 'जागो फिर एक बार' की ध्वनि नवयुग के वैतालिक के स्वर की तरह हृदय पर एक विचित्र मोहक प्रभाव डालती है। निरालाजी जिस पुरुषत्व के उपासक हैं, उसकी अभिव्यक्ति अनूठी हुई है।

मुक्तछन्दों में भावों के कितने प्रकार, शब्दों की कितनी वृत्तियाँ, कितने गुण प्रकट हो सकते हैं, यह कवि के कौशल पर निर्भर है। निरालाजी ने कहा है कि मुक्तछन्द का प्रयोग ओजगुण के लिए होता है परन्तु इन पंक्तियों की कोमलता की तुलना के लिए अन्य पंक्तियाँ ढूँढ़ने पर ही मिलेंगी—

पिउ रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू ;
याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की,
मूँद रही पलकें चारु,
नयन जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा-भार—
जागो फिर एक बार !'

पहली पंक्ति में 'प,' 'र' की आवृत्ति, 'बातें,' 'रातें' का ध्वनिसाम्य, 'जल-ढल' की सजल ध्वनि, 'पलकें चारु' का चित्र-सौष्ठव—सब कुछ कितना स्वाभाविक है, परन्तु इसके पीछे किस कोटि का कौशल छिपा है ! क्या गद्य के टुकड़े मुक्तछंद पढ़ने में यही आनन्द उत्पन्न हो सकता है ? निरालाजी ने अनुप्रासों का भोंड़ा प्रयोग नहीं किया, परन्तु अनुप्रासों से जितना प्रेम उन्हें है, उतना और किसी छायावादी कवि को नहीं है। चतुर कलाकार की भाँति उन्होंने उनका उपयोग पंक्तियों के सुगठन और सम्बद्धता के लिए किया है। 'शेफालिका' में 'पल्लव-पर्यङ्क पर', 'व्याकुल विकास', 'नक्षत्रदीप कक्ष', 'सुरभिमय समीर लोक' आदि और इस तरह के सैकड़ों उदाहरण उनकी रचनाओं से दिये जा सकते हैं। पुनः, ध्वनि के आवर्त, जैसे लोक के बाद शोक, 'आली शेफाली' आदि उनके बायें हाथ का खेल हैं। इस कला के निरालाजी अद्वितीय आचार्य हैं। उनके अनुकरण पर जिन नये कवियों ने मुक्त छंद की रचनाएँ की हैं, उनमें से कुछ ने निरालाजी के कौशल को नहीं अपनाया ; वे मुक्ति-सिद्धान्त से ऐसे प्रभावित हुए कि ध्वनि-चमत्कार और श्रवण-सुखद प्रवाह से ही हाथ धो बैठे हैं।

निरालाजी जिसे मुक्त छंद कहते हैं, वह वर्णिक ही होता है ; मात्रिक छंदों के आधार पर जिस मुक्त छंद की सृष्टि हुई है, उसे वे

गीति-काव्य की संज्ञा देते हैं। परन्तु आज कल 'मुक्त छंद' का प्रयोग वर्णिक और मात्रिक—दोनों ही प्रकार के मुक्त छंद के लिए होता है। अन्तर केवल इतना है कि यह गेय भी होता है। निरालाजी एक विशेष प्रकार के संगीत में उसकी बंदिश करते हैं। वर्णिक मुक्त छंद में अनुप्रासों और ध्वनि के आवर्तों का प्रयोग कुछ कम होता है, परन्तु होता अवश्य है। निरालाजी के मात्रिक मुक्त छंद का आधार १६ मात्रावाला छंद रहता है। मात्राओं की कमी को थोड़ा-बहुत स्वर के विस्तार से पूरा कर लेने पर उसे तिताले में बाँधा जा सकता है। शायद इसीलिए निरालाजी उसे पूर्ण मुक्त छंद नहीं मानते।

मुक्तछंद में कविता करना चाहिए या नहीं, इस प्रश्न का हाँ, ना में उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि कहा जाय कि छंदबद्ध पंक्तियाँ याद हो जाती हैं तो मुक्त छंद के प्रेमी अपने अनुभव से यह तर्क काटने के लिए तैयार हो जायँगे। एक बात निश्चित है कि मुक्तछंद में सफलता पाना प्रतिभाशाली कवि के लिए ही संभव है। श्री सोहनलाल द्विवेदी ने मुक्तछंद को सुगठित बनाने के लिए जिन तरकीबों से काम लिया है, वे इतनी सस्ती हैं कि वे मुक्तछंद की पैरोडी मालूम होती हैं। अनधिकार चेष्टा से मुक्तछंद बहुत जल्दी बकवास में बदल जाता है। उसमें गति और प्रवाह का आनन्द नहीं रहता। यदि कोई तुकों की कठिनाई से मुक्तछन्द को अपनाये तो उसे बाज़ आना चाहिए। आज कल मुक्त छंद में जो रचनाएँ होती हैं, उनमें प्रवाह की धीरता-गंभीरता के स्थान में पंगुता, गतिहीनता अधिक रहती है। श्री प्रभाकर माचवे के मुक्तछंद में गद्यात्मकता सीमा को लाँघ गई है।

परन्तु जिसे भी शब्दों के माधुर्य की पहचान होगी, कड़ियों को मिलाकर प्रवाह पैदा करने का कौशल आता होगा, वह अवश्य मुक्तछंद में सफलता प्राप्त करेगा। उसकी कविताएँ गायी न जायँ,

यह दूसरी बात है ; उनके पढ़नेवालों की कमी न होगी। श्री केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में शब्दों की यह पहचान मिलती है। ध्वनि की गंभीरता नहीं है परन्तु तरलता और प्रवाह अवश्य है। श्री गिरिजाकुमार माथुर ने मात्रिक मुक्तछंद में उच्च कोटि का ध्वनि-सौन्दर्य उत्पन्न किया है। यह सब स्वीकार करते हुए कहना पड़ता है कि छंदों में लिखी हुई कविताओं को और गीतों को जनता जिस तरह अपनाती है, उस तरह मुक्तछन्द को नहीं अपनाती। यदि हम कविता को एक सामाजिक क्रिया समझें—कविता लिखने को, और उसे एक साथ मिलकर पढ़ने को भी, तो हमें मुक्तछन्द का मोह कम करना होगा। मुक्तछन्द को दस-पाँच आदमी एक साथ मिलकर नहीं पढ़ सकते। वह एक आदमी के पढ़ने की चीज़ है, चाहे उसे सुननेवाले सैकड़ों हों। नाट्य होने पर मुक्तछन्द का यह अकेलापन दूर हो जाता है। अकेलेपन के इस अभियोग के अलावा उस पर और कोई अभियोग नहीं लगाया जा सकता। निरालाजी की सामाजिकता का यह पुष्ट प्रमाण है कि उन्होंने मुक्तछन्द की सृष्टि रंगमंच के लिए की थी और वहाँ उसका उपयोग भी किया था।

(१९४४)

स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित "पढ़ीस"

श्री बलभद्र दीक्षित अवधी में 'पढ़ीस' उपनाम से कविता करते थे और इसी नाम से वह अधिक प्रसिद्ध थे। उनकी कविताओं का एक ही संग्रह 'चकल्लस' नाम से निकल पाया था। अवधी में कविता लिखना उन्होंने बन्द नहीं किया और एक छोटे संग्रह भर को उनकी कविताएँ और हैं। इनके अतिरिक्त "माधुरी" में उन्होंने बच्चों के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त रोचक निबन्ध लिखे थे। इनमें बच्चों की शिक्षा, उनके साथ बड़े-बूढ़ों के व्यवहार आदि विषयों पर उन्होंने प्रकाश डाला था। हिन्दी में दीक्षितजी पहले लेखक थे, जिन्होंने इन समस्याओं की ओर ध्यान दिया था और उन पर क्रांतिकारी ढंग से लिखा था। इन लेखों का जितना सम्बन्ध बच्चों के माता-पिता तथा अभिभावकों से है, उतना बच्चों से नहीं। आये दिन हमारे समाज में—क्या घर में और क्या स्कूल में—बच्चों के साथ जो निर्दयता-पूर्ण असभ्य व्यवहार किया जाता है, उससे दीक्षितजी के हृदय को चोट लगी थी। इन लेखों में उसी निर्दयता के विरुद्ध एक ज़ोरदार आवाज़ उठाई गई है। लेखों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी कहानियां हैं, जिनका एक संग्रह 'लामज़हब' नाम से उनके जीवनकाल में निकला था। शेष जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में—हंस, संघर्ष, माधुरी, विप्लवी ट्रैक्ट, चकल्लस आदि में—प्रकाशित हो चुकी हैं, उनकी संख्या कम नहीं है और आगे उनके दो संग्रह प्रकाशित हो सकेंगे। अपनी कहानियों में उन्होंने समाज के निम्न-वर्ग के लोगों का चित्रण किया है और उन लोगों का भी, जिन्हें परिस्थितियों ने ठोंक-पीटकर आधा पागल बना दिया है। एक उनका अधूरा

उपन्यास है, जिसका कुछ अंश "माधुरी" के इसी अंक में प्रकाशित होगा।

दीक्षितजी का साहित्य बिखरा हुआ था; वह सजिल्द पुस्तकों में साहित्य-प्रेमियों के लिए सुलभ नहीं था। फिर भी उनके कविता संग्रह "चकल्लस" ने ही उन्हें काफ़ी ख्याति प्रदान की थी। जो लोग उनके साहित्य के अन्य अंगों को भी जानते थे, वे उनकी बहुमुखी प्रतिभा के क़ायल थे। जो उनके साहित्य से कम परिचित थे, वे उनके व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित थे। दीक्षितजी का व्यक्तित्व उनके साहित्य से भी महान् था और इसका कारण यह था कि वह एक अनंत निर्भर-सा था, जो महान् साहित्य की सृष्टि करने में समर्थ था। उनमें देवता-जैसी सरलता थी, यदि देवता भी वैसे सरल होते हों। उनकी सादगी से बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता था और अपने असभ्य नागरिक संस्कारों के कारण वे दीक्षितजी को एक अशिक्षित गँवार समझ बैठते थे। परन्तु ऐसे लोग कम थे। सौभाग्य से अधिक लोग वे थे, जो उनकी सादगी से धोखा न खाते थे और उनकी महत्ता को न्यूनाधिक पहचान ही जाते थे।

दीक्षितजी पहले कसमंडा राज्य में नौकर थे। एक विशेष घटना के कारण उन्हें राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ा था। कुछ दिन बाद उन्होंने वहाँ पुनः नौकरी की, लेकिन फिर छोड़ दी। सुना है कि कसमंडा के युवराज साहब का व्यवहार सहृदयता-पूर्ण रहा है। वह दीक्षितजी के साहित्यिक जीवन में दिलचस्पी लेते थे और 'पढ़ीस' की 'चकल्लस' भी उन्हीं को समर्पित की गई है। उनके बच्चों से भी युवराज का व्यवहार सहृदयतापूर्ण था।

दीक्षितजी एक कर्मठ व्यक्ति थे; खेत में हल चलाना अपनी पैतृक संस्कृति के विपरीत होते हुए भी बुरा न समझते थे। उनकी मृत्यु अचानक हो गई। हल का फाल उनके पैर में लग गया था

और उसी से विष पैदा होकर सारे शरीर में फैल गया। पैर में चोट लगने पर उन्होंने अपने बड़े लड़के को जो पत्र लिखा था, उससे मालूम होता है कि वह स्वयं उसे घातक न समझते थे। परन्तु भावी कुछ और ही थी।

यहाँ पर मैं दीक्षितजी तथा उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देना चाहता हूँ। वह मेरे लिए, अपने मित्रों और परिवार के लिए तथा हिन्दी-भाषा और साहित्य के लिए जो कुछ थे, उसे शब्दों में प्रकट करना कठिन है। सहृदय पाठक उसका अनुमानमात्र कर सकेंगे।

दीक्षितजी ने कुछ पीले काग़ज़ की स्लिपों पर अपने जीवन की घटनाओं का ज़िक्र किया है। एक पारिवारिक समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने अपने जीवन के कुछ पहलुओं पर उसमें प्रकाश डाला था। उस लेख को प्रकाशित करने का अभी समय नहीं आया। परन्तु उसमें उनके जीवन के एक ऐसे पहलू पर तीव्र प्रकाश पड़ता है, जिसे उन्होंने अपने मित्रों से गुप्त रक्खा था। जो हँसी उनके ओठों पर खेला करती थी, उसके नीचे वह जीवन के बहुत-से तिक्त अनुभवों को छिपाये हुए थे। अब समझ में आता है, उनकी वह हँसी एक ऐसे सिपाही की थी, जो क्षत-विक्षत होकर भी केवल युद्ध की चिन्ता करता है और अपनी पीड़ा से दूसरों को पीड़ित करना अपराध समझता है।

इस लेख में उन्होंने अपने जन्म के विषय में लिखा है—"भादों, सं० १९५५ विक्रम में यह श्रीदीनबन्धु का सहर यहीं इसी घर में पैदा हुआ था।" श्रीदीनबन्धु उनके सबसे बड़े भाई का नाम था और उनके लिए दीक्षितजी के हृदय में अगाध स्नेह था। उनके निःस्वार्थ जीवन की वह सदा प्रशंसा किया करते थे। उनके अन्य दो छोटे भाई उनसे बड़े थे, परन्तु उनका चरित्र-विकास दूसरी दिशा में

हुआ था। अपने कहानी-संग्रह "लामज़हब" को उन्होंने अपने सबसे बड़े भाई श्रीदीनबन्धु को ही समर्पित किया है। "दद्दू" को संबोधित करते हुए उन्होंने स्नेह में डूबे हुए ये शब्द लिखे थे--"जीवन के प्रभात में ही तुमने मुझे यह सुझा दिया था कि ग़रीबी-अमीरी, श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता मूर्खों के दिमाग़ की चीज़ है। उधर तुम्हारी पेंशन के गठरी भर रुपये आते थे, इधर तुम गोमती किनारे अपने चमार और धोबी मित्रों के साथ नित्यप्रति एक बड़ा गट्ठर घास छीलते थे। तुम आठ बरस के थे, तब दो पैसे दिन भर की निरवाही के लाकर बड़े गर्व से मा को देते थे। अम्बरपुर के कुली और किसान तुम्हें अपना सलाहकार मानते थे। 'लामज़हब' में तुम्हारी स्मृति को देता हूँ।

"तुम्हारा भद्दर"

भद्र से 'भद्दर' नाम उन्हें अधिक प्यारा था; क्योंकि इससे उन्हें अपने भाई के स्नेह की सुध हो आती थी। 'लामज़हब' की जो प्रति उन्होंने मुझे दी थी, उसमें उन्होंने अपना नाम "बलभद्दर" ही लिखा था। बड़े भाई से उन्होंने जो कुछ सीखा था, मानों उसी को वह अपने जीवन में चरितार्थ करने की कोशिश करते थे। दीनबन्धुजी भी कसमंडा राज्य में नौकर थे। जब राजकुमारी का विवाह विजयानगरम् में हुआ, तब वह भी राजकुमारी के साथ वहाँ गये। बाद में वहीं रहने लगे और राजकुमारी के अभिभावक का कार्य करने लगे। सन '३५ की गर्मियों में दीनबन्धुजी का स्वर्गवास हुआ।

दीक्षितजी की शिक्षा राजकुमार के साथ ही कसमंडा में हुई। पढ़ने का खर्च और कुछ वजीफ़ा वहाँ से मिलता था। सन '१८ में उनका विवाह हुआ। सन् '२० में उन्होंने हाई स्कूल पास किया और कालेज में भर्ती हुए परन्तु छः महीने बाद कालेज छोड़ देना पड़ा।

दीक्षितजी साधारण लोगों की अपेक्षा विशुद्ध उच्चारण से अँगरेज़ी बोलते थे। इसका कारण उनकी शिक्षा से अधिक उनका उच्च वर्गों से संसर्ग था। कालेज छोड़कर वह कसमंडा राज्य में नौकर हो गये। सन '२७ में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और दो साल तक वहाँ से अलग रहे। परन्तु इसके बाद फिर नौकर हो गये और सन् '३५ तक वहाँ रहे। इस वर्ष उनका बड़ा लड़का श्रीबुद्धिभद्र बाँबे टाकीज़ में नौकर हो गया था और उसी के साथ वह भी बम्बई चले गये। अगस्त से नवम्बर तक वह बम्बई रहे; फिर गाँव चले आये। सन् '३८ तक वह गाँव में ही रहे। गिवान के राजकुमारों को भी इसी समय पढ़ाते रहे। सन '३८ में कुछ विशेष कारणों से वह गाँव छोड़कर लखनऊ चले आये। अगस्त सन '३८ में शायद वह पहली बार रेडियो में—सलोनो पर—बोले। नवम्बर में वह लखनऊ रेडियो स्टेशन में नौकर हो गये। रेडियो स्टेशन में वह जिस तरह काम करते थे, उसकी एक तेज़ झलक प्रसिद्ध कहानी-लेखक "पहाड़ी" के रेखाचित्र में मिलेगी। कुछ समय तक वह और दीक्षितजी रेडियो में साथ-साथ काम करते रहे थे।

रेडियो स्टेशन में काम करते समय उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। उनके मित्रों को इससे विशेष चिन्ता रहती थी। उधर जिन परिस्थितियों के कारण उन्हें गाँव छोड़ना पड़ा, उनमें भी अब कुछ परिवर्तन हो चुका था। जब उन्होंने गांव जाकर रहने को कहा, तब मित्रों ने उनकी बात का समर्थन किया। लखनऊ में रहते हुए उन्होंने मई सन '४० में अपनी एकमात्र लड़की का विवाह भी कर दिया था। सन् '४० का अन्त होते-होते उन्होंने रेडियो की नौकरी छोड़ दी। दूसरे वर्ष उन्होंने अपने सबसे बड़े लड़के श्रीबुद्धिभद्र का विवाह किया। सन '४१ भर वह गाँव में रहे और वहाँ किसानों—विशेषकर अछूतों के लड़कों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला

खोली। २७ जून, सन '४२ को उनके पैर में घातक चोट लगी। इसके एक महीना पहले ही वह लखनऊ आये थे और मुझसे गले मिलकर विदा हुए थे। उसके बाद बलरामपुर अस्पताल में मैंने उन्हें फिर देखा, लेकिन तब से अब में बहुत अन्तर था। प्रेमचन्द के उस चित्र का स्मरण कीजिए, जो उनकी रोगशय्या पर लिया गया था। मुझे एक भयानक आघात के साथ इस बात का अनुभव हुआ कि अब वह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर रहे हैं। १८ जुलाई, सन १९४२ को उन्होंने इस संसार से महायात्रा की। उनकी मृत्यु पर श्रीअमृतलाल नागर ने लिखा था, "मुझे उनकी मौत का दुःख नहीं। ज़िंदगी भर पलंग पर पड़े-पड़े हाय-हाय करते हुए उनकी साँसें नहीं निकलीं। एक सच्चे भारतीय और खरे साहित्यिक की तरह जीवन में लड़कर उन्होंने वीरगति प्राप्त की है।"

जिस लेख का ऊपर ज़िक्र हो चुका है, उसमें दीक्षितजी ने अपनी युवावस्था के बारे में लिखा है—"मुझे दिखावट बहुत पसन्द थी। इसलिए सबके काम का बहुत-सा सामान मैं खरीद कर घर ले जाता था। रोज़मर्रा खर्च के कपड़े मैंने १००) तक के एक बार में खरीद कर दिये हैं।" गाय भैंसें खरीदने का भी उन्हें शौक़ था। राजपरिवार में लालन-पालन होने से उनकी आदतें भी वैसी ही पड़ गई थीं। उनका एक चित्र साफ़ा बाँधे रियासती वेश में—उस समय की याद दिलाता है। मेरा उनसे परिचय पहली बार सन '३८ में निरालाजी के यहाँ हुआ। वह कसमण्डा में तब भी नौकर थे, परन्तु वेश दूसरा था, वही जिससे उनके बाद के मित्र भली भाँति परिचित हैं। निरालाजी ने उनका लम्बा-चौड़ा परिचय दिया जिसका मुझ पर उल्टा प्रभाव पड़ा। कुछ दिन बाद मैंने उनका कविता संग्रह देखा और उसने मुझे उनका भक्त बना दिया। दूसरी बार भेंट होने पर हम मित्र हो गये और दिन पर दिन वह मित्रता गाढ़ी होकर बन्धुत्व में

परिणत होती गई। दीक्षित जी का हृदय विशाल था; उनकी सहृदयता अपार थी। उनके अनेक मित्र भी थे जिन पर उनका समान ह स्नेह था।

परिचय होने के चार वर्ष बाद मैंने उन पर एक लेख लिखा था। उसका कुछ भाग यहाँ उद्धृत करने के लिए क्षमा चाहता हूँ। वह मेरे लिए अब भी वैसे ही जीवित हैं, जैसे तब थे। लेकिन श्रीनरोत्तम नागर के शब्द बार-बार याद आते हैं—"पढ़ीसजी पर लिखने बैठता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मरकर भी जीवित हैं और मैं जीवित भी मृत हूँ।"

"दीक्षितजी ठमके से साधारण क़द के आदमी हैं। खद्दर का कुर्ता, धोती, कभी कभी उस पर सदरी, सिर पर गांधीटोपी निराले फ़ैशन में रक्खी हुई; देह मांसलता से हीन, गालों की हड्डियाँ चेहरे में अपना अलग महत्त्व रखती हुई, मोटी भौंहें, आँखों के नीचे भी हल्के रोयें और बड़ी नुकीली झब्बरझैया मूछें—बड़े आदमी के बड़प्पन की पास में कोई बात न होने से लोगों का आत्मविश्वास उन्हें देखकर सहज जाग्रत् हो जाता है। इसीलिए मैंने देखा है, जो लोग औरों के सामने कोई बात कहते झेंपते हैं, वे दीक्षितजी के आगे व्याख्यान देने में नहीं हिचकते। लोगों के साथ व्यवहार करने में दीक्षितजी की वही नीति है, जिसे वह बच्चों के साथ काम में लाते हैं। बच्चे की आत्म गौरव की भावना जगाये बिना वह अपने से बड़े पर विश्वास नहीं करता और इसलिए खुलकर वह हृदय की बात भी नहीं कर पाता। दीक्षितजी को देखकर बच्चों और बूढ़ों का आत्मगौरव समान रूप से जाग्रत् हो जाता है।

"बहुत कम लोग उनकी आँखों की तरफ़ ध्यान देते हैं। घनी भौंहों के नीचे छोटी-छोटी आँखें एक अजीब धुंधलेपन में खोई-सी रहती हैं। किसी अनोखी-सी बात को सुनकर वे चमक उठती हैं,

विस्मय से खुली रह जाती हैं, लेकिन वह धुँधलापन भेदकर नीचे के भाव को जानना फिर भी सम्भव नहीं होता। दीक्षितजी मित्रों-परिचितों में गऊ की तरह सीधे प्रसिद्ध है। उनकी धुँधली आंखों में विरले ही देखने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि अपने भावों को छिपाने की उनमें अद्भुत क्षमता है। वह लोगों को जान या अनजान में बच्चा ही समझते हैं और लोगों का व्यवहार भी ऐसा होता है कि दीक्षित जी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। धुंधलेपन के पर्दे के नीचे जीवन का एक तुमुल संघर्ष, संघर्ष के ऊपर एक भावुक कवि की कल्पना की चादर और अलग, कोनों में एक मनोवैज्ञानिक की झलकती हुई चतुरता और चुहल, इनका पता लगाना उनकी कृतियों को पढ़कर कुछ संभव होता है।"

एक बार लखनऊ-प्रदर्शिनी में वह अपना एक गीत गा रहे थे। प्रदर्शिनी अमीनाबाद में और मेरा मकान सुन्दरबाग़ के इस छोर पर। मैं कमरे में बैठा कुछ काम कर रहा था। रात के साढ़े दस बजे होंगे। अचानक हवा में मुझे कुछ परिचित से स्वर मँड़राते जान पड़े। मैं सबसे ऊपर की छत पर चला गया और वहां से अत्यन्त स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ रहा था—"पपीहा बोलि जा रे, हाली डोलि जा रे!" जब तक वह गीत समाप्त न हो गया, मैं तन्मय उसे सुनता रहा। वैसी मिठास मानों उनके स्वर में पहले मिली ही न थी। आकाश में तैरती हुई स्वरलहरी जैसे और परिष्कृत हो गई थी। वैसे ही मीठे और दूर जीवन के वे अनेक स्वप्न हैं, जिनमें उनका चित्र दिखाई देता है। परन्तु उन सब पर विषाद की एक गहरी छाया पड़ गई है। उन्हें जगाने का साहस नहीं होता।

कविता के लिए उन्होंने अपना नाम 'पढ़ीस' रक्खा था और उसे किसान का पर्यायवाची मानते थे। किसानों को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा था—

"च्यातउ-च्यातउ स्याचउ-स्याचउ
ओ! बड़े पढ़ीसउ दुनिया के।"

उन्होंने अपनी कविताएँ किसान बनकर ही लिखी हैं। किसान तो वह थे ही, कविताओं में अपने किसान के स्वर को उन्होंने स्पष्ट रक्खा है। किसानों के प्रति शिक्षितजनों की अवज्ञा को जैसे उन्होंने अपने किसानपन से ललकारा था। 'चकल्लस' कविता-संग्रह संवत् १९९० वि० में छपा था। कविताएँ उसके पहले लिखी गई थीं। तब यह अवज्ञा और भी बढ़ी-चढ़ी थी। इसी को लक्ष्य करके उन्होंने भूमिका में लिखा था—"शहरों में रहनेवाला शिक्षित समाज अपने को दिहाती और उनकी भाषा से अपने को उतना ही अलग समझता है, जितना कि किसी और देश का रहनेवाला हिन्दुस्तानियों और हिन्दुस्तानी को।" जैसे इस उपेक्षा की प्रतिक्रिया अवधी भाषा में कविता करने में प्रकट हुई। उन्होंने मुझे बताया था कि जब उन्होंने किसानों की ही भाषा में कविता लिखना शुरू किया था, तब उनके अनेक मित्रों ने उन्हें उपेक्षित अवधी में अपनी प्रतिभा नष्ट न करने की सलाह दी थी। यदि दीक्षितजी को मानप्रतिष्ठा की वैसी चाह होती तो वह खड़ीबोली में एक महाकवि बनने का विचार अवश्य करते। परन्तु किसानों के लिए उनके हृदय में जो सहानुभूति उमड़ रही थी, वह उन्हीं की भाषा में काव्यगत रूढ़ियों के बन्धन तोड़कर प्रवाहित हो चली। उनकी कविताओं को पढ़कर बरबस बर्न्स की याद हो आती है। ठीक उसी तरह इनकी कविताएँ भी जैसे खेतों में फली-फूली हों।

ग्राम भाषाओं में साहित्य लिखना जितना मौलिक आजकल मालूम होता है, उतना १९वीं शताब्दी में न था। भारतेन्दु ने "कवि-वचन-सुधा" में इस आशय की विशेष विज्ञप्ति छपाई थी कि हिन्दी कवि ग्रामीण भाषाओं में स्वदेशी, स्वदेश-प्रेम, सामाजिक कुरीतियों

आदि पर गीत और कविताएँ लिखें। उनके युग में इस प्रकार का बहुत-सा लोकसाहित्य रचा भी गया था। द्विवेदी-युग में ये बातें पीछे पड़ गईं, जो स्वाभाविक था। उस समय प्रमुख कवियों को आधुनिक हिन्दी में नवीन कविता की सृष्टि करने की चिन्ता थी। अब खड़ी बोली में बहुत-सी और उच्च कोटि की कविता रची जा चुकी है। हम लोग उस ओर से निश्चित हो रहे हैं। श्रीराहुल सांकृत्यायन तथा अन्य विद्वान भारतेन्दु की तरह ग्राम-भाषाओं में भी जन-साहित्य रचने के लिए ज़ोर दे रहे हैं। दीक्षितजी इस नई विचारधारा के अग्रदूत थे; उन्होंने वर्तमान युग में सबसे पहले इस बात के महत्त्व को समझा था और जैसा कि उनका स्वभाव था, एक बात को तय करके वह उसे कार्यरूप में परिणत भी करने लगे थे। उनके चरणचिह्नों पर अवधी में अन्य कवि भी अब लोकोपकारी साहित्य रच रहे हैं।

पढ़ीसजी की अवधी सीतापुर की अवधी है, जो उस अवधी (बैसवाड़ी) से कुछ भिन्न है, जिसमें प्रतापनारायण मिश्र तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता की थी। परन्तु भारतवर्ष की सभी प्रांतीय बोलियों में एक मधुर देसीपन है, जो हिन्दुस्तान की अपनी चीज़ है, जिस पर बाहर का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ा है, और जहाँ पड़ा है, वहाँ उस देसीपन में घुल-मिलकर एक हो गया है। गाँव में जाकर न तो कोट पैंट की शान रह सकती है, न शेरवानी और चूड़ीदार पायजामे की। यही हाल विदेशी शब्दों का ग्रामीण बोलियों में होता है!

दीक्षितजी को अवधी के शब्दमाधुर्य की वैसी ही परख थी, जैसी किसी महान् कवि को हो सकती है। उनकी रचना "तुलसीदास" का एक-एक शब्द मधुर है, सम्पूर्ण कविता मानो रामचरितमानस में डूबकर निखर उठी है। प्रकृति-वर्णन में वह ताज़गी है, जो अवध की

घनी अमराइयों में पपीहा और कोयल की बोली में होती है और जो पिंजड़े में बन्द मैना की बोली में नहीं होती है। उनकी कविताओं में वही आनन्द है, जो खेत-खलिहानों में घूमनेवाले को खुली हवा से प्राप्त होता है। बर्न्स की तरह 'पढ़ीस' जी ने भी आये दिन को घटनाओं पर कविताएँ लिखी हैं। गाँव में एक बार बढ़िया आई थी, उसी का आँखों देखा वर्णन उन्होंने "हमार राम" नाम को कविता में किया है। केवल किसान-कवि ही लिख सकता है—

"तीखि धार ते कटयि कगारा
धरती धँसयि पनालु।
लखि-लखि बिधना की लीला हम
रोयी हाल ब्यहाल।
मड़ैया के रखवार हमार राम।"

ऐसी तन्मयता बहुत कम कवियों में देखी जाती है। वह किसान ही क्षुब्ध होकर गा रहा है, जिसकी मड़ैया पर राम ने कोप किया है।

दीक्षितजी की बहुत-सी रचनाएं हास्यरस की हैं। व्यंग्य और हास्य के वह सिद्ध कवि थे। एक तो अवधी भाषा ही इस प्रकार की रचनाओं के लिए सर्वथा उपयुक्त है, तिस पर उसका उपयोग किया था दीक्षितजी ने, जिनकी तादृश दृष्टि से कोई भी व्यंग्यपूर्ण परिस्थिति अपने को कभी छिपा न पाती थी। वह किसानों के जीवन में ही हास्य ढूँढ़ निकालते थे; नई संस्कृति से प्रभावित अन्य वर्गों पर भी वह व्यंग्यबाण बरसाने से न चूकते थे। 'किहानी' कविता उनकी व्यंग्यपूर्ण रचनाओं का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस 'किहानी' के 'काका' वह स्वयं हैं। उन्हीं से एक किसान-युवक प्रार्थना करता है कि जब वह राम के घर जायँ, तब उनसे यह 'फ़िरयाद' ज़रूर करें कि हमें अँगरेज का ही बच्चा बनावें। अगर अँगरेज़ के बच्चे

न हो सकें तो ज़मींदार के घर में ही पैदा करें। इसमें भी कुछ मीन-मेख हो तो पटवारगीरी तो कहीं गई नहीं है। पटवारगीरी न मिले तो चौकीदार तो बना ही देंगे। किसान से वह फिर भी अच्छे ही रहेंगे। शोषण-यन्त्र में कितने कलपुर्ज़े हैं। इन सबके बीच में है किसान, जो चौकीदारी के आशा-स्वप्न को छोड़कर अपने खेत की ओर यह कहकर चलता है—

"दुइ पहर दिनउना चढ़ि आवा
जायित हयि रामु क कामु करयि।
बड़कये ख्यात ते का जानी
क्यतने कँगलन का पेटु भरयि।"

'पढ़ीस' जी की कुछ अन्य अप्रकाशित रचनाएँ माधुरी के पढ़ीस अंक में मिलेंगी। वह अनेक छन्दों का प्रयोग करते थे और उन्हें सबमें समान सफलता मिली है। उनकी व्यंग्यपूर्ण कविता में बोल चाल की चपलता है। शान्त और गम्भीर कविताओं में संगीतमय धीमा प्रवाह है।

उनकी ग्राम-जीवन-सम्बन्धी कहानियों में वैसा ही सजीव वर्णन है, जैसा उनकी कविताओं में। उनकी सबसे पहली कहानी शायद "क्या से क्या" है, जिसका कथासूत्र कुछ उलझा हुआ है। वह वास्तव में कई कहानियों से मिलकर बनी है और उसके ये विभिन्न कथांश अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। प्रकाशित कहानियों में सबसे पहली "पाँर्वी" है, जो "माधुरी" में छपी थी। उसके पहले पैराग्राफ़ में ही ढाक के जंगल का वर्णन अद्भुत है। "क ख ग घ" में उन्होंने गाँवों में अनिवार्य शिक्षा के दुष्परिणामों का चित्र खींचा है। इसके "मुंशीजी" का ज़िक्र उन्होंने अपने एक लेख में भी किया है। "ढाई अच्छर" उन कहानियों में है, जिनमें उन्होंने विकृत मस्तिष्क के लोगों का चित्रण किया है।

"फक्कड़" "कँगले" आदि कहानियाँ उस कोटि की हैं, जिनमें उन्होंने समाज के निम्नतम वर्ग के लोगों का चित्रण किया है। इन लोगों पर इतने निकट से उन्हें देख-सुनकर किसी ने नहीं लिखा। इधर उन्होंने कुछ छोटे-छोटे अत्यन्त सुन्दर स्केच लिखे थे—"चमार भाई" "काज़ी भाई" "पाठक भाई" इत्यादि। इनमें "पंडितजी" वह स्वयं हैं। "काज़ी भाई" स्केच "हंस" में छपा था। श्रीशिवदान-सिंह चौहान ने लिखा था—पंडितजी बहुत उदार हैं। काज़ी भाई की तरह उन्हें भी अनुदार होना चाहिए था!

इन कहानियों को पढ़नेवाले समझ सकेंगे कि दीक्षितजी मानव-मनोविज्ञान में कितनी गहराई तक पैठे थे। उनमें ऐसी ही सहृदयता थी। जिसे लोग देखकर घृणा से अपनी आँख फेर लेते थे, उसी के वह और निकट खिंचते थे। वह हिन्दू, मुसलमान और ब्राह्मण, शूद्र का भेदभाव न मानते थे। केवल विचार-भूमि पर नहीं, व्यवहार-जगत् में उन्हें अपने आदर्शवाद के कारण कट्टरपंथियों से अपमानित होना पड़ता था। वह गाँव में पासी-चमारों से मिलने और गाँव के बड़े-बूढ़ों के चिढ़ने की बहुत-सी बातें बताया करते थे।

बच्चों से उन्हें बड़ा प्रेम था। जिस घर में भी जाते, बड़ों से ज्यादा उनकी दोस्ती छोटों से हो जाती। उनके कुछ दिन तक न आने पर अचानक बच्चे पूछने लगते—कब आयेंगे कक्कू?

बच्चों की शिक्षा में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी। वह बच्चों को भी स्वयं पढ़ाते थे। अन्यत्र प्रकाशित उनकी "आत्मकथा" पढ़ने से उनके इस शिक्षक-जीवन का परिचय मिलेगा। उन्होंने हिन्दी में पहले-पहल बच्चों को सज़ा देने का तीव्र विरोध किया था। बचपन में जो दोष बच्चों में आ जाते हैं, उनके लिए वे माता-पिता को ही दोषी ठहराते थे। बच्चों और सेक्स के बारे में उनके विचार अवश्य ही स्वतन्त्र

और क्रांतिकारी थे। अब हिन्दी में और भी इस प्रकार के विचारों का पोषक साहित्य रचा जाने लगा है। दीक्षितजी ने अँगरेज़ी में इस सम्बन्ध का कुछ साहित्य पढ़ा था, परन्तु उनके अधिकांश विचार मौलिक थे और उनके निजी प्रयोगों के परिणाम थे। बच्चों में चंचलपन उन्हें पसन्द था। हाथ जोड़कर नमस्ते की क़वायद करने वाले बच्चों के माता-पिता को वह खरी-खोटी सुनाये बिना न रहते थे। बचपन में धर्म और पुण्य-पाप की कहानियाँ सुनाकर बच्चों में जो भीरुता भर दी जाती है, उसकी उन्होंने कटु शब्दों में निन्दा की है। छोटे-से परिवार में माता-पिता और पुत्र के बीच प्रेम और घृणा का जो द्वंद चला करता है, वह उनकी दृष्टि से छिपा न था। बच्चे में जिस बात की ओर सहज रुझान हो, उसी की ओर उसे प्रोत्साहित करना वह अपना कर्तव्य समझते थे। इनाम और बख़शीश देकर बच्चों में स्पर्द्धा भाव जगाना भी वह अनुचित समझते थे। मतमतांतरों के प्रचार से बच्चों में कुसंस्कार उत्पन्न करना वह पाप समझते थे। सन् '३३; '३७ और '३८ की "माधुरी" में उनके इस विषय के अनेक लेख प्रकाशित हुए थे। उनमें सबसे रोचक उनके निजी प्रयोगों और बच्चों के शिक्षा-सम्बन्धी अनुभवों का वर्णन है। वह अपने आदर्शों के अनुसार ही अपने बच्चों को शिक्षा देते थे और उनसे भाईचारे का व्यवहार रखते थे। इसीलिए उनके बच्चे साधारण परिवारों के बच्चों से भिन्न कोटि के और तीक्ष्णबुद्धि हैं।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा था कि अकाल ही माता-पिता अपने पुत्रों को धार्मिक और सत्यवादी बनाना चाहते हैं। "नहीं तो चार-चार बालिश्त के पीले मुँह, पिचके गाल, आँखें धँसीं, नसें निकलीं, किताबों के गट्ठर से झुकते हुए हीरालाल, जो अस्वस्थ हो अकाल ही कालकवलित हो जाते हैं, स्कूल की सड़कों और गलियों में श्रीहत रेंगते न दिखाई पड़ते।" उनके

शिक्षण-प्रयोगों के मूल में यही वेदना थी, मानों उसी की पूर्ति वह अपनी सहृदयता से करना चाहते थे।

जीवन के अंतिम दिनों में भी वह अपने यहाँ एक पाठशाला चला रहे थे। ३० जून, सन् '४२ को उन्होंने श्रीबुद्धिभद्र के नाम अपना अंतिम पत्र लिखा—

"प्रिय वत्स,

मेरे पैर में चोट आ गई है। चुन्नी से सब हाल जानोगे। चोट घातक नहीं है, परन्तु कष्टदायक अवश्य है। तुम सौभाग्यवती बहू को लेकर, सुविधानुसार चले आओ। चि० परशुराम अभी आये ही थे, न आयें तो अच्छा है।

अधिक प्यार

कक्कू

मैं चित्र साहब को लिखे भी दे रहा हूँ"

× × ×

वही सुडौल सुन्दर अक्षर हैं; आसन्न मृत्यु की छाया कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसके ठीक दो सप्ताह बाद ही उनका देहान्त हुआ। चोट कितनी घातक थी, साबित हो गया।

उन्होंने अपने एक अधूरे लेख में लिखा था—"हमें जो कुछ करना है वह उनसे, जो नित्यप्रति के जीवन में आँख खोलकर चलने वाले आज के हिन्दुस्तानी हैं, जिन्हें केवल सच्ची-सीधी बात सोचने और कहने के कारण अपनों से ठोकर लेनी पड़ती है, फिर भी वे आँख मूँद या स्वप्नलोक में विचरकर कोई काम नहीं करना चाहते, जिनका यह मत है कि धर्म और समाज की अच्छाइयों का प्रयोग अधिक-से-अधिक ऐहिक जीवन में हो जाना चाहिए।" ऐसे लोगों के लिए, मुझे विश्वास है, स्वर्गीय दीक्षितजी का साहित्य उनका एक दृढ़ और जीवित स्मारक रहेगा।

जनवरी '४३

शेली और रवीन्द्रनाथ

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में शेली ने जिस नवीन सौन्दर्य को जिस नये सङ्गीत का स्वर-परिधान पहनाकर अपनी कविता में जन्म दिया था, उसी का आभास रवीन्द्रनाथ की युवाकाल की कविताओं में बङ्ग-भाषा-भाषियों को मिला। इसीलिए वह बङ्गाल के शेली कहलाये। उनकी कविता का मूल स्रोत रोमाण्टिसिज्म (Romanticism) है। संसार से उचाट, अतीत में सहानुभूति एवं सच्चे सौन्दर्य की खोज, प्रकृति में किसी रहस्यमयी महाशक्ति के दर्शन, किसी दूर अज्ञात कल्पना-लोक की अपने ही भीतर सृष्टि आदि बातें दोनों कवियों में समान रूप से पायी जाती हैं। दोनों ने भाषा को बहुत-कुछ नवीन रूप दिया, नये-नये छन्दों की सृष्टि की। शेली की कविता और साधारणतः तत्कालीन रोमाण्टिक कविता अपने बाह्य आकार-प्रकार से सुगठित न होने के लिए बदनाम है। कवि के भाव-प्रवाह ने अधिकांशतः एक ऐसी उच्छृङ्खल गति धारण की कि कलाकारों को उसमें बहुत-कुछ असंस्कृत, दुरूह तथा कला-हीन मिला। कविता का बांध तोड़ते समय कवि स्वयं उस निर्बाध धारा में बहुत दूर तक दिशा-ज्ञान-हीन हो बहता चला गया। रवीन्द्रनाथ में आकार-प्रकार-सम्बन्धी कलात्मक भ्रान्तियां शेली से बहुत कम हैं। कविता की बाह्य निर्माण-कला को ध्यान में रखते हुए वह एक क्लासिकल कवि कहे जा सकते हैं।

(१) प्रकृतिः—रोमाण्टिक कविता का एक विशेष भाग प्रकृति से सम्बन्धित है। दोनों कवियों ने क्रमशः बङ्गाल तथा इटली के नदी, तालाब, बन, पर्वत, समुद्र, आकाश, सन्ध्या, प्रभात, ऋतु आदि का

वर्णन किया है। कभी वे प्रकृति से तटस्थ रहकर उसे एक भिन्न दर्शक मात्र बनकर देखते हैं; एक वैज्ञानिक की भाँति उसके रूप का चित्रण करते हैं। कभी उसको चेतन मानकर उसे अपनी सुख-दुःख की बातें सुनाते हैं किंवा वही अपने परिवर्तित दृश्यों द्वारा उन पर नाना भाव प्रकट करती है। किन्तु उनकी प्रकृति इस लोक की क्षुद्र सीमाओं में बँधी नहीं है। उनकी कल्पना समस्त सृष्टि में विचरण करने के लिए स्वतन्त्र है। रवीन्द्रनाथ देखते हैं—

"महाकाश-भरा
ए असीम जगत् जनता,
ए निविड़ आलो अन्धकार,
कोटि छायापथ, मायापथ,
दुर्गम उदय-अस्ताचल।"

इसी भाँति शेली पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, जन्म और मरण के गीत गाता है—

I sang of the dancing stars,
I sang of the daedal Earth,
And of Heaven—and the giant wars,
And Love, and Death, and Birth,—"

प्रकृति से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध का एक मुख्य कारण यह है कि उसके द्वारा ही पहले वे संसार के रहस्य को भेद सके। यद्यपि वर्ड्‌स्वर्थ की भाँति उनका कहना यह नहीं है कि प्रकृति को छोड़ अन्यत्र ज्ञान प्राप्ति दुर्लभ है, प्रत्युत रवीन्द्रनाथ अपने ही भीतर आत्म-दर्शन पर बार-बार जोर देते हैं, तो भी पहले-पहल ज्ञानालोक मनुष्य से दूर उन्हें प्रकृति के सम्मुख मिला।

शेली को प्रकृति में इस अमर सौन्दर्य के अनेक बार दर्शन होते हैं। रवीन्द्रनाथ की उपास्य देवी नाना वेश धारण करके उन्हें प्रकृति

में दर्शन देती है। प्राकृतिक दृश्यों के दोनों ने सुन्दर सुन्दर रूपक बाँधे हैं; प्राकृतिक वस्तुओं का उपमाओं में दोनों की कविता में प्रचुर प्रयोग है। प्रकृति की अनेक रूपता और उसके रङ्गों में उनकी कविता रंगी हुई है।

(२) नारी-सौन्दर्यः—सौन्दर्योपासक इन दो कवियों ने नारी को नाना रङ्गों के आवरण पहनाकर उसे अनेक कोणों से देखा है। प्लैटो के सौन्दर्य-सिद्धान्तों को मानने वाले शेली के लिए अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन करने के लिये पहले नारी-रूप की उपासना सापेक्ष है। जो ज्ञानालोक सुन्दर और अमर है, उसकी स्वर्गिक आभा नारी में दिखाई देती है। मनुष्य उसके रूप को पूजकर क्रमशः पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य तक पहुँच सकेगा। "प्रोमीथियस" के लिए "एशिया" उसके जीवन का आलोक एवं अदृश्य सौन्दर्य की छाया है—

"Asia, thou light of life,
Shadow of beauty unbeheld;"

रवीन्द्रनाथ की प्रेयसी उनके जीवन का आलोक ही नहीं है; उसके बाहु-बन्धन में उनके जीवन और मरण दोनों बंधे हैं।

"तुमि मोर जीवन मरण
बाँधियाछो दु-टि बाहु दिया।"

निरावरणा इस नारी को वे उसके नग्न सौन्दर्य की आभा-में ही भासमान देखना चाहते हैं—"फेलो गो वसन फेलो—घुचाओ अञ्चल; पोरो शुधु सौन्दर्जेर नग्न आवरण, सुर-बालिकार बेश किरण वसन।" ("विवसना"—"कड़ि ओ, कोमल"।)

इसी भाँति शेली उसे अपने ही आनन्द के स्वर्गीय प्रकाश से समावेष्टित देखता है—

"Thou art folded, thou art lying
In the light which is undying.

Of thine own joy, and
heaven's smile divine!"

नारी के सौन्दर्य का रहस्य उसे और भी सुन्दर बना देता है। वृन्तहीन पुष्प के समान अपने रूप में जैसे वह आप विकसित हो उठी हो। आकाश और पवन तक इस रहस्यमयी की पूजा करते हैं, उसे प्यार करते हैं। "एशिया" से उसकी सखी पूछती है—

"Feelest thou not
The inanimate winds enamoured of thee?"

"उर्वशी" की तन-गन्ध-वहन करनेवाली अन्ध वायु चारों ओर घूमती है। अन्यत्र जब "विजयिनी" सरोवर से नहाकर निकलती है तो आकाश और पवन सेवक की भाँति उसकी परिचर्या करते हैं—

"घिरि तार चारिपाश
निखिल बातास आर अनन्त आकाश
जेनो एक ठाँइ एसे आग्रहे सन्नत
सर्वाङ्ग चुम्बिल तार,—"

यह नारी स्वयं भी प्रकृति के नाना वेशों में दर्शन देती है।

(३) प्रेमः—जिस तरह ये कवि पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य पाना चाहते हैं, वैसे ही मानो वासना से प्रेम। रवीन्द्रनाथ की प्राथमिक कविताओं में प्रेम से अधिक वासना ही मिलती है। "निर्भरेर स्वप्न-भङ्ग" में जब रहस्य-अवगुण्ठन छिन्न होता है, उस काल—

"प्राणेर बासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारि।"

प्राणों की वासना, प्राणों के आवेग को वह रोक नहीं सकते। इसी वासना के आकर्षण से प्राण-पक्षी रोने लगता है।

"प्राण पाखी काँदे एइ
बासनार टाने।"

शेली अपने आवेग को संभाल नहीं पाता; वह उसे मृत-तुल्य बना देता है—

"My heart in its thirst is a dying flower,"
तथा "I faint, I perish with my love !"

क्या पुरुष, क्या स्त्री, क्या प्रकृति, सभी अपना आवेग संभाल नहीं पाते। बकुल फूल "विवश" होकर जल में गिरते हैं—

"विवश होये बकुल फूल
खसिया पड़े नीरे।"

मध्याह्न की ज्योति वन की गोद में मूर्छित पड़ी है—

"मध्यान्हेर ज्योति
मूर्च्छित बनेर कोले, "

पुष्प-गन्ध से विह्वल वायु सारसी के वक्ष पर सुदीर्घ निःश्वास छोड़ती गिर पड़ती है—

"बहु बन गन्ध बहे
अकस्मात् श्रान्त वायु उत्तप्त आग्रहे
लुटाये पड़ितेछिल सुदीर्घ निश्वासे
मुग्ध सरसीर बक्षे स्निग्ध बाहुपाशे।"

इसी भाँति पुरुष का अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रिया के अङ्गों से मिलने के लिए विकल है। यद्यपि प्राणों का मिलन हो चुका है, तथापि अभी देह का मिलन बाकी है। "प्रति अङ्ग काँदे तब प्रति अङ्ग तरे, प्राणेर मिलन मागे देहेर मिलन। हृदये आच्छन्न देह हृदयेर भरे, मुरछि पड़िते चाय तब देह परे।"

अब शेली के आवेग की विवशता, मिठास और उसकी मूर्च्छना को देखिये। दैहिक मिलन उसके अस्तित्व को प्रिया के अस्तित्व में मिला देगा।

"And I will recline on thy marble neck
Till I mingle into thee."

आनन्द इतना अधिक हो सकता है कि हृदय उसे सहन न कर वेदना से कराह उठे,—

"So sweet that joy is almost pain."

आँखें अपने इस आनन्द को स्वयं न देखें—

"Let eyes not see their own delight."

इसी भाँति हवायें अपने सङ्गीत पर मुग्ध होकर जान देती हैं—

"Winds that die
On the bosom of their own harmony."

वसन्त के दिनों में उनके पङ्ख फूलों की सुगन्ध से भर गये हैं—

"The noontide plumes of summer winds
Satiate with sweet flowers."

और भी

"The wandering airs they faint
On the dark, the silent stream—"

फूलों पर मूर्च्छित मध्याह्न ज्योति—

"And noon lay heavy on flower and tree,"

यही वासना कवि को प्रेम-तत्व की ओर ले आती है। वह पार्थिव में अपार्थिव, देह में विदेह के दर्शन करता है। रवीन्द्रनाथ को प्रेयसी की आँखों में काँपते हुए उसके प्राण दिखाई देते हैं—

"आमा-पाने चाहिए तोमार आँखिते कांपित प्राण खानि।"

इसी भाँति शेली की प्रिया के अधर वह बात नहीं कह सकते, जिसे उसकी आत्म-प्रकाश-दीप्त आँखें कह देती हैं—

"And the tremulous lips dare not speak
What is told by the soul-felt eye."

जब मिलन होता है तो संसार जैसे लुप्त हो जाता है, मिलनेवालों की एक ही सत्ता रह जाती है—

"बिजन बिश्वेर माझे, मिलन श्मशाने,
निर्ब्बापित सूर्ज्यालोक लुप्त चराचर,
लाज-मुक्त बास-मुक्त दुटि नग्न प्राणे,
तोमाते आमाते होइ असीम सुन्दर।"

(पूर्ण मिलन—कड़ि ओ' कोमल)।

इसी तरह शेली में मिलन होने पर दोनों की एक आशा, एक जीवन, एक मरण होता है।

(४) विषादः—रोमाण्टिक कवि की एक अन्य विशेषता है, उसका दर्द। संसार के दुःख उसे दुखी करते हैं। यहाँ स्थिरता किसे है? जिसे हम प्यार करते हैं, जिसकी सुन्दरता हमें मुग्ध करती है, दो दिन बाद उसका भी सभी के समान मरण होता है। शेली ने मृत्यु से उत्पन्न दुःख को बड़े ही करुण शब्दों में व्यक्त किया है। मनुष्य को मृत्यु से कुछ भी नहीं बचा सकता।

"What can hide man from mutability?"

संसार में जो कुछ भी सुन्दर है, जो कुछ भी कल्याणकर है, कब्र उसे अपने भीतर छिपा लेती है—

"The grave hides all things beautiful and good."

रवीन्द्रनाथ भी इस मृत्यु का स्मरण करके एक बार कह उठते हैं—

"तुइ जाबि, गान जाबे, एक साथे मेसे जाबे
तुइ, आर तोर गान गुलि!"

तू जायगा और तेरे ये गीत जायँगे, दोनों एक साथ काल-स्रोत में बह जायँगे। इस मायामय संसार में चिरदिन कुछ भी न रहेगा।

"एइ मायामय भबे चिरदिन किछु र'बे ना।"

जब तक मनुष्य जीता है, आशा-निराशा का हृदय में तुमुल युद्ध मचा रहता है—

"We look before and after
And pine for what is not."

मृत्यु में ही हृदय की इस उथल-पुथल का अन्त होगा—

"Doubtless there is a place of peace
Where my weak heart and all its throbs will cease."

रवीन्द्रनाथ कहते हैं, यह जलती वासना, यह रोना धोना व्यर्थ है—

"वृथा ए क्रन्दन !
वृथा ए अनल-भरा दुरन्त बासना !"

वह कभी शान्त न होगी, अपनी आँखों के पानी में उसे डुबा दो।

"निबाओ बासनाबह्नि नयनेर नीरे।"

(६) अतीतः—उनके विषाद का एक और कारण है, उनका वर्तमान से असन्तोष। शेली ने अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक नियमों का एवं प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों का कठोर से कठोर भाषा में खण्डन किया है। राजाओं और पुजारियों के शीघ्र नाश होने की उसने भविष्यवाणी की है; सभी प्रकार के बन्धनों के छिन्न होने पर वह मनुष्यको मुक्त देखना चाहता है। रवीन्द्रनाथ इतने उद्धत क्रान्तिकारी नहीं, पर इसीलिए समाज की, राजतन्त्र की उनकी आलोचना अधिक गम्भीर एवं हितकर सिद्ध हुई है। फिर भी दोनों ही कवि वर्तमान को छोड़ कर अतीत में अपना प्रिय वातावरण खोजते

हैं। शेली ग्रीक और रोमन धर्म-कथाओं को अपनी कविता का आधार बनाता है; उनके देवी-देवताओं की उपासना में अपने गीत गाता है। सामयिक कविता उसकी रुचि के इतनी अनुकूल नहीं होती जितनी पुरातन। रवीन्द्रनाथ अपनी भाषा के कवियों में वैष्णव कवियों को ही पहले अधिक पढ़ते हैं। उनकी भाषा, और छन्दों पर वैष्णव कविता की छाप दिखाई देती है। संस्कृत कवियों में कालिदास के वह अन्य भक्त हैं। उनकी कृतियों पर तथा स्वयं कालिदास पर उनकी अनेक कवितायें हैं। कालिदास के समय को लेकर उनकी अनेक कल्पनायें हैं। संस्कृत पौराणिक कथाओं का आधार लेकर उन्होंने बहुत रचनायें की हैं। इसी भाँति जातक कथाओं एवं पञ्जाब और महाराष्ट्र के इतिहास का भी अपनी कविता में उन्होंने आधार लिया है। समय की दूरी के कारण अतीत जिस पर भी अपनी सुनहली सन्ध्या की सी झिलमिल ज्योति डालता है, वह उनके लिए एक आकर्षण की वस्तु बन जाता है। आधुनिक सभ्यता को उसके नगर, उसके लौह, काष्ठ और प्रस्तर वापस देकर वह अपने पुराने तपोवन, सामगान और सन्ध्या-स्नान चाहते हैं—

> "दाओ फिरे से अरण्य, लओ ए नगर,
> लहो जतो लौह लौष्ट्र काष्ठ औ' प्रस्तर,
> हे नव सभ्यता, हे निष्ठुर सर्वग्रासी,
> दाओ सेइ तपोवन पुण्यच्छायाराशि,
> ग्लानिहीन दिन गुलि,—सेइ सन्ध्यास्नान,
> सेइ गोचारन, सेइ शान्त सामगान," इत्यादि।

उनकी कविता प्राचीन भारत के स्वर्ण-स्वप्नों से भरी पड़ी है।

(७) रहस्यवाद:—मृत्यु से उत्पन्न विषाद पर ऊपर लिखा जा चुका है। कवि इस दुःख को तब भूल जाता है जब वह भावी जीवन की ओर देखता है। मनुष्य का जीवन इसी जन्म से आरम्भ नहीं

होता, न उसका इसी मृत्यु से अन्त होता है। जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् क्रमशः पूर्णता की ओर उन्नति करता हुआ वह उस अमर जीवन से मिल जाता है, जो पूर्ण है, सुन्दर तथा सत्य है। यह संसार बन्धन है; मनुष्य अपने जिस सांसारिक जीवन को जीवन कहता है वह जीवन नहीं। शेली की (Pantheistic) भावना यहाँ कहीं-कहीं रवीन्द्रनाथ से बिलकुल मिल जाती है। मनुष्य मरने पर प्रकृति के अनन्त जीवन से मिल जाता है। कीट्स की मृत्यु पर लिखते हुए वह कहता है—

"He is made one with nature: there is heard
His voice in all her music, from the moan
Of thunder, to the songs of night's
sweet bird;"

इसी भाँति रवीन्द्रनाथ का बालक प्रकृति-तत्वों से मिलकर अपनी माँ से अनेक खेल खेलता है।

"हावार सङ्गे हावा हो' ये
जाबो मा तोर बुके ब'ये,
ध'र्‌ते आमाय पार्‌बि ना तो हाते।
जलेर मध्ये होबो मा ढेउ
जानते आमाय पार्‌बे ना केउ,
स्नानेर बेला खेल्‌बो तोमार साथे।"

संसार के छाया-पट परिवर्तित हुआ करते हैं, एक अमर जीवन की ज्योति-मात्र सदा जाग्रत रहती है।

"The One remains, the many change and pass;
Heaven's light for ever shines, Earth's
shadows fly;"

शेली के लिए संसार की आत्मा स्नेहपूर्ण, सुन्दर और सदा प्रकाशमान है।

यह प्रेम और सौन्दर्य की ज्योति संसार का जीवन है। जिस पर उसका पूर्ण प्रकाश पड़ता है, उसके पार्थिव बन्धन छिन्न हो जाते हैं। उसी में वह मिल जाता है। रवीन्द्रनाथ के जीवन-देवता प्रेम और सौन्दर्य की पूर्णता हैं। जन्म-जन्मान्तर से वह उनसे मिलने के लिए व्याकुल हैं। वही नहीं, समस्त संसार उसी पूर्णता से मिलने के लिए गतिमान है। जब तक वह मिलन न होगा तब तक स्थिरता भी न होगी।

(८) शब्द-चित्र :—दोनों कवि कुशल चित्रकार हैं। शेली की कल्पना पार्थिव आकार-प्रकार से कम बंधती है। सुन्दर वस्तु के रूप में, उसकी ज्योति में जैसे उसकी दृष्टि बंध जाती हो, किंवा स्थूल को छोड़कर वह जैसे सूक्ष्म सौन्दर्य को ही व्यक्त करना चाहे ; इस कारण उसके चित्र अपने वाह्य आकार में उतने स्पष्ट नहीं उतरते जितने रवीन्द्रनाथ के। वाह्य सौन्दर्य से आकृष्ट होकर वह उसे देर तक देखते हैं, अनेक कोणों से देखकर उसकी रेखा-रेखा का सुविस्तर वर्णन करते हैं। सुन्दरियाँ उनके सामने विभिन्न वेशों में, विभिन्न हाव-भावों के साथ आती हैं, तरह-तरह के पोज़ करती हैं; कवि मुग्ध होकर उनके सजीव चित्र उतारता जाता है। उनकी समानता चित्र को प्रकाश से आवेष्टित करने, उसके अङ्गों में रंग भरने में है। दोनों ही रंगों को प्यार करते हैं, चित्र पर प्रकाश और छाया का खेल देखना चाहते हैं। शेली की सुन्दरी सन्ध्या के पीत आलोक में हाथ बाँधे आँखें खोले लेटी है :—

"With open eyes and folded hands shelay,
Pale in the light of the declining day."

स्नान करके आयी हुई "विजयिनी" पर मध्याह्न का आलोक पड़ता है—

"तारि शिखरे शिखरे
पड़िल मध्याह्न रौद्र—ललाटे अधरे
उरु परे कटितटे स्तनाग्रचूड़ाय
बाहुजुगे,—सिक्त देहे रेखाय रेखाय
झलके झलके।"

नग्न सौन्दर्य की उपासना पर ऊपर भी कहा जा चुका है। पूर्णिमा रजनी ज्योत्स्ना-मग्न अपनी नग्नता में कितनी सुन्दर है—

"बिमल गगना, बिभोर नगना,
पूरनिमा निशि, जोछना-मगना;"

शेली नग्ना नव-विवाहिता को अपने सौन्दर्य पर विह्वल देखता है—

"A naked bride
Glowing at once with love and loveliness
Blushes and trembles at her own excess."

रङ्गों की समानता देखिये। रवीन्द्रनाथ का निर्झर

"रामधनू आंका पाखा उड़ाइया,
रविर किरणे हासि छड़ाइया;"—बहता है।

शेली की निर्झरिणी Arethusa भी अपने इन्द्र धनुष के केश उड़ाती बहती है—

"She leapt down the rocks,
With her rainbow locks,
Streaming among the streams;—"

दोनों कवियों की दृष्टि अत्यन्त पैनी है। जो सब देख सकते हैं, उसका तो वे चित्र खींचते ही हैं, जहाँ केवल कवि-दृष्टि पहुँच सकती है, उस अदृश्य को भी वे अपने शब्दों में साकार कर दिखाते हैं।

शेली समुद्र-तल के नीचे उसकी शक्तियों को रत्न-माणिक्यों के सिंहासनों पर बैठा देखता है।

रवीन्द्रनाथ समुद्र जल में उर्वशी के मणि-दीप्त कक्ष में उसके प्रवाल-पालङ्क तथा उसके मानिक-मुक्ताओं के साथ खेलने की कितनी सुन्दर कल्पना करते हैं—

"आंधार पाथारतले कार घरे बसिया एकेला
मानिक मुकुता ल'ये क'रे छिले शैशबेर खेला।
मनिदीप-दीप्तकक्षे समुद्रेर कल्लोल-सङ्गीते
अकलङ्क हास्यमुखे प्रवाल-पालङ्के घुमाइते
कार अङ्कटिते ?"

कविता, सन्ध्या, वर्षा, वेदना, रात्रि, मृत्यु आदि के भी उन्होंने सुन्दर चित्र बनाये हैं। शेली के पास जब वेदना आती है तो एक सुगठित आकार में, कवि उसे पास बिठाता है, उससे बातचीत करता है, उससे चुम्बन माँगता है—

"Kiss me;—oh ! thy lips are cold :
Round my neck thine arms enfold—
They are soft, but chill and dead ;
And thy tears upon my head
Burn like points of frozen lead."

रवीन्द्रनाथ की कविता-कामिनी के चुम्बन अधिक मधुर हैं—

"उज्ज्वल रक्तिम वर्ण सुधापूर्ण सुख
रेखो ओष्ठाधरपुटे, भक्त भृङ्ग तरे
सम्पूर्ण चुम्बन एक, हासि स्तरे स्तरे
सरस सुन्दर ;"

इन कवियों की कल्पना की समानता उनके चित्रों की समानता

में अनेक स्थलों पर प्रकट होती है। रवीन्द्रनाथ के अवाक् तारे रात भर जल के तारों की ओर देखते रहते हैं—

"आकाशेर तारा अवाक होबे
सारारटि रजनी चाहिए रोबे
जलेर तारार पाने।"

शेली के तारे भी—

"The sharp stars pierce winter's crystal air
And gaze upon themselves within the sea."

(६) विश्व और देशः—समस्त सृष्टि को अपना क्रीड़ाक्षेत्र बनाने वाली यह महती कल्पना देश-काल के बन्धनों से बंधकर नहीं रह सकती। उन्हें तोड़कर, इन कवियों ने मनुष्य-मात्र की समानता, एकता, तथा बन्धुत्व के गीत गाये हैं। जाति-पाँति, धर्म-सम्प्रदाय, देश-विदेश आदि मनुष्य को अपने भाई मनुष्य से दूर नहीं रख सकते। मनुष्यता का स्नेह-सूत्र उन्हें एक साथ बाँध लेगा।

जिसे हम जीवन कहते हैं, जिसे हम संसार कहते हैं, वह वास्तविक जीवन नहीं, वास्तविक संसार नहीं। सत्य पर मायाका आवरण पड़ा है, उसके दूर होने पर ही सच्ची मनुष्यता देख पड़ेगी। इसीलिए क्षुद्र भेद-भावों को भूल रवीन्द्रनाथ संसार के सभी मनुष्यों को एक स्नेह-मिलन में सम्मिलित होने के लिए बुलाते हैं—

"एसो हे आर्ज्ज, एसो अनार्ज्ज,
हिन्दु मुसलमान
एसो एसो आज तुमि इंराज,
एसो एसो खृष्टान।
एसो ब्राह्मण, शुचि करि मन
धरो हात सबाकार,

एसो हे पतित, होक् अपनीत
सब अपमान-भार ।"

(१०) मानवता:—विश्व या देश में फैले हुए अत्याचार और दासत्व से भी उन्होंने आँखें नहीं फेर लीं। शेली ने अपने देश के स्वेच्छाचारी शासन की कठोर शब्दों में आलोचना की है। वहाँ के राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति कटु से कटु शब्दों का प्रयोग किया है। वैसी तीव्रता रवीन्द्रनाथ में नहीं मिलती। शेली का जन्म एक स्वतन्त्र देश में हुआ था, रवीन्द्रनाथ का एक परतन्त्र देश में हुआ है। उनकी कविता में अपने देश के प्रति दर्द हो, उसकी मुक्ति के वह स्वप्न देखें, यह स्वाभाविक है। किन्तु शेली की सहृदयता देखते ही बनती है। उसे अवनति के दुःस्वप्न में मग्न समस्त पूर्व के प्रति सहानुभूत है—

"Darkness has dawned in the East
On the noon of time ;
The death-birds descend to their feast,
From the hungry clime."

परतन्त्र ग्रीस को वह अपना देश समझकर उसकी मुक्ति के लिए अपनी शक्तियां का पूर्ण प्रयोग करता है। ग्रीस दास नहीं रहेगा, उसकी पुरानी सभ्यता एक बार और जागेगी, पहले से भी शुचितर रूप में। यही सभ्यता, यही जागरण संसार से अत्याचार-अनाचार को दूर करके स्नेह और विश्व-बन्धुत्व का पथ प्रशस्त करेगा।

"Another Athens shall arise,
And to remoter time
Bequeath, like sunset to the skies,
The splendour of its prime ;

And leave, if nought so bright may live,
All earth can take or heaven can give."

संसार में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या का बहुत दिनों तक राज्य रहा; क्या वह सदा ही बना रहेगा? संसार की इन भीषण लड़ाइयों का क्या कहीं अन्त है—

"Oh, Cease! must hate and death return
Cease! must men kill and die?
Cease! drain not to its dregs the urn
Of bitter prophecy."

इस पैशाचिक युद्ध के तुमुल घोष को भेदकर रवीन्द्रनाथ अपने देश में "विश्व-देव" की वाणी ऊपर उठते हुए देखते हैं—

"डुबाये धरार रण-हुङ्कार
भेदि' बणिकेर धन-झङ्कार
महाकाश, तले उठे ओंकार
कोनो बाधा नाहिं मान।"

शेली के ग्रीस की भाँति रवीन्द्रनाथ के भारतवर्ष में भी सभ्यता का शङ्ख बजेगा—

"नयन मुदिया भावी काल-पाने
चाहिनु, शुनिनु निमेषे
तव मङ्गल विजय शङ्ख
बाजिछे आमार स्वदेशे।"

भावी के इस अनागत स्वप्न के ये दोनों कवि द्रष्टा हैं, वे चाहते हैं कि उनकी वाणी में वह शक्ति हो जो संसार को शीघ्र से शीघ्र उस सुन्दर महास्वप्न की ओर ले चले।

रवीन्द्रनाथ—

"आमार जीवने लभिया जीवन
जागो रे सकल देश !"

इन दोनों ही कवियों ने पूर्व और पश्चिम के भेद-भाव को नहीं माना। प्रत्युत् रवीन्द्रनाथ की कविता में पाश्चात्य के प्रति ऐसा कोई स्नेह अथवा हार्दिक आकर्षण नहीं प्रकट होता जैसा शेली की कविता में प्राच्य के प्रति। अपनी कविता में वह भारतवर्ष का कितनी बार जिक्र करता है। काश्मीर की घाटियों, हिमालय को उपत्यकाओं, यहाँ के फूलों की सुगन्ध से उसकी कल्पना अपरिचित नहीं।

[१६३४]

शरच्चन्द्र चटर्जी

शरच्चन्द्र के उपन्यासों का नायक अनेक स्त्रियों से घिरा होता है; वे सभी उससे प्रेम चाहती हैं और वह उनमें से एक को भी प्रेम-प्रदान करने में असमर्थ होता है। इसी असमर्थता की भूमि पर नारी की उपासना, उसकी तपस्या, उसकी सेवा-परायणता आदि का आदर्शवाद निर्मित होता है। शरत् बाबू के नायक अधिकांशतः ज़मींदार घरानों के, बचपन से आवारा और स्त्रियों के प्रति एक विशेष प्रकार की भावुकता के वशीभूत होते हैं। रुपये पैसे की उन्हें कभी कमी नहीं होती, इसलिये उन्हें अपनी भावुकता के प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अवकाश रहता है। जिन नायकों के माता-पिता अथवा कोई सगे-सम्बन्धी संपत्ति छोड़कर नहीं मरे, वे भी 'पथेरदावी' के अपूर्व की तरह भारी नौकरी पा जाते हैं, या श्रीकांत की तरह उन्हें कभी कहीं से, कभी कहीं से, रुपये की कमी नहीं होती। इन नायकों में प्रेम करने की इच्छा है परन्तु वे नारी को अति निकट से नहीं प्यार करना चाहते। प्रेम की व्याख्या यह है—'बड़ा प्रेम केवल पास ही नहीं खींचता, दूर भी ठेल देता है' (श्रीकांत—१—१२)। शायद पास खींचने और दूर ठेलने की क्रिया जितने ही विशद परिमाण में होती है, प्रेम का बड़प्पन भी उतना बढ़ जाता है। शरत् बाबू के उपन्यासों में इस क्रिया के विस्तृत वर्णन हैं। नारी के निकट आने पर भय रहता है कि प्रेम निकटता की सीमा को पार न कर जाय। पुरुष अपना पुरुषार्थ अपने तक ही सीमित रखता है। इसलिये नारी का प्रेम सेवा रूप में प्रकट होकर अति निकटता के भय को दूर कर देता है और पुरुष के पुरुषार्थ पर भी आँच नहीं आने

देता। ठेलने की क्रिया जब एक दीर्घ अवधि ले लेती है और प्रेम के खिंचाव की आवश्यकता का अनुभव होता है, तब नायक किसी न किसी शारीरिक व्याधि से व्याकुल हो उठता है। अपने शीतल कर-स्पर्श से उसके ताप को दूर करने के लिये तब एक न एक नायिका अवश्य आ जाती है। कभी छाती में दर्द हो जाता है, कभी ज्वर, कभी प्लेग आदि भी। और नायिकाएँ—वे भी रोगमुक्त नहीं हैं। अधिकांश को मूर्च्छा हो आती है, किसी विशेष भाव प्रदर्शन के लिए नहीं, वरन् भयानक हिस्टीरिया अथवा मिर्गी के रूप में! पुरुष के प्रेम की खोज में तपस्या करते-करते निर्बल और क्षीण होकर वे सेवा के परम तत्व को पहचान पाती हैं। एक-आधी पागल भी हो जाती हैं और तब उन्हें ईश्वर में भी विश्वास हो जाता है!

कहने को कह सकते हैं कि शरत् बाबू ने बंगाल के नष्टप्राय, जर्जर ज़मींदार वर्ग का चित्रण किया है; परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि उनके नायकों की समस्या एक है और उनकी जर्जरता, उनका खोखलापन भी एक विशेष प्रकार का है। वह मध्यवर्ग को समाज का क्रान्तिकारी वर्ग, समाज को गति और प्राण देने वाला वर्ग मानते हैं। 'पथेर दावी' के सव्यसाची का यही आदर्श है। परन्तु उनके मध्यवर्ग के पात्र श्रीकांत जैसे लक्ष्यहीन आवारे हैं। श्रीकांत की राजलक्ष्मी वेश्या-जीवन छोड़कर ईश्वरोपासना में लीन एक साध्वी स्त्री बन जाती है; धर्म में उसे एक लक्ष्य मिल जाता है; केवल श्रीकांत को कोई लक्ष्य नहीं है। ज़मींदार वर्ग के नायकों की समस्याएँ मध्यवर्ग के नायकों के भी सामने आती हैं। समाज के विकास में वर्गों की पारस्परिक प्रतिक्रिया पर शरत् बाबू की दृष्टि प्रायः नहीं गई है। उनका प्रचंड व्यक्तिवाद उनसे बार-बार एक ही कहानी कहलाता है, यहाँ तक की घटनाएँ भी कभी-कभी एक-सी होती हैं—जैसे उनके नायक प्रायः बर्मा जाते हैं, श्रीकांत की कहानी में वह खुद,

'चरित्रहीन' में दिवाकर, 'पथरे दावी' में अपूर्व इत्यादि। कहा जाता है कि श्रीकांत की भ्रमण कहानी में शरत् बाबू ने आत्म कथा लिखी है—बारह आने उसमें वास्तविक घटनाएँ हैं और चार आने कल्पना उन घटनाओं को उपन्यास के रूप में सजाने के लिये है। श्रीकांत को यह महत्त्व देने का कोई विशेष कारण नहीं है, सिवाय इसके कि वह अकेले उनके साधारण चार उपन्यासों के बराबर है। श्रीकांत की कहानी अन्य उपन्यासों में भी मिलेगी, कहीं कम कहीं ज़्यादा और श्रीकांत के चार पर्वों में वह कहानी पूरी-पूरी आ गई है, इसमें सन्देह है।

पहले श्रीकांत की ही कहानी लेते हैं। इसमें नायक की लक्ष्य-हीनता, उसकी भ्रमणप्रियता, प्रेम का उसे खींचना और ठेलना आदि क्रियाएँ विशेष उभरकर आई हैं। श्रीकांत अपने साथी इन्द्र के कारण बचपन में ही सिगरेट भाँग आदि का प्रेमी हो जाता है। एक राजा साहब के यहाँ प्यारी बाई से उसकी भेंट होती है। प्यारी का वास्तविक नाम राजलक्ष्मी है और वह श्रीकांत के ही गाँव की रहने वाली है। उसने बचपन में ही श्रीकांत को प्यार किया था और बचपन से ही श्रीकांत ने उसे निराश करना आरम्भ कर दिया था। जब उसने मकोइयों की जयमाला पहनाई तो श्रीकान्त ने प्रेम से सब मकोइयाँ खा डालीं; माला टूट गई। राजलक्ष्मी अपना प्रेम प्रदर्शित करती है परन्तु प्रेम श्रीकांत को दूर ठेल ले जाता है। पहले पर्व के ११वें अध्याय में श्रीकांत को बुख़ार आ जाता है और राजलक्ष्मी उसकी सेवा के लिये उपस्थित हो जाती है, अपने साथ उसे पटना भी ले जाती है। पटना में राजलक्ष्मी के 'पवित्र शयन मंदिर' में श्रीकांत को अपने उत्तप्त शरीर पर गुप्त कर स्पर्श का सुख मिलता है। सुख के साथ लज्जा और भय का उदय होता है ; मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण देखते ही बनता है। 'बहुत रात बीते एकाएक तन्द्रा टूट

गई और मैंने आँख खोलकर देखा कि राजलक्ष्मी गुपचुप कमरे में आई और उसने टेबल के ऊपर का लैम्प बुझाकर उसे दरवाजे के कोने की आड़ में रख दिया।....एकांत में आने वाली नारी के इस गुप्त कर-स्पर्श से पहले तो मैं कुंठित और लज्जित हो उठा।' लज्जा और कुंठा का अंत राजलक्ष्मी के यहाँ से चल देने के निश्चय में हुआ। 'आँखें और मुँह जल रहे थे, सिर इतना भारी था कि शय्या त्याग करते क्लेश मालूम हुआ। फिर भी जाना ही होगा।' क्यों जाना होगा? इसलिये कि राजलक्ष्मी की चरित्र-धवलिमा पर धब्बा न लग जाय, मन कहीं धोखा न दे जाय। श्रीकांत का चलने का निश्चय अपने लिए किसी भय के कारण नहीं था, भय था राजलक्ष्मी के लिए; उसे तपस्या कराके योगिनी बनाना ही होगा। पाठक धोखे में न पड़ें इसलिए श्रीकांत ने स्पष्ट कर दिया है—'फिर भी यह डर मुझे अपने लिए उतना नहीं था। परन्तु, राजलक्ष्मी के लिये ही मुझे राजलक्ष्मी को छोड़ जाना होगा, इसमें अब जरा-सी भी आनाकानी करने से काम न चलेगा।' यही प्रेम का वह सूक्ष्म विज्ञान है जो पुरुष को नारी के निकट लाता है और फिर नारीत्व को निखारने के लिए उसे दूर ढकेल देता है।

द्वितीय पर्व में श्रीकांत और राजलक्ष्मी फिर मिलते हैं और फिर श्रीकांत उसे छोड़कर चल देता है। यहीं उसकी बर्मायात्रा का वर्णन है जिसकी मुख्य बातें अन्य उपन्यासों में मिलती हैं। जहाज़ की विशेष घटना से श्रीकांत के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। सब यात्रियों की डाक्टरी होती है। श्रीकांत को यह अत्यन्त अपमानजनक प्रतीत होता है। 'आगे खड़े हुए साथियों के प्रति किया गया परीक्षा-पद्धति का जितना प्रयोग दृष्टिगोचर हुआ, उससे मेरी चिन्ता की सीमा न रही। ऐसा कायर बंगालियों को छोड़कर वहाँ और कोई नहीं था जो देह के निम्न भाग के उघाड़े जाने पर भयभीत हो....यथा समय आँख

मींचकर, सारा अंग संकुचितकर एक तरह से हताश ही होकर, डाक्टर के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया।'

जहाज पर ही श्रीकांत की अभया से भेंट हो जाती है। बर्मा में प्लेग फैलने पर जब श्रीकांत बीमार पड़ जाता है तब यह अभया उसकी परिचर्या करती है। अभया के यहाँ से श्रीकांत फिर राजलक्ष्मी के पास आता है। स्टेशन पर राजलक्ष्मी के चोट लगने पर वह कहती है—'हाँ, बहुत चोट लगी है,—परन्तु लगी है ऐसी जगह कि तुम जैसे पत्थर न उसे देख सकते हैं और न समझ सकते हैं!' परन्तु श्रीकांत सोचता है—'नारी की चरम सार्थकता मातृत्व में है, यह बात शायद खूब गला फाड़ करके प्रचारित की जा सकती है।' और राजलक्ष्मी के लिए कहता है—'उसकी कामना-वासना आज उसी के मध्य में इस तरह गोता लगा गई है कि बाहर से एकाएक सन्देह होता है कि वह है भी या नहीं।' राजलक्ष्मी उसे पत्थर कहे तो आश्चर्य क्या! श्रीकांत के चौथे पर्व में वज्रानन्द राजलक्ष्मी से पूछते हैं, क्या वह श्रीकान्त को निरा निकम्मा ('अकेजो') बनाकर ही छोड़ेगी; और राजलक्ष्मी उत्तर देती है, ईश्वर ने ही उसे ऐसा बना दिया है, कहीं भी कोर कसर नहीं छोड़ी। कदाचित् इसी कारण राजलक्ष्मी को श्रीकांत पर पूर्ण विश्वास है; उसके खोये जाने का उसे तनिक भी डर नहीं है। श्रीकांत के शब्दों में,—'केवल डर ही नहीं, राजलक्ष्मी जानती है कि मैं खोया जा ही नहीं सकता। इसकी सम्भावना ही नहीं है। पाने और खोने की सीमा से बाहर जो एक सम्बन्ध है, मुझे विश्वास है कि उसने उसे ही प्राप्त कर लिया है और इसीलिए मेरी भी इस समय उसे ज़रूरत नहीं है।' राजलक्ष्मी की दुःसह वेदना को देखते हुए यह विश्वास करना कठिन है कि उसे श्रीकांत की आवश्यकता नहीं है; परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि दूर बर्मा में अथवा एक बिस्तर पर साथ सोने तक की सभी परिस्थितियों में श्रीकांत तथा राजलक्ष्मी का

खोने और पाने से परे का सम्बन्ध स्थिर और अडिग रहता है! श्रीकांत फिर भी राजलक्ष्मी के नारीत्व को महत्तर करने के लिये, उसमें क्षति की सम्भावना को दूर करने के लिए, उसे छोड़कर चला गया था! वह सदा एक न एक बहाने से उसे छोड़कर चला जाता है—परन्तु वे सब बहाने ही हैं। नारीत्व की रक्षा भी एक बहाना है। सत्य यह है कि श्रीकांत का नारी से सम्बन्ध खोने और पाने से परे का है। अभया और कमललता से भी उसका सम्बन्ध क्या इसी कोटि का नहीं है? 'चरित्रहीन' की 'चरित्रहीनता' भी क्या सच्चरित्रता और दुश्चरित्रता दोनों से परे नहीं हैं? परन्तु इस विडम्बना का कहीं अन्त नहीं है!

इस बहाने कि राजलक्ष्मी अब भी गाने जाती है, श्रीकांत उसे छोड़कर काशी से कलकत्ता चला जाता है। अपने गाँव आकर भीतरी अवसाद उसे फिर सताता है और उसे ज्वर हो आता है। वह राजलक्ष्मी से रुपये मँगाता है और राजलक्ष्मी लक्ष्मी की ही भाँति स्वयं आकर उपस्थित हो जाती है। श्रीकांत का गाँव राजलक्ष्मी का भी गाँव है और यहाँ सभी दोनों के परिचित हैं। श्रीकांत अपनी पत्नी कहकर राजलक्ष्मी का परिचय देता है। ऐसी परिस्थिति जिसमें पुरुष एक बिना ब्याही स्त्री को अपनी पत्नी घोषित करता है, शरत् बाबू के उपन्यासों में अनेक बार आती है। गृहदाह में सुरेश अचला को, चरित्रहीन में दिवाकर किरण को इसी तरह अपनी पत्नी घोषित करते हैं। पति कहलाने की साध इतने से ही पूरी हो जाती है।

राजलक्ष्मी श्रीकांत को उसके गाँव से पटना ले जाती है। वहाँ उसे फिर ज्वर आता है। ठीक पहले जैसी परिस्थिति फिर उत्पन्न होती है; इतने खिंचाव के बाद प्रेम फिर उसे ठेलना शुरू करता है, यहाँ तक कि यह प्रेम भी है कि नहीं, उसे संदेह होने लगता है। उसे भान होता है कि उसने कभी राजलक्ष्मी से प्रेम किया ही नहीं!

बलिपशु की भाँति शरत् का पुरुष अपने को निःसहाय पाता है। वह कातर होकर इधर-उधर भागने का रास्ता खोजता है। श्रीकांत ने अपनी दशा का मार्मिक वर्णन किया है। 'मुँह उठाकर देखा, तो राजलक्ष्मी चुपचाप बैठी खिड़की के बाहर देख रही है। सहसा मालूम हुआ कि मैंने कभी किसी दिन इससे प्रेम नहीं किया। फिर भी इसे ही मुझे प्रेम करना पड़ेगा,—कहीं किसी तरफ़ से भी निकल भागने का रास्ता नहीं। संसार में इतनी बड़ी विडम्बना क्या कभी किसी के भाग्य में घटित हुई है? और मज़ा यह कि एक ही दिन पहले इस दुविधा की चक्की से अपनी रक्षा करने के लिये अपने को संपूर्ण रूप से उसी के हाथों सौंप दिया था। तब मन-ही-मन ज़ोर के साथ कहा था कि तुम्हारी सभी भलाई बुराइयों के साथ ही तुम्हें अंगीकार करता हूँ लक्ष्मी! और आज, मेरा मन ऐसा विक्षिप्त और ऐसा विद्रोही हो उठा; इसी से सोचता हूँ, संसार में 'करूँगा' कहने में और सचमुच करने में कितना बड़ा अंतर है!' एक-एक शब्द सार्थक है; श्रीकांत की समस्या को इससे अच्छे शब्दों में व्यक्त करना कठिन है। इस मधुर कविता की सृष्टि के लिये ही एक विशेष परिस्थिति की पुनरावृत्ति होती है। प्रेम किया है, नहीं भी किया है—इसलिए कि वह बड़ा प्रेम है, खोने पाने के परे है। इसलिए प्रेम करना न करने के बराबर है। निकल भागने का रास्ता नहीं है—इस कातरता का अनुभव करना ही पड़ेगा। यद्यपि भागने का रास्ता सदा मिल जाता है, फिर भी इस कातरता के अनुभव में भी सुख है। इतनी बड़ी विडंबना क्या संसार में श्रीकांत के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को भी हुई है? कम से कम शरत् बाबू के पात्रों के लिये यह प्रेमी की विडंबना नई नहीं है। प्रेम की प्रवंचना, उसका भुलावा ही उनके लिए प्रेम है। शरत् बाबू के उपन्यासों में ऐसे नायक भी हैं जो ऐसी ही परिस्थितियों में पड़कर उपन्यास लेखक भी बन जाते हैं।

दर्पचूर्ण' का नरेन्द्र, जिसके उपन्यास पर विमला आँसू बहाती है, ऐसा ही नायक है। श्रीकांत उपन्यास लेखक नहीं बनता—आत्मकथा में ऐसी दो एक बातों की कमी रह गई।

श्रीकांत का मन विक्षिप्त और विद्रोही हो उठता है। इच्छाशक्ति की जड़ता का उसे अनुभव होता है। मनमें कुछ करने की इच्छा होती है—प्रेम उसे खींच लाता है; परन्तु इच्छा को कार्य रूप में परिणत करने का अवसर आने पर प्रेरक शक्ति हृदय के रसातल में कहीं छिप जाती है,—प्रेम उसे दूर ठेल देता है। परन्तु इस बार जल्दी प्रेम ने पीछा न छोड़ा। पटना से चलने पर राजलक्ष्मी भी साथ चली और उसे एक गाँव गंगामाटी ले गई। परन्तु राजलक्ष्मी ईश्वर के विधान को नहीं मेट सकती। एक बार चाहे ईश्वर मिल जाय, श्रीकान्त का मिलना असम्भव है। राजलक्ष्मी व्यथित होकर कहती है—'तुम्हें पाने के लिए मैंने जितना श्रम किया है, उससे आधा भी अगर भगवान् के लिए करती तो अब तक शायद वे भी मिल जाते। मगर मैं तुम्हें न पा सकी।' श्रीकान्त अकुंठित स्वर से उत्तर देता है—'हो सकता है कि आदमी को पाना और भी कठिन हो।' आदमी को पाना सचमुच ही और कठिन है। चरित्रहीन की किरण पुरुष की खोज में कितना भटकती है—यहाँ तक कि अन्त में पागल हो जाती है—फिर भी उसे पुरुष नहीं मिलता। भगवान् उसे मिल जाते हैं—पागलपन आस्तिकता में परिणत हो जाता है!

राजलक्ष्मी से दूर भागने के लिए श्रीकान्त का हृदय व्याकुल हो उठता है। जब प्रेम का खिंचाव था, तब राजलक्ष्मी का पैर सहलाना सुखद लगता था; 'मालूम होता था कि उसकी दसों उँगलियाँ मानो दसों इन्द्रियों की सम्पूर्ण व्याकुलता से नारी हृदय का जो कुछ है सब का सब मेरे इन पैरों पर ही उँड़ेल दे रही हैं।' परन्तु अब,—'मालूम होने लगा कि वह स्नेह-स्पर्श अब नहीं रहा।'

नारी के भाग्य के साथ कैसा परिहास है ; श्रीकान्त यह अनुभव नहीं करता कि उसके पैरों का ताप ही पहले की अपेक्षा कम हो गया है, वह उँगलियों की वेदना को दोष देता है। वास्तव में नारी की वेदना उसकी उँगलियों से फूट निकलना चहती है, व्यथा की ज्वाला उसे भस्म कर देती है परन्तु श्रीकान्त नारी के ही माथे दोष मढ़कर अपने को निर्दोष सिद्ध कर लेता है। मनका वैरागी 'छि छि' करने लगता है। "मेरे मन का जो वैरागी तन्द्राच्छन्न पड़ा था, सहसा वह चौंककर उठ खड़ा हुआ, बोला, 'छि छि छि' !"

अंत में राजलक्ष्मी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़ती है। श्रीकांत सोचता है कि अब की बार ऐसा भागूँगा कि फिर पकड़ ही में न आऊँ। छुटकारे की प्रसन्नता में दृढ़ निश्चय होकर कहता है—'मैं उसे छुट्टी दूँगा, उस बार की तरह नहीं,—अबकी बार, एकाग्रचित्त से, अन्तः-करण के संपूर्ण आशीर्वाद के साथ, हमेशा के लिए उसे मुक्ति दूँगा।' वह देश छोड़कर चला जायगा। पहले उसके अदृष्ट ने उसे अपने संकल्प पर दृढ़ न रहने दिया था ; इस बार वह अपनी पराजय स्वीकार न करेगा। परन्तु अदृष्ट तो अदृष्ट ! स्वीकार न करने से पराजय विजय थोड़े ही हो जायगी। श्रीकान्त छुटकारा पाकर चल देता है। परन्तु बैलगाड़ी ऐसा रास्ता भूलती है कि वह भटकता हुआ फिर उसी गाँव में आ जाता है और राजलक्ष्मी फिर उसके सिर के बालों में उँगलियाँ फेरने लगती है। एक बार पुनः बर्मा-यात्रा की तैयारी होती है। श्रीकांत कलकत्ते चलता है ; परन्तु बर्मा जाने के पहले फिर एक बार काशी आता है !

एक संकट हो तो टले। विपत्ति तो राह चलते मिल जाती है। काशी से चलने पर रेल में पुँटू से भेंट हो जाती है और उससे ब्याह की बात भी चल पड़ती है। पुँटू से छुटकारा पाया तो श्रीकान्त के ही शब्दों में वह दूसरी पुँटू के जाल में पड़ गया। वैष्णवी कमललता

से भेंट हुई। वज्रानन्द ने उससे कितनी सत्य बात कही थी। 'अजीब देश है यह बंगाल ! इसमें राह चलते माँ-बहिनें मिल जाती हैं, किसमें सामर्थ्य है कि इनसे बचकर निकल जाय ?' परंतु वज्रानन्द की रक्षा तो गेरुए वस्त्र कर लेते हैं, श्रीकान्त की रक्षा के लिए वह कवच भी नहीं है।

कमललता की यह दशा है कि श्रीकान्त का नाम सुनकर ही उसे प्रेम हो गया है। जब हाड़ मांस के श्रीकान्त आये, तब उसके मनोभावों का अनुमान किया जा सकता है। कमललता सत्रह वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई थी। विधवावस्था में उसके गर्भ रह गया था ; परन्तु उसका प्रेमी उसका नहीं हुआ। शरत् बाबू की नायिकायें बहुधा वेश्याएँ, विधवाएँ, युवावस्था की दुश्चरित्राएँ होती हैं, इसलिए कि तब उनका चरित्र सुधारने का अवसर मिलता है और नायक उनके पास आकर विपत्ति की आशंका होने पर फिर भाग सकता है। उनका चरित्र उज्वल हो, उनका नारीत्व फिर कलुषित न हो,—यह बहाना सदा उसके पास रहता है। पुरुष की उदासीनता से वे विवश हैं। वास्तव में विवशता पुरुष की है ; उसकी पुरुषत्व-हीनता नारी को निर्लज्ज बना देती है। इस निर्लज्जता का अति विकृत रूप 'चरित्रहीन' की किरण में देखने को मिलता है—जब वह उपेन्द्र से खुलकर अपना प्रेम निवेदन करती है और दिवाकर को—जब हावभाव, परिहास-विलास के एक अनन्त क्रम के बाद जहाज़ पर बरबस एक ही पलंग पर सुलाना चाहती है और वह घिघियाता हुआ भागता है और फिर भी भाग नहीं पाता।

किसी तरह कमललता से छुटकारा पाकर श्रीकान्त कलकत्ते आता है ; परन्तु वहाँ राजलक्ष्मी पहले से ही उसकी बाट जोह रही है। राजलक्ष्मी के साथ फिर एक बार कमललता के दर्शन होते हैं। वहाँ से कमललता को छोड़कर राजलक्ष्मी के साथ गंगामाटी की

यात्रा होती है और अन्त में राजलक्ष्मी को छोड़कर एक बार फिर कमललता के यहाँ आना होता है। कमललता को वह वृन्दावन का टिकट कटा देता है और आप उसी रेल में बैठ कर कुछ दूर साथ यात्रा करने के बाद सैंथिया स्टेशन पर उतर जाता है। कमललता को श्रीकृष्ण भगवान् के चरणों में आश्रय मिलता है, श्रीकान्त उसे अपनी कहकर अपमानित नहीं करना चाहता। और यहीं श्रीकान्त की भ्रमण कहानी समाप्त हो जाती है। कथा को इस क्रम से सहस्र रजनी-चरित्र की सीमा तक—और उससे भी आगे पहुँचाया जा सकता है। अभया-कमललता-राजलक्ष्मी—ऐसी नारियों की कमी नहीं है और प्रेम का खींचने ठेलनेवाला व्यापार भी अनन्त है!

(२)

नारी से मातृत्व की खोज बचपन से आरम्भ होती है और आजीवन वह जारी रहती है; प्राण रहते उसका अन्त नहीं होता। 'मँझली बहन' के किशन में जैसे हम श्रीकान्त के बाल्यकाल का एक दृश्य देखते हैं। माँ की मृत्यु के पश्चात् किशन को सौतेली बहन के यहाँ आश्रय मिलता है। वहाँ उसे अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। माता का खोया हुआ स्नेह उसे मँझली बहन हेमांगिनी में मिलता है। हेमांगिनी स्वयं रोगिनी है; हिस्टीरिया के से लक्षण भी उसमें हैं। वह कभी किशन को अत्यधिक प्यार करती है, कभी उसे पीटती है। किशन का आश्रय छिनने को होता है; परन्तु अन्त में हेमांगिनी पति को भी छोड़कर उसके साथ चलने को प्रस्तुत हो जाती है। पतिदेव को किशन को आश्रय देना ही पड़ता है और किशन को मँझली बहन के मातृ स्नेह से वंचित नहीं होना पड़ता। 'सुमति' में रामलाल को ऐसा ही आश्रय

भाभी नारायनी के यहाँ मिलता है। 'राम ने फिर भाभी की छाती में मुँह छिपा लिया। यहीं मुँह रखकर उसने लम्बे तेरह वर्ष बिताये हैं—इतना बड़ा हुआ है।' तब भला यह प्रवृत्ति कैसे छूट सकती है ? विक्षिप्त की भाँति यही भाभी रामलाल को बेतों से पीटती है और अन्त में फिर उसे अपने अञ्चल में आश्रय देती है। मार और प्यार—दो विरोधी बातों का कारण स्पष्ट है। पति से असन्तुष्ट नारायनी मातृत्व का विकास चाहती है ; रामलाल उस विकास में सहायक होता दिखाई देता है ; परन्तु वह उसकी सहज आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता। दूसरे का लड़का अपनी कोख से लड़का जनने का सुख उसे नहीं दे सकता। इसी कारण रामलाल और किशन को मार भी मिलती है और फिर माता जैसा प्यार भी मिलता है।

जब 'श्रीकान्त' और बड़ा हुआ, तब की एक झाँकी 'बड़ी बहन' में देखिये। सुरेन्द्र श्रीकान्त जैसा ही परमुखापेक्षी है। खाने, पिलाने, सुलाने आदि के लिए भी उसे एक अभिभावक चाहिये। घर पर उसका अभिभावक उसकी विमाता है ; परन्तु अन्य पात्रों की भाँति वह भी घर छोड़कर कलकत्ते भागता है। यहाँ उसे चौदह वर्ष की अवस्था में विधवा होने वाली माधवी अभिभावक के रूप में मिल जाती है। माधवी की छोटी बहन को पढ़ाने के लिए वह अध्यापक रखा गया है परन्तु न पढ़ाने पर डाट डपट होती है और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए उसे घर छोड़ देना पड़ता है। रास्ते में गाड़ी के नीचे आजाने से उसे चोट आ जाती है। पिता आकर ले जाते हैं। वहाँ उसका विवाह हो जाता है ; परन्तु शायद विवाह का दुख दूर करने के लिए वह मित्रों के साथ शराब-कबाब में पड़ जाता है। शरीर उसका अस्वस्थ रहता है और अन्त में घटना-चक्र उसकी अस्वस्थता को बढ़ाकर उसे माधवी की गोद में ला पटकता है। उसी

गोद में शान्ति से सिर रखकर वह अपने प्राण त्याग देता है। 'मानो सारे विश्व का सुख इसी गोद में छिपा हुआ था। इतने दिनों के बाद सुरेन्द्रनाथ ने आज वह सुख खोज निकाला है।'

देवदास की कथा से, बोलपट के कारण, सभी परिचित हैं। ज़मींदार का लड़का है, तम्बाकू पीने का अभ्यास भी बचपन से है। पार्वती देवदास से प्रेम करती है; परन्तु देवदास अनिश्चित है। पार्वती का ब्याह एक दूसरे लड़के से होने वाला है परन्तु वह स्वयं साहस करके रात को एकांत में देवदास के पास जाती है। देवदास चिंतित हो उठता है—वह न जाने किसलिए आई है। पार्वती की लज्जा की कल्पना करके देवदास स्वयं लज्जित हो उठता है। परन्तु प्रेम-निवेदन का कार्य तो पुरुष दे[illegible] ही नहीं पड़ा; शरत् बाबू के उपन्यासों में विवश होकर उसे स्त्रियों को करना पड़ता है। पार्वती उसके चरणों में आश्रय चाहती है; परन्तु देवदास कातर होकर पूछता है—'क्या मेरे सिवा तुम्हारे लिए और कोई उपाय नहीं है?' माता-पिता का आज्ञाकारी पुत्र देवदास कलकत्ते चला जाता है। वहाँ से वह पार्वती को पत्र लिखता है कि उसने पार्वती को कभी अधिक प्यार नहीं किया। पार्वती को ही क्या, और किसी को भी उसने कभी अधिक प्यार किया है? वही श्रीकांत वाली परिस्थिति है—प्रेम है भी और नहीं भी। पार्वती का विवाह हो जाता है और देवदास चन्द्रमुखी के यहाँ दारू पिया करता है। आधी सम्पत्ति वह यों ही उड़ा देता है। राजलक्ष्मी की भाँति चंद्रमुखी भी वेश्यावृत्ति त्यागकर वैराग्य-सा ले लेती है। देवदास अपने को पार्वती और चन्द्रमुखी दोनों से दूर रखता है; परन्तु चन्द्रमुखी एक दिन सड़क पर औंधे पड़े देवदास को अपने यहाँ ले आती है। कलेजे में दर्द और ज्वर हो आता है और चन्द्रमुखी उसकी परिचर्या करती है। चन्द्रमुखी को छोड़कर देवदास देश के अनेक नगरों में घूमता है

और अन्त में अत्यन्त अस्वस्थ होकर वह पार्वती के गाँव की तरफ़ चलता है। गाँव पहुँचने के पहले ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

'काशीनाथ' का जैसे विवाह होता है, वह सूखने लगता है। कोई स्त्री उसे पहचाने, यह कितना कठिन है—वह जानता है। उसकी स्त्री उसे छोड़कर चली जाती है और तब काशीनाथ के अस्वस्थ होने पर 'बहन' बिंदुवासिनी उसकी परिचर्या को आ उपस्थित होती हैं। 'अनुपमा का प्रेम' देवदास की कथा की भाँति है। अनुपमा का विवाह एक बूढ़े के साथ होता है। वह विधवा हो जाती है और अन्त में शराबी ललित उसे आत्महत्या करने से बचाता है। 'दर्पचूर्ण' में काशीनाथ वाली समस्या है। धनी घर की इंदु से निर्धन नरेन्द्र का विवाह हो जाता है। पति-पत्नी में बनती नहीं है। नरेन्द्र की छाती में दर्द होता है और बहन विमला सेवा के लिए आ जाती है। नरेन्द्र उपन्यासकार भी है। 'तस्वीर' बर्मा देश की उस समय की कहानी है, जब वहाँ अंग्रेज़ नहीं आये थे परन्तु घटनाएँ और पात्र नयी तरह के हैं। बाथिन चित्रकार और धनी युवती माशोये में प्रेम है। प्रेम की अतृप्ति में माशोये उससे घृणा करने लगती है और उस पर रुपयों की नालिश कर देती है। वह सर्वस्व बेचकर ज्वर से पीड़ित रुपये लेकर उसके सामने आता है। माशोये उसे अपने कमरे में सुला देती है और उसकी परिचर्या करने लगती है।

'गृहदाह' के महिम को अचला अपनी अँगूठी पहना देती है; परन्तु महिम बाबू उसके बाप के सामने पूछते हैं, 'क्या तुम अपनी अँगूठी वापिस चाहती हो?' अचला सुरेश कसाई से उसे बचाने की प्रार्थना करती है; महिम बचा तो लेता है परन्तु अचला को फिर उसी कसाई की शरण में जाना पड़ता है और सुरेश के पास से फिर महिम के पास। स्थायी आश्रय दोनों में से एक भी उसे नहीं दे सकता। महिम जब बीमार पड़ता है तब उसके गाँव की एक

बहन मृणाल, जो अब विधवा हो गई है, उसकी देख-भाल करता है। सुरेश धोखे से अचला को महिम से अलग करके अपने साथ एक दूसरे स्थान पर ले आता है। यहाँ सुरेश को बुखार आता है और अचला उसकी सेवा करती है। मृणाल जो महिम के लिए है वही अचला सुरेश के लिए। दोनों ही नारियाँ पति से इतर प्राणियों को अपनी सेवा अर्पित करती हैं। कदाचित् पति से निराश होने वाली ऐसी नारियों को इन इतर पुरुषों से कुछ आशा रहती है—सेवा उस आशा का दीपक जलाये रखती है, परन्तु एक दिन वह भी बुझ जाता है। राजलक्ष्मी की भाँति वे अपने श्रीकान्त को नहीं पा सकतीं। सुरेश की भी छाती में दर्द होता है; फ्लैनल गरम करके अचला उसकी छाती सेंकती है और सुरेश फ्लैनल सहित उसका हाथ अपनी छाती पर दबा लेता है। फिर बाहों में जकड़कर उसका मुँह भी चूमता है। परन्तु अचला क्रोध नहीं करती; थोड़ी बातचीत के उपरान्त वह अपने कमरे में चली जाती है। शायद वह समझती है कि शिशु की भाँति सुरेश के चुम्बन भी निर्दोष हैं। सुरेश जिसे भगाकर लाया था, अब उसी से छुटकारा पाने की सोचता है। कातर होकर अचला पूछती है—"अब क्या तुम मुझे प्यार नहीं करते?" एक दिन अकस्मात् महिम से भेंट हो जाती है और अचला को मूर्च्छा आती है। सुरेश की प्लेग में मृत्यु होती है; मृत्यु के समय अचला उसके साथ होती है। अचला अब महिम के आसरे है; परन्तु वह उसे ग्रहण नहीं करता और अन्त में एक स्त्री ही उसे आश्रय देती है। मृणाल उसे अपने साथ ले जाती है।

श्रीकान्त की कहानी के कुछ महत्वपूर्ण अंशों का उभरा हुआ चित्रण 'चरित्रहीन' में है। ज़मींदार के आवारा और आलसी लड़के का नाम इस बार सतीश है। वह अपने मित्रों में शराब आदि का सेवन भी प्रथानुसार करता है। उसकी अभिभाविका का नाम सावित्री

है। वह विधवा होने के बाद अपने प्रेमी द्वारा परित्यक्ता है। अब उसकी सेवापरायणता सतीश में केन्द्रित है। सावित्री को बड़े भयानक रूप में मिर्गी का दौरा आया करता है। पारस्परिक ईर्ष्या और सन्देह के कारण सावित्री और सतीश बिछुड़ जाते हैं। एक बाबा के साथ सतीश का गाँजा शराब का सेवन बहुत बढ़ जाता है। और जब वह अत्यन्त अस्वस्थ हो उठता है तब उसका नौकर सावित्री को खोज ले आता है। सुशील लड़के की तरह सतीश सावित्री का कहना करता है और ज्वर में वही उसकी सेवा करती है।

सावित्री और सतीश के चरित्र-चित्रण को फीका करनेवाला एक दूसरा चरित्र इसमें किरण का है। नारी की विवशता, खिन्नता, व्याकुलता, उसकी विक्षिप्तता, अतृप्त वासना की पीड़ा—इस सारी नारकीय यातना को उसके विकृततम रूप में शरत् बाबू ने किरण में चित्रित किया है। उसके स्वामी जन्म-नीरस थे। उसे दर्शन-शास्त्र पढ़ाते थे। (पति-पत्नी के स्थान पर गुरु-शिष्या का सम्बन्ध अन्य उपन्यासों में भी मिलेगा।) पति की बीमारी में ही वह डा० अनंग से अपनी प्रेम की प्यास बुझाती है। उपेन्द्र को देखकर उसकी सारी वासना उसी ओर खिंच जाती है। उपेन्द्र की दशा श्रीकान्त जैसी है। किरण उसे बलपूर्वक रोकना चाहती है; कहती है, 'पुरुष को इतनी लज्जा नहीं सोहती।' परन्तु शरत् बाबू के उपन्यासों में लज्जा पुरुषों का भूषण है। उपेन्द्र उससे किसी प्रकार पीछा छुड़ा लेता है। वैरागी सतीश को वह भाई मानती है; उससे कभी उसने कोई आशा नहीं रखी। उसकी वासना का दूसरा केन्द्र दिवाकर बनता है। दिवाकर जब उसके अश्लील परिहास से सिहर उठता है, तब वह कहती है कि लजाने की कोई बात नहीं, यह तो देवर-भाभी का स्वाभाविक सम्बन्ध है। अन्त में किरण दिवाकर को बर्मा ले चलती है। नारी पुरुष को घर से निकाल लाती है (श्रीकान्त में अभया

भी रोहिणी सिंह को इसी भाँति निकाल कर बर्मा ले जाती है।) जहाज पर जब वह दिवाकर से पूछती है, क्या मुझे प्यार करते हो तो दिवाकर रोने लगता है। इसके पश्चात् जिस दृश्य का वर्णन है, उसका उल्लेख अनावश्यक है। अपनी वीभत्सता और भोंड़ेपन में वह अद्वितीय है।

दिवाकर का ब्रह्मचर्य नष्ट करने पर किरण को खेद होता है,—उस खेद की ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि बर्मा में एक साथ छः महीने रहने पर भी, दिवाकर से मार खाने पर भी, उसके बार-बार प्रेम-निवेदन करने पर भी, किरण उसे पास नहीं फटकने देती। सतीश किरण और दिवाकर को ले जाता है; किरण पागल हो जाती है और अंत में उसकी निर्बलता उसकी अतृप्ति को नष्ट कर देती है। पुरुष को न पाकर वह भगवान् को पा जाती है। किरण की कहानी पुरुष की पुरुषार्थहीनता की कहानी है; श्रीकान्त को कहानी की अपेक्षा उसमें अधिक कड़ुवापन है।

(३)

'पथ के दावेदार' शरत् बाबू का राजनीतिक उपन्यास माना जाता है; उसमें राजनीतिक समस्याओं पर बहुत-सा वाद-विवाद भी है। परन्तु उसके मुख्य पात्र अपूर्व और सव्यसाची वही पुराने श्रीकान्त और वज्रानन्द, सतीश और उपेन्द्र आदि ही हैं। अपूर्व में श्रीकांत की अनिश्चितता है और सव्यसाची में वज्रानन्द की दृढ़ता और कर्तव्यपरायणता है। सव्यसाची और वज्रानन्द श्रीकान्त से भिन्न नहीं हैं। जो कुछ श्रीकान्त होना चाहता है और है नहीं, उसी का चित्रण इन विरागियों सन्यासियों में किया गया है।

अपूर्व तथा उसके साथियों में विदेशी शासन के प्रति जिस प्रकार घृणा उत्पन्न होती है, उससे उनका बचकानापन और उनके

मस्तिष्क की अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। अपूर्व को भी दिवाकर आदि की भाँति यात्रा करनी पड़ती है। उसके कमरे के ऊपर लकड़ी की छत से एक देशी ईसाई साहब पानी डालता है और यहीं से अपूर्व के विद्रोह का सूत्रपात होता है। ईसाइयों को वह शासकवर्ग के साथ सम्मिलित करके शासकों के प्रति घृणा से जल उठता है। अपूर्व एक पार्क में गोरों की बेंचपर बैठ जाता है; कुछ गोरे आकर उसे ठोकर मारकर निकाल देते हैं। वह उन्हें मारता बहुत—वह कसरती जवान है—परन्तु लोगों ने पकड़ लिया। वह स्टेशन मास्टर से अपना दुख कहता है और पीठ पर बूट का दाग दिखाता है। स्टेशन मास्टर चपरासी को उसे निकाल देने की आज्ञा देता है। इस बार स्टेशन मास्टर के सामने उसे पकड़ने-वाला कोई नहीं था; परन्तु सौभाग्य से उसे क्रोध आया ही नहीं।

क्रांतिकारी सत्यसाची मल्लिक को देखिये। "वह खाँसते-खाँसते सामने आया। उम्र तीस-बत्तीस से ज़्यादा न होगी, दुबला-पतला कमज़ोर आदमी था। ज़रा-सी खाँसी के परिश्रम से ही वह हाँफने लगा। देखने से यह नहीं मालूम होता था कि उसकी संसार की मियाद ज़्यादा दिन बाकी है,—भीतर के किसी एक दुर्निवार रोग से जैसे उसका सारा शरीर तेज़ी से क्षय की तरफ दौड़ रहा है।" देवदास पर भी ये शब्द लागू होते हैं। केवल देवदास से भिन्न इस व्यक्ति में असाधारण मानसिक दृढ़ता ही नहीं, उसकी सूखी हड्डियों में दानव का-सा अपार बल भी है। देवदास यदि अपना एक आदर्श चित्र खींचे तो वह सव्यसाची का हो। सव्यसाची के अँगूठे में गाँजा बनाने का दाग भी हैं। आदर्श चित्र होने के कारण उसे एक स्थान पर 'अतिमानव' कहा गया है।

सव्यसाची के क्रांतिकारी बनने का इतिहास मनोरञ्जक है। उसके चचेरे भाई को डाकुओं ने मार डाला था; भाई बंदूक

चाहता था, परन्तु मजिस्ट्रेट ने नहीं दी, इसलिए भाई अंग्रेज़ों से बदला लेने का उसे संदेश दे गया। यही उसके क्रांतिकारी जीवन का रहस्य है। सव्यसाची को अति मानवता उभारने के लिए शरत् बाबू ने अनेक उपायों से काम लिया है। उसके साथी उस पर अगाध श्रद्धा रखते हैं और भारती की श्रद्धा कविता में फूट कर बहा करती है। देश-विदेश में वह घुमाया गया है, सनयातसेन जैसे व्यक्तियों से मिला है; उसके व्यक्तित्व को रोमांटिक बनाने में कोई कसर नहीं रखी गई। उसे देखकर एक मनुष्य की जिज्ञासा सहज ही सजग हो उठती है। चारों ओर भय और विपद् का वातावरण उसे और आकर्षक बना देता है। समाज से भी उसे सहानुभूति नहीं मिलती; आत्माहुति के लिये उसे घृणा मिलती है। एक ओर वह है, दूसरी ओर संसार है। बायरनिक हीरो के अनेक गुण उसमें विद्यमान हैं। वह समिति का नेता है और उसके शब्द ही नियम हैं। बहुमत अपूर्व को दंड देने के पक्ष में है; परन्तु वह उसे क्षमा करता है और विरोधी बहुमत उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उसके साथी समझते हैं कि वह सब जानता है, सब कर सकता है। उसकी विद्या, पांडित्य, बल, बुद्धि सब अगाध है।

एक व्यक्ति को अतिमानव के रूप में चित्रित करने का कारण शरच्चन्द का मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद ही है। सव्यसाची किसानों और मजूरों के आन्दोलन में विश्वास नहीं करता; उसका विश्वास मध्यवर्ग की क्रान्ति में है। वह शराबी शशि से मध्यवर्ग की क्रान्ति के गीत गाने को कहता है। (जैसा कवि है, वैसी ही क्रान्ति भी होगी।) वह समझता है कि शिक्षित भद्र जाति सर्वाधिक लांछित है। वह वर्गसंघर्ष से भय खाता है। वह मजूरों में जाता है तो क्रान्ति का विष फैलाने के लिए—मध्यवर्ग की क्रान्ति का विष फैलाने के लिए। शायद वह समझता है कि मध्यवर्ग की क्रान्ति में

मजूरों से महत्वपूर्ण सहायता मिल सकती है। और अन्त में कड़कती बिजली और बरसते पानी में सव्यसाची सिंगापुर के लिए पैदल चल देता है। पास ही कहीं बिजली गिरती है और बिजली की आभा में उसके साथियों को उसका अन्तिम दर्शन कराया जाता है।

शरत् बाबू ने बर्मा के कुलियों की झाँकी "चरित्रहीन" में दी है। थोड़ी-सी पूँजी को कल्पना के सहारे बढ़ाकर उन्होंने "पथ के दावेदार" में कुलियों का चित्रण किया है। कुलियों में जिस वीभत्स अनाचार और व्यभिचार-प्रियता के दर्शन होते हैं, उससे सव्यसाची का मध्यवर्ग की क्रान्ति में विश्वास उचित जँचने लगता है। बर्मा के कुली यदि अनोखे नहीं हैं, और उन [illegible] के अन्य कुलियों की वर्ग-गत विशेषताओं का अभाव नहीं है तो कहना पड़ेगा कि उनका चित्रण एकांगी है। फिर मध्यवर्ग के जो नमूने शरत् बाबू ने अपने उपन्यासों में रखे हैं, उनसे कौन-सी क्रान्ति की सम्भावना पैदा होती है ? वे सारा भार स्त्रियों को देकर वैराग्य ले लें, तो एक क्रान्ति भले हो जाय। 'पथ के दावेदार' में अपूर्व का चरित्र ही लीजिये। प्रेम का वही पुराना व्यापार यहाँ भी है। अपूर्व की निरुपायता पर भारती मुग्ध होती है ; एकांत कमरे में भारती के साथ अपूर्व की कपट-निद्रा का अभिनय भी होता है। अपूर्व सन्यासी हो जाता, परन्तु माँ के कारण नहीं होता। जब माँ नहीं रहतीं, तो शायद भारती के कारण सन्यास नहीं लेता। अपूर्व जब देश लौटता है तब भारती की मर्मवेदना के वही पुराने चित्र देखने को मिलते हैं। सव्यसाची भी भारती की ओर खिंचता है, उसे बहन, जीजी, माँ कहता है। भारती ने जीवन में जो सन्तोष पाया—जीजी, माँ, बहन बनकर—वह उसके एक वाक्य में ध्वनित है—'यदि भ्रमर में मधुसंचय करने की शक्ति नहीं, इसके लिए लड़ा किससे जाय ?' वह और आगे बढ़कर सव्यसाची से कहती है —'अच्छा भइया, मैं अगर तुम्हारी

सुमित्रा होती, तो क्या तुम मुझे भी इसी तरह छोड़कर चले जाते ?' परन्तु सव्यसाची का हृदय पत्थर का है, वह सुमित्रा, भारती सभी को छोड़कर जा सकता है ; नारी जाति का शरत् के पुरुषों के प्रति यह वही पुराना अभियोग है । सव्यसाची भारती को सावधान कर देता है । 'भारती, अब मुझे तुम अपनी ओर मत खींचो ।' और भारती रोती हुई साँस छोड़ स्तब्ध बैठी रहती है । भारती न अपूर्व को पा सकती है, न सव्यसाची को, जैसे राजलक्ष्मी न श्रीकान्त को रोक सकती है, न वज्रानन्द को । केवल रोना ही भारती के हाथ आता है । रोने का व्यापार शरत् बाबू के उपन्यासों में चिरन्तन है । जितने आँसू उनकी नारियाँ गिराती हैं, एकत्र होने पर उनसे एक ताल भर जाय । रोना, रोना और फिर रोना,—मिले तो रोना, बिछुड़े तो रोना । राजलक्ष्मी ने झूठ नहीं कहा था—'तुमने मेरी आँखों से जितना पानी बहवाया है, सौभाग्य से सूर्यदेव ने उसे सुखा दिया है', नहीं तो आँखों के जल से एक तालाब भर जाता । शरत् बाबू के नायकों की पुरुषार्थ-हीनता इस अश्रुव्यापार से यत्किंचत् तृप्ति लाभ करती है ।

शरच्चन्द्र के पात्रों की जो विशेषताएँ हैं, उनके बार-बार दोहराये जाने से उनके उपन्यासों में एकरसता आ जाना स्वाभाविक है । उनके उपन्यास घटना-प्रधान नहीं हैं; कुछ विशेष परिस्थितियाँ प्ररस्तुत की जाती हैं जिनसे पात्रों में एक विशेष कोटि के मनोभावों की सृष्टि होती है । इन मनोभावों को चित्रित करना ही शरत् बाबू का ध्येय है । पात्रों की समानता के साथ उनके मनोभावों में समानता है ; समान परिस्थितियों में जो कविता फूटती है, वह भी समान है । उनके पात्रों की पुरुषार्थ-हीनता से नारी के नयन अश्रुनिर्झर बन जाते हैं; इस अश्रुव्यापार को उपन्यासों से निकाल दीजिये, तो उनकी जान निकल जायगी । घटनाओं का उचित संगठन शरत्

बाबू के उपन्यासों में नहीं है; जैसे उनके नायक लक्ष्यहीन हैं, वैसे ही घटनायें भी एक लक्ष्यहीनता के साथ, बिना क्रम के घटती सी जान पड़ती है। श्रीकांत की तो भ्रमण-कहानी है ही, 'चरित्रहीन' में भी अलग-अलग अनेक कथानक हैं और कथा का विकास अच्छा नहीं हो पाया। 'चरित्रहीन' की एक महत्वपूर्ण कथा किरण की है; परन्तु उसका उपन्यास के नायक सतीश से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उनके छोटे उपन्यास अधिक सुगठित हैं; परन्तु इनकी चित्र-भूमि इतनी संकुचित है कि ये न कहानियाँ रह जाते हैं और न उपन्यास।

शरत् बाबू के उपन्यासों को रस लेकर वही पढ़ सकता है जिसे प्रेम के अश्रुव्यापार में विशेष आनंद आता है। समाज के आवारों, निकम्मों, अतृप्त आकांक्षाओंवाले व्यक्तियों को शरत् बाबू से पर्याप्त सहानुभूति मिलती है; उपन्यास के नायकों में अपनी छाप देखकर वे गद्गद् हो उठते हैं; परन्तु समाज की प्राणशक्ति, उसके विकास की प्रेरक शक्ति इस व्यापार की विरोधिनी है; शरत् बाबू उससे दूर हैं। उनके पास अपने आपको नष्ट करनेवाली शक्ति है परन्तु सृजन की, विकास की शक्ति नहीं है। उनके नायक अपनी प्राणघातक वृत्तियों से त्रस्त होकर नारी के आँचल की छाया ढूँढ़ते हैं; सव्यसाची भी अपवाद नहीं है। 'अब भी ऐसे लड़के इस देश में पैदा होते हैं भारती, नहीं तो बाकी ज़िन्दगी तुम्हारे आँचल के नीचे छिपे-छिपे बिता देने को राज़ी हो जाता!' आँचल की छाया या संसार में सेवा कर्म,—जीवन-यापन के ये दो मार्ग हैं। आँचल की छाया में प्राणघातक वृत्तियों से रक्षा नहीं होती; आँचलवाली स्वयं [illegible]त नहीं है, वह स्वयं आश्रय चाहती है, वह स्वयं मूर्च्छा के रोग से पीड़ित है। सेवा मार्ग बहुधा आँचल में आश्रय न मिलने की प्रतिक्रिया होता है। गृहदाह में सुरेश को देखिये;

जब भी अचला से प्रेम नहीं पाता, अथवा निकट रहकर भागना चाहता है, वह एक विक्षिप्त की भाँति प्लेग हैजे में जाकर लोगों की सेवा करने लगता है। सतीश के औषधालय का भी यही रहस्य है। सव्यसाची, सुमित्रा और ब्रजेन्द्र की कहानी भी कुछ इसी प्रकार की है। शरत् बाबू के नायकों की लोक-सेवा में एक प्रकार की विक्षिप्तता है; अपने से बच निकलने की आकांक्षा है। लोकसेवा अथवा आवारापन दोनों का ही उद्गम पुरुष की नारी के समीप असमर्थता है। [illegible] कारण उस सेवा के पीछे देशभक्ति और सामाजिक आदर्श नहीं है। व[illegible] [illegible] [illegible]प्राणघातक वृत्तियों से बचने की, एक आश्रय की, चाह है।

शरत् बाबू के पात्रों को बहुधा ईश्वर पर विश्वास नहीं होता,—श्रीकान्त की अभया को, चरित्रहीन की किरण को, गृहदाह के सुरेश को; परन्तु वे समाज के पुरातन आदर्शों पर भक्ति रखते हैं। किरण किसी से हार मानती है तो महाभारत में अन्ध विश्वास रखनेवाली सुरबाला से। इसका कारण यह है कि उनके नायक-नायिकाओं का समाज के प्रति विद्रोह एक प्रकार की उछृङ्खलता है; उसमें रचानात्मक कुछ भी नहीं है। इसलिये जिन सामाजिक आदर्शों का खोखलापन दिखाया गया है, उन्हीं में अन्ध भक्ति भी प्रदर्शित की गई है।

शरत् बाबू की व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएँ एक ध्वस्त होती हुई भद्रलोक की, "पर्मानेंट सेटलमेंट" की सभ्यता से मेल खा गई थीं; दोनों में ही सांघातिक कीटाणु अपना ध्वंसकारी कार्य पूरा कर रहे थे। यही उनकी लोकप्रियता का कारण हुआ। परन्तु युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले प्रसारकामी भारतीय साहित्य को देने के लिये उनके पास रचनात्मक कुछ भी नहीं है। वर्ग-संघर्ष

को गति देने किंवा समाज के पुनर्निर्माण में सहायता देने को उनके पास कोई सन्देश नहीं है उनका साहित्य एक व्यक्ति को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर घूमता है और वह केन्द्र असमर्थता का, पुरुषार्थहीनता का केन्द्र है। इस अक्षमता का एक मनोवैज्ञानिक मूल्य हो सकता है; परन्तु सामाजिक दृष्टि से उसका मूल्य नहीं के बराबर है।

दिसम्बर '४०

नज़रुल इस्लाम

रवींद्रनाथ ठाकुर के नाम के बाद हिंदीभाषा बँगला कवियों में नज़रुल इस्लाम के नाम से ही अधिक परिचित हैं। उनके 'विद्रोही' की आरंभ की पंक्तियाँ,

'बल बीर,

बल-उन्नत मम शिर!

शिर नेहारि आमारि, नतशिर ओइ शिखर हिमाद्रिर!'

पूरी कविता पढ़ने के पहले ही कई बार सुनने को मिली थीं और बंगाल में शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति हो जो उनसे अपरिचित हो। इस गीत की लोकप्रियता का कारण यही था कि उसमें बंगाल के आतंकवादी चरित्र को एक अभीष्ट व्यंजना मिली थी। इस भावुकता का संबन्ध उस रहस्यवाद से न था जिसकी एकांत साधना रवींद्रनाथ की गीतांजलि में स्फुरति हुई है; उस प्रेम की भावुकता से भी नहीं जो बँगला रेकार्डों में सुनने को मिलती है, यद्यपि नज़रुल इस्लाम का इन दोनों से भी यथेष्ट संबंध रहा है, वरन् यह वह भावुकता है जो बंगाल के विप्लवकारियों के त्याग, निष्ठा और सेवापरायणता में प्रकट हुई थी। बँगला साहित्य में, जहाँ एक ओर प्रेमियों का करुण रुदन और गरम उसाँसें हैं, वहाँ दूसरी ओर त्याग की उनकी उदात्त भावना भी है जो प्राण देने से भी तृप्त नहीं होती। भद्रलोक के चरित्र की ये दोनों विशेषताएँ कवि नज़रुल में हैं; इसके साथ ही उनका मुसलमान होना भी उनकी कविता में पूर्ण रूप से प्रकट है। उनका मुसलमानपन उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक अनिवार्य अंग है और उसके बिना

उनकी कविता कल्पना में भी नहीं आ सकती। यद्यपि उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी की धार्मिक गाथाओं से अपने प्रतीक चुने हैं, और हिंदू गाथाओं से सब से अधिक, फिर भी इनको उपयोग में लाने वाला उनका एक अहिंदू मुसलमानपन है, जो उन्हें बंगाल के अन्य कवियों से अलग रखता है। प्रतीकों में ही नहीं, अपनी भाषा भी कवि ने बहुत कुछ आप गढ़ी है, जो बंगाल के साधारण जनों की, वहाँ के मुसलमानों की भी, भाषा से भिन्न है। उर्दू के नए वृत्तों का बँगला में उन्होंने प्रयोग किया है जैसे माइकेल मधुसूदन-दत्त ने अंग्रेज़ी के रूपों को अपनाया था। नज़रुल इस्लाम की श्रेष्ठ कविता में हिंदू और मुसलमान संस्कृतियों का विचित्र सम्मिश्रण है और इसलिए बंगाल के कवियों में उनका अपना एक स्थान अलग और निराला है।

अपनी इस एक विचित्रता के होते हुए भी नज़रुल जनसमुदाय के कवि हैं जिस प्रकार बंगाल का कोई और सामयिक कवि नहीं है और जनसमुदाय में भी वह युवकों के और युवकों में छात्रवर्ग के कवि हैं। भावुक युवकों में जो असहिष्णु उद्वेग और प्राणदान करके शीघ्र से शीघ्र कार्य समाप्त करने की आकांक्षा रहती है, उसे कवि ने भली भाँति अपनी कविता में व्यक्त किया है। 'छात्रदलेर गान' में स्वभावतः उसी भावुकता को स्थान मिला है, जिसके लिए 'विद्रोही' प्रसिद्ध है। भूल करने के लिए, प्राणदान करने के लिए, यहाँ तीव्र पिपासा है; आखिर युगों से बुद्धिमान लोग अपनी राजनीति बघारते आ रहे हैं, कब तक उनका आसरा देखा जाय। 'छात्रदलेर गान' में यही असहिष्णुता है, किसी भी प्रकार लक्ष्यसिद्धि की कामना; जीवन की सार्थकता, यौवन की संपूर्णता इसमें है कि अपना रक्त बहाकर लक्ष्य को दूसरों के लिए सुलभ कर दिया जाय।

'सबाइ जखन बुद्धि जोगाय
आमरा करि भुल।
सावधानीरा बाँध बाँधे सब
आमरा भाँङि कूल।
दारुन राते आमरा तरुन
रक्ते करि पथ पिछल!
आमरा छात्रदल ॥'

रक्त से पथ पिच्छल करने की भावना नज़रुल में सर्वत्र विद्यमान है और इसीलिए उनके विद्रोह में भूल करना, विचार के आगे भावना को श्रेय देना अनिवार्य है। 'विद्रोही' में अनेक उपमानों द्वारा उन्होंने यही उच्छृंखल विद्रोह व्यंजित किया है। युवक के लिए कर्म नशा है; किसके लिए हम जूझ रहे हैं, जूझने पर उसका क्या परिणाम होगा, इन सब बातों की उतनी चिंता नहीं है। इसीलिए यह विद्रोही 'दुर्विनीत' 'नृशंस' 'उच्छृंखल' 'महामारी' आदि भी है; उसे ध्वंस से अधिक मोह है, सृजन से कम। शांति का परिचय जो नाश में मिलता है वह सृष्टि में नहीं, और सृष्टि के लिए जो धैर्य चाहिए उसके लिए फ़ुर्सत किसे है? इसीलिए नज़रुल की कविता की तह में जो जीवन दर्शन मिलता है वह अराजकता की ओर ले जानेवाला है; और ऐसी अराजकता, जैसा कि नेता लोग बार-बार समझा चुके हैं, जो किसी जाति के राजनीतिक जीवन के बचपन को सूचित करती है। नज़रुल की कविता युवकों की ही कविता नहीं, वह बंगाल के राजनीतिक जीवन के यौवन की कविता है। फिर भी वह विकासपथ की एक मंज़िल है और इसके बाद वह कविता आनी चाहिए जो विचारों से अधिक पूर्ण, भावुकता की मात्रा कम करती हुई युग की प्रमुख क्रांतिकारी वृत्तियों को व्यंजित कर सके।

'साम्यवादी' 'ईश्वर' 'मानुष' 'नारी' 'कुलि मजुर' आदि नज़रुल

की अन्य कविताएँ हैं जहाँ साम्यवाद के आधुनिक विचारों का प्रतिपादन किया गया है, परंतु इनमें कवि की प्रतिभा का स्फुरण नहीं हो पाया। विचार की गरिमा भी इनमें नहीं है जो इन्हें साधारणता की सतह से ऊपर उठाकर कविता का रूप देती। इसका कारण यह है कि नज़रुल के कवि को अराजकता से सहज सहानुभूति है; लिखने को वह साम्यवाद पर भी कविताएँ लिखता है, परंतु यहां उद्भ्रांति, उद्वेग, रक्तपात की गुंजाइश कम है। उसकी भावुकता ठंढी ही पड़ी रहती है; सिद्धांत उसमें लौ नहीं उठा सकते।

नज़रुल की प्रेम संबंधी कविताओं में एक निराश प्रेमी का चित्र हमें मिलता है जो पहले पहल उद्धत विद्रोही के चित्र से बिल्कुल उलटा जान पड़ता है, जब तक हम यह नहीं समझते कि इस निराश प्रेम के कारण ही वह विद्रोह इतना उद्धत दिखाई देता था।

'विद्रोही' के कुछ उपमान चित्र पहले विचित्र मालूम होते हैं। वह कुमारी की बंधन-हीन वेणी है, षोड़शी के हृदयकमल का उद्दाम प्रेम है, कुमारी का प्रथम थर-थर स्पर्श है आदि। साथ ही वह उदासी से उन्मन मन है, पथिक की वंचित व्यथा है, अभिमानी हृदय की कातरता भी है। और कविता के इसी बंद के अंत में वह कहता है,

'आमि तुरीयानन्दे छुटे चलि ए कि उन्माद, आमि उन्माद!
आमि सहसा आमारे चिनेछि, आमार खुलिया गियाछे सब बाँध!'

वंचित की व्यथा और कातरता इस तुरीयानन्द और उन्माद को प्रेरणा देती है; इसीलिए मर मिटने की साध सबसे आगे है। बिना मिटे अभिमानी हृदय की वह व्यथा मिट नहीं सकती। 'अभिशाप' में कवि अपनी प्रिया से कहता है कि वह उसका मूल्य उसकी मृत्यु के बाद ही पहचान सकेगी और तब व्यर्थ ही उसकी याद करके आँसू बहाएगी। मरु, कानन, गिरि वह खोजेगी परंतु

अपने प्रेमी को वह तब न पा सकेगी। 'व्यथा-निशीथ' में वह अपनी वेदना छिपा न सकने के कारण अकेले बिस्तर पर पड़ा आँसू बहाता है।

'मम व्यर्थ जीवन-वेदना
एइ निशीथे लुकाते नारि।
ताइ गोपने एकाकी शयने
शुधु नयने उथले बारि।'

हिंदी की कुछ कहानियों में जहाँ क्रांतिकारियों का जीवन अंकित किया गया है, बहुधा निराश प्रेम का भी उल्लेख किया गया है। नज़रुल इस्लाम की कविताओं में यह निराश प्रेम पहले एक बाहरी वस्तु सा मालूम होता है; वास्तव में अराजक विद्रोही और निराश प्रेमी दोनों एक ही व्यक्तित्व के अंग हैं।

बँगला का आधुनिक काव्ययुग रवींद्रनाथ का युग है। शायद ही किसी कवि पर उनका प्रभाव न पड़ा हो; यह प्रभाव नज़रुल इस्लाम पर भी पड़ा है। रहस्यवाद को नज़रुल ने कहीं-कहीं अपनी प्रतिभा से अराजक बना दिया है जैसे 'आज सृष्टि सुखेर उल्लासे' में हँसी, रोना, मुक्ति और बन्धन सब साथ ही साथ आते हैं। अन्यत्र, दूर के बन्धु का स्वर सुनने में कवि का आवेग मंद पड़ जाता है और कविता निर्जीव सी रह जाती है। 'दूरेर बंधु' में जब कवि पूछता है,

'बंधु आमार! थेके थेके कोन सुदुरेर निजन पुरे
डाक दिये जाओ व्यथार सुरे?'

तब वह अपने विद्रोही व्यक्तित्व की वास्तविकता से दूर रूढ़ि का अनुक्रमण करता ही रह जाता है।

वृत्तों में, छंदों के गठन में, कविता की विभिन्न व्यंजनाप्रणालियों में नज़रुल इस्लाम ने नए नए प्रयोग किए हैं। यह प्रसिद्ध है कि बँगला में उन्होने उर्दू की ग़ज़लों का प्रचार किया है। उनके

गीत रिकार्डों में भी लोकप्रिय हुए हैं। गीतों में थोड़ा-सा विदेशीपन का भले आकर्षण हो, परंतु अन्य बंगाली गीतों से उनमें कोई विशेष मौलिकता नहीं है। इनका विषय अधिकतर निराश प्रेम है, केवल गुल और बुलबुल का यत्र तत्र अधिक समावेश हुआ है। पहले की कविताओं में उपमान-चित्रों का जो निरालापन है, वह उर्दू के रूढ़िचित्रों के चुलबुलेपन में खो गया है। 'सिन्धु' शोर्षक कविता उन्होंने ओड के रूप में लिखी हैं; इसका रूप कुछ कुछ रवींद्रनाथ के 'वैशाख' 'शाहजहाँ' आदि से मिलता है। अपनी भावुकता को समेटकर कवि ने उसे एक संयमित साँचे में ढालने की कोशिश की है परंतु उस साँचे का दर्शन करते ही वह भावुकता न जाने कहाँ काफूर हो जाती है। न छोटे छोटे गीतों में, न लंबी कविताओं में, प्रत्युत् कोरसों में, लिरिक कविताओं में नज़रुल इस्लाम को सर्वाधिक सफलता मिली है। 'विद्रोही' लंबी कविता है और कुछ अंशों को छोड़कर पूर्ण सफल नहीं कही जा सकती। कवि के लिए अधिक विस्तार होने से उसकी भावुकता का दम भर जाता है; संकोच होने पर उसके पर भी नहीं फैल पाते। कविता इतनी लंबी हो कि उठान के साथ आवेग का पतन हुए बिना वह अंत तक निभ जाय, जैसे 'छात्रदलेर गान' अथवा 'विदाय बेलाय'। नज़रुल की कविताओं का प्रारंभ बहुधा बड़ा ही प्राभावोत्पादक होता है; इतना कि अंत तक उस प्रभाव को निभाना कठिन होता है। इनके प्रारंभ में किसी चित्र या भाव का अचानक कवि को चंचल कर देना खूब व्यंजित रहता है। 'संध्यातारा' का आरम्भ इसी प्रकार है :—

> 'घोमटापरा कादेर घरेर बउ तुमि भाई संध्यातारा ?
> तोमार चोखेर दृष्टि जागे हरानो कोन मुखेर पारा ॥'

इसी तरह 'आज सृष्टि-सुखेर उल्लासे' में,

> 'आज सृष्टि-सुखेर उल्लासे

मोर मुख हासे मोर चोख हासे मोर टगबगिये खुन् हासे
आज सृष्टि-सुखेर उल्लासे।'

नज़रुल के अनेक गीतों की विशेषता यह है कि वे एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा गाये जाने के लिये हैं, उनका संबंध प्रिय और प्रिया के ही कानों से नहीं है। बँगला में ऐसे गीतों की कमी नहीं है जिनमें प्रेमी प्रेमिका ही प्रधान हैं और नज़रुल इस्लाम ने स्वयं उनकी संख्या वृद्धि की है। अतः इन कोरस गीतों की अपनी एक अलग महत्ता है। 'छात्रदलेर गान' 'चल् चल् चल्' आदि इसके उदाहरण हैं। कमालपाशा वाली कविता में सैनिकों का लेफ्ट राइट, लेफ्ट राइट, हुर्रे बोलना, उनका विजयल्लास आदि भी अंकित किया गया है। सर्वत्र समान सफलता कवि को नहीं मिली; रौद्र और वीर से सहसा हास्य की ओर फिसल जाना उसके लिये असाधरण नहीं है। नीचे के एक उदाहरण से जो कमाल वाली कविता से लिया गया है, यह स्पष्ट हो जायगा।

'साब्बास भाइ! साब्बास दिइ, साब्बास तोर शमशेरे!
पाठिये दिल दुश्मने सब जमघर एकदम-से रे!
बल् देखि भाइ बल् हाँ रे!
दुनिया के डर् करे न तुर्कीर तेज तलोयारे?
(लेफ्ट राइट लेफ्ट)
खुब किया भाइ खुब किया!
बुज्दिल ओइ दुश्मन सब बिल्कुल साफ़ हो गिया!
खुब किया भाई खुब किया!
हुर् रो हो!
हुर् रो हो!
दस्युगुलोय सामूलाते जे एमनि दामाल कामाल चाइ!
कामाल तूने कामाल किया भाई!

होहो कामाल तूने कामाल किया भाई !

(हवलदार मेजर—साबास् सिपाइ लेफ्ट राइट लेफ्ट !) इत्यादि ।

समूह के तुमुलशब्द को व्यंजित करते हुये कवि यथार्थ के इतना निकट पहुँच जाता है कि कविता अपनी भव्यता खोकर छिछली और हास्यमूलक हो जाती है ।

नज़रुल इस्लाम की कविता का रहस्य अतिशयोक्ति है, उनकी सबसे सुंदर पंक्तियों में भाव अतिरंजित होकर आते हैं । विद्रोही का उन्नत शीश, हिमालय के शिखर के समान, एक उदाहरण है । दूसरा 'चल् चल् चल्' में देखिये ।

'उषार दुयारे हानि आघात
आमरा आनिब राङा प्रभात,
आमरा टुटाब तिमिर रात,
बाधार बिंध्याचल ।'

उषा का द्वार तोड़कर रंगीन प्रभात लाना और बाधा के बिंध्याचल को तोड़ना उसी अतिरंजित शैली के अंतर्गत है । इसी प्रकार 'छात्रदलेर गान' में

'दारुन राते आमरा तरुन
रक्ते करि पथ पिछल !'

अतिरंजित भाव धारा के साथ ये चित्र ऐसे मिल जाते हैं कि उनकी असाधारणता प्रायः छिपी रहती है । केवल जब उनकी भरमार हो जाती जैसे 'विद्रोही' में, या जब वे भावना स्रोत के किनारे शिलाखंड-से अलग पड़े हुये दिखाई देते हैं, तब वे अनुपयुक्त-से खटकने लगते हैं । सफल कविताओं में वे स्पष्ट और भाव को उभारने वाले होते है । फिर भी नज़रुल की सभी कवितायें इन अतिरंजित चित्रों पर निर्भर नहीं हैं । उनकी जड़ में वह अराजकता और उछृंखलता है जो सहज ही ऐसे चित्रों से मैत्री रखती हैं । उनकी कविता

का दोष यह है कि बहुधा फैलती चली जाती है। 'विद्रोही' का अंत तब होता है जब पाठक पढ़ते पढ़ते तंग आ जाता है और चित्रों की असाधारणता उनके बाहुल्य के ही कारण प्रभावहीन हो जाती है। जहाँ आवेग थोड़ा संयमित रहता है और चित्र भाव के अनुकूल ही आते जाते हैं, वहाँ 'कांडारी हुशियार' की भाँति कविता सधी और सफल निकलती है। नज़रुल इस्लाम का ध्येय विचारकों को अपनी मेधा से चमत्कृत करना नहीं रहा है; कविता की सूक्ष्म परख करने वालों को प्रसन्न करना भी शायद नहीं; उनका ध्येय साधारण जनों के हृदयों को आंदोलित करना रहा है और इसमें उन्हें यथेष्ट सफलता भी मिली है। आज का जनसमुदाय दस वर्ष पहले के समुदाय से भिन्न है, इसलिये नज़रुल की कविता आज की कविता कहकर आदर्श रूप में सामने नहीं रखी जा सकती। फिर भी इस दिशा में आगे बढ़ने के इच्छुक कवि यदि उनकी कृतियों का अध्ययन करेंगे तो उन्हें अपने कार्य में सहायता ही मिलेगी और वे लोग भारतीय कविता के क्रम की भी रक्षा कर सकेंगे।

(दिसम्बर '३८)

ब्रह्मानन्द सहोदर

(१)

संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं रही जो विषय-चिन्तन द्वारा ब्रह्मानन्द-प्राप्ति में विश्वास रखते हों। भारतवर्ष के अनेक विद्वान अपनी आध्यात्मिकता पर गर्व करके पूर्व और पश्चिम की दो संस्कृतियों का उल्लेख करते हैं। वास्तव में यह आध्यात्मिकता पश्चिम के लिए अनहोनी नहीं है। प्लेटो ने सौन्दर्यवाद का सिद्धान्त चलाया था कि सुन्दर वस्तु का चिन्तन करने से हम एक अपार्थिव सौन्दर्य की ओर जाते हैं और इस प्रकार हमें सत्यं, शिवं, सुन्दरं का एक साथ ही दर्शन हो जाता है। यहाँ के साहित्यशास्त्र-निर्माताओं ने कहा कि यद्यपि साहित्य में विषय रहता है परन्तु जब उसका रस में परिपाक होता है तो उसका आस्वाद अलौकिक होता है। इसलिए रस ब्रह्मानन्द सहोदर है। ब्रह्मानन्द से चाहे केवल मोक्ष मिले परन्तु ब्रह्मानन्द सहोदर से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि आचार्य भामह ने कहा है :—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

पश्चिम में तो धर्म और काम का झगड़ा भी चला था, इस बात पर विवाद हुआ था कि साहित्य केवल आनन्द के लिए है अथवा शिक्षा के लिए भी, परन्तु भारतीय आचार्यों ने भरत मुनि से लगाकर

'धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्'

के अनुसार, धर्म और काम में ऐसा कोई विशेष झगड़ा नहीं देखा।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य का प्रयोजन बताते हुए अर्थ और यश को कभी नहीं भुलाया, वरन् बहुधा उन्हें सामने ही रखा है। यदि ब्रह्मानन्द सहोदर से अर्थ और यश भी मिलता हो तो लौकिक और अलौकिक का यह आदर्श संयोग किसे न भायेगा? आचार्य दंडी के अनुसार साहित्य कामधेनु है जिसकी उचित सेवा से सभी मनोभिलाष पूर्ण होते हैं और वाणी के प्रसाद से ही 'लोक-यात्रा' संभव होती है (वाचामेवप्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते)। कवियों ने अपनी वाणी द्वारा पुराने राजाओं को अमर कर दिया है, नहीं तो कोई उनका नाम भी न जानता। दंडी की इस उक्ति से जो ध्वनि निकली वह इस शास्त्र के जाननेवाले के अनुसार इस प्रकार है :—

'According to him, the main purpose of a poem is to narrate and praise the life and deeds of the king, the Kavi being thus, generally, a court poet' (J. Nobel—The Foundations of Indian Poetry)

आचार्य दंडी के अनुसार कविता का प्रधान लक्ष्य राजा के जीवन और उसके कृत्यों का वर्णन है और इसलिए, मोटे रूप में, कवि से एक दरबारी कवि का ही बोध होता है। रस अलंकार आदि का विवेचन करते समय इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। अधिकांश आचार्यों का सम्बन्ध राजाओं से था; इसीलिए उनके सिद्धान्तों पर दरबारी संस्कृति की छाप है।

आचार्य विल्हण ने इसी प्रकार कहा है कि जिस राजा के पास कवि नहीं होते, उसका क्या यश हो सकता है; संसार में कितने राजा नहीं हो गये, परन्तु उनका कोई नाम भी नहीं जानता।

इस प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी के रीति-काल का स्मरण कराती

है ; जिस वातावरण में इस साहित्य-शास्त्र की रचना हुई, वह बहुत कुछ रीति-काल जैसा हो था। इसी लिए काव्य से धन और यश प्राप्त होने की इतनी चर्चा है। इस वास्तविक लक्ष्य को ऊँचा करके दिखाने के लिए ब्रह्मानन्द का सहारा लिया गया। आचार्य मम्मट ने कहा है कि काव्य से यश और धन मिलता है, अमंगल दूर होता है, व्यवहार का ज्ञान होता है, आनन्द मिलता है और मधुर शिक्षा, जैसी कांता के शब्दों में होती है, प्राप्त होती है। कान्ता के समान मधुर उपदेश देने में काव्य वेद और पुराणों को भी पीछे छोड़ आता है। वेद-वाक्य प्रभु-सम्मित आज्ञा के समान है ; पुराण-वाक्य सुहृद्-सम्मित मित्र के अनुरोध के समान है। ये दोनों प्रकार के वाक्य अखरते हैं परन्तु कान्ता सम्मित वाक्य, रसपूर्ण काव्य में यह दोष कहाँ ?

रसवाद के साथ विभावनुभाव आदि की एक सेना है जो रस परिपाक में सहायक होती है। इसमें पहले स्थायी भाव आते हैं। जैसे नायक-नायिका का परस्पर अनुराग एक स्थायी भाव है। प्रत्येक रस के साथ उसका स्थायी भाव होता है ; रसोंमें शृंगार प्रधान है और शृंगार का स्थायी भाव रति है। रति को जगाने के लिए नायक-नायिका का होना आवश्यक है। वे आलंबन विभाव हैं। पुष्पवाटिका, एकान्त स्थल, शीतलमन्द बयार आदि उद्दीपन विभाव हैं। स्थायी भाव जैसे रति का ज्ञान कराने के लिए कटाक्ष, हस्त संचालन आदि अनुभाव होते हैं। नायक-नायिका में मिलने की उत्कंठा आदि के भाव स्थायी भाव के सहायक होते हैं और व्यभिचारी या संचारी कहलाते हैं। इन सब विभावनुभावों आदि की विभिन्न आचार्यों ने संख्याएँ नियत की हैं, फिर भी इस गोरख-धन्धे के बाद रस-निष्पत्ति के समय स्थायी भाव की ही प्रधानता होती है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में कहा है :—

'तथा विभावनुभाव व्यभिचारि परिवृतिः स्थायी भावो रसनाम लभते।'

स्थायी भाव ही रसनाम प्राप्त करता है अर्थात् स्थायी भाव, जैसे रति, का ही नाम रस है। इसी रस अर्थात् रति का नाम ब्रह्मानन्द सहोदर है। यद्यपि साहित्य में शृंगार के साथ और रसों की गणना है तो भी जैसा कि भोजराज ने लिखा था, यह गणना अन्धपरम्परा के कारण है, रस वास्तव में शृंगार ही है। संस्कृत काव्य में जिस रस की प्रधानता है, वह शृंगार है; शास्त्रकार रस की आध्यात्मिक व्याख्या के साथ जिस रस के आलम्बन आँखों के सामने देखते थे, वे शृंगार रस के नायक-नायिका ही थे।

यह रस किस प्रकार अलौकिक हो जाता है, इसकी व्याख्या भट्टनायक ने की है। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम-व्यापार को 'भावना' एक साधारण व्यापार बना देती है, अर्थात् वह उनका व्यक्तिगत प्रेम न रहकर साधारण दाम्पत्य प्रेम हो जाता है। भावना के बाद 'भोग' की क्रिया आरम्भ होती है; किसी विचित्र प्रकार से सत्वगुण का उद्रेक होता है और इस प्रकार प्रकाश रूप आनन्द का अनुभव होता है—'सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद्विश्रांति'। इसी भोग से वह आनन्द प्राप्त होता है जो अलौकिक होता है। यह समग्र तर्क एक मिथ्या धारणा पर निर्भर है। किसी प्रकार के आनन्द को भी सत्वगुणी मान लिया गया है। इसलिये विषयचिन्तन से भी जो आनन्द होगा वह सत्वगुणी और अलौकिक होगा। वास्तव में तमोगुण से उत्पन्न आनन्द मनुष्य को तमोगुण की ओर ही ले जायगा न कि सत्वगुण की ओर। यह बात ठीक है कि दर्शक या पाठक के भीतर एक साधारणीकरण नाम की क्रिया होती है: उसके लिए दुष्यन्त और शकुन्तला ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र नहीं रहते। अपने अनुभव के अनुसार वह उन्हें पहचानता है और उनके प्रति अपने भाव निश्चित करता है। रसिक पाठकों को शकुन्तला में अपनी

प्रेयसी के ही दर्शन होते हैं अथवा वे शकुन्तला को अपनी एक काल्पनिक प्रेयसी बना लेते हैं। इस प्रकार साहित्य में विभिन्न प्रकृति के व्यक्ति, विभिन्न प्रकार के भाव और विभिन्न कोटि का आनन्द पाते हैं। इन सब का रसानुभव—ब्रह्मानन्द सहोदर—अलग-अलग तरह का होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण व्यंजना द्वारा होता है, न कि भावना द्वारा; परन्तु महत्व की बात यह है कि साधारणीकरण के बाद भी दर्शकों और पाठकों का अपना-अपना भाव ग्रहण असाधारण रहता है।

साधारण रूप से हम देखते हैं कि जो मनुष्य जिन बातों को बहुत सोचा करता है, उन्हीं जैसी उसकी मनोवृत्ति और उसका चरित्र भी बनता है। गीता के अनुसार—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।'

विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। यह जीवन का एक दृढ़ सत्य है। साहित्य में भी विषय-चिन्तन से विषयासक्ति उत्पन्न होगी, इस बात को वितण्डावाद से छिपाया नहीं जा सकता। साहित्य-शास्त्र की समस्या प्रधानतः यह है, किस प्रकार का साहित्य हमारे चित्त पर किस प्रकार के संस्कार बनाता है; ये संस्कार समाज के लिए शुभ हैं या अशुभ। कालिदास को पढ़ने के बाद हृदय पर कुछ संस्कार छूट जाते हैं जो धीरे-धीरे वैसे ही चिन्तन द्वारा दृढ़ होते हैं। अशुभ रचनाएँ ऐसे संस्कार बना सकती हैं जो समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हों। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है। कालिदास हमारे कवि कुलगुरु हैं! महाभारत और रामायण को भी काव्य सिद्ध करने के लिए कहीं ध्वनि, कहीं अलंकार दिखा दिये जाते हैं। साहित्य से ब्रह्मानन्द सहोदर तो प्राप्त हुआ परन्तु शृङ्गार को छोड़ अन्य किसी रस से ब्रह्मानन्द सहोदर का विशेष सम्बन्ध न

दिखाई दिया। शृंगार को ही रसराज की उपाधि क्यों मिली? साहित्य-शास्त्र की यह दूसरी समस्या है—एक साहित्यिक या कलाकार जिस अनुभव को दर्शक या पाठक तक पहुँचाता है, उसका चयन किन नियमों के अनुसार होता है? अनुभव करने को बहुत सी बातें हैं, परन्तु उनमें से कुछ को ही हम क्यों अनुभव कर पाते हैं? और जिन्हें अनुभव कर पाते हैं, उनमें से कुछ विशेष को ही क्यों अपने साहित्य में अपना सकते हैं? इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर संस्कृत साहित्य-शास्त्र में नहीं मिलता।

जैसी युग और समाज की मनोवृत्ति होती है, उसी से प्रभावित होकर या उसके विरोध में खड़े होकर कलाकार अपनी कृतियों को जन्म देता है। वह साहित्य-शास्त्र और कालिदास जैसे कवियों का युग था जब शताब्दियों के लिए भारतवर्ष की दासता का जन्म हो रहा था। उस समय उन महान् आचार्यों तथा कवियों ने जो संस्कार भारतीय जीवन में जमा दिये, वे आज भी निर्मूल नहीं हुए। जिस भावना धारा के ऊपर नायिका-भेद का विशाल भवन निर्मित हुआ, उसके ऊपर ब्रह्मानन्द सहोदर का आवरण डालकर जनता को धोखे में रखा गया। साहित्य-शास्त्रियों ने कहा, काव्य कुछ गुणीजनों के लिए है, उसके लिए अलङ्कार, ध्वनि, रस आदि का ज्ञान आवश्यक है; वह सब की समझ में नहीं आ सकता। जब कहा गया कि अलङ्कार, ध्वनि रस आदि का शृङ्गार रस से ही क्यों विशेष सम्बन्ध है, क्या इससे कुसंस्कार उत्पन्न नहीं होते? तब उत्तर दिया गया कि साहित्य में, भावना अथवा व्यञ्जना द्वारा एक अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है जो चित्त पर कोई संस्कार नहीं छोड़ता। परन्तु गीता में कहा गया था, विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है; इस महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य को साहित्य शास्त्रियों ने उलट दिया। कहा, साहित्य में विषय-चिन्तन

से ब्रह्मानन्द सहोदर प्राप्त होता है। यह प्रवञ्चना आज भी चली जाती है और अनेक आलोचक इस प्रश्न का सामना ही नहीं करना चाहते, कौन सा साहित्य कैसे संस्कार बनाता है और व समाज के लिए अच्छे हैं या बुरे। इसी ब्रह्मानन्द-परम्परा में आगे चलकर एक शास्त्रज्ञ ने कहा कि जो धर्म का उल्लंघन करके परकीया से प्रेम करता है, वही शृङ्गार के परमोत्कर्ष को जानता है (अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः)। इस सबकी पराकाष्ठा ब्रज भाषा के नायिका-भेद में हुई जिसके रस में डूबकर कवि रसातल पहुँच गये और अपने साथ देश को भी ले डूबे।

(२)

साहित्य या कला से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे ब्रह्मानन्द सहोदर न मानकर भी, बहुत से लोग यह स्वीकार करना चाहेंगे कि वह लोकोत्तर होता है और जीवन में प्राप्त आनन्द की अन्य श्रेणियों से वह भिन्न है। भिन्न तो वह है ही क्योंकि यहाँ माध्यम दूसरा है; जीवन में जैसे मदिरा पीने से किसी को आनन्द मिलता है, साहित्य में उसके वर्णन से आनन्द मिलता है; और दोनों प्रकार के आनन्दों में भिन्नता है। मदिरा पीने में गाली बकने से लेकर नाली में गिरने तक का आनन्द लोगों को सुलभ होता है; उमर खय्याम की रुबाइयाँ पढ़ने में लोग लोक-परलोक दोनों सुधार लेते हैं; कम से कम सुधारने की चेष्टा तो करते ही हैं। परन्तु हैं दोनों आनन्द ही; मदिरा पीने से तथा मदिरा-पान के वर्णन दोनों से ही आनन्द प्राप्त होता है। मदिरा पान के वर्णन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे हम लोकोत्तर आनन्द इसलिए कह सकते हैं कि लोक में इस प्रकार का आनन्द हमें मिलता नहीं है। नहीं तो एक प्रकार का आनन्द वह भी है यदि किसी ने मदिरा-पान किया है, तो उसे उसका

स्मरण होता है, नहीं किया है, तो सुनी बातों से उसकी कल्पना करता है। इस प्रकार मदिरा-सम्बन्धी कल्पना, जो अलौकिक नहीं है, उसके वर्णन से प्राप्त आनन्द का आधार होती है। इस मूल कल्पना की "स्थूलता" का प्रभाव उस "सूक्ष्म" आनन्द पर भी पड़ता है।

साहित्य और कला से हमें आनन्द प्राप्त होता है परन्तु सभी प्रकार के साहित्य या कला में हमें एक ही प्रकार का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। मदिरा-पान के वर्णन से जो आनन्द आता है, क्या वह उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी का भगवद्भक्ति में गाये हुये एक गीत का आनन्द है? सम्भवतः जो मदिरा-पान के वर्णन में रस लेता रहा है, उसे भक्ति का भजन बिल्कुल नीरस लगेगा। यह एक मोटा सा उदाहरण है जिसकी सचाई को शायद ही कोई अस्वीकार करे। परन्तु साहित्य और कला सम्बन्धी वाद-विवाद में लोग इसी बात को भूल जाते हैं; तब सैकड़ों झूठी धारणायें पैदा हो जाती हैं।

पहली बात तो यह माननी होगी कि एक व्यक्ति जो एक प्रकार की साहित्यिक रचना से आनन्द पाता है, एक अन्य प्रकार की रचना के प्रति नितांत उदासीन भी हो सकता है। यह हम समाज में और अपने जीवन में नित्यप्रति देख सकते हैं। कीट्स ने अपने एक पत्र में लिखा था कि वह अपनी नव-युवावस्था में इङ्गलैंड के कुछ छोटे-मोटे कवियों को बहुत पसन्द करता था; आगे चलकर उसे शेक्स-पियर बहुत पसन्द आने लगा; फिर वह पूछता है, क्या एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब उसे शेक्सपियर भी अच्छा न लगे? जिन लोगों को कालिदास के मेघदूत में लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है, क्या उन्हें रामायण या महाभारत में भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है? शास्त्रकारों ने 'आनन्द' की परख के लिये सहृदय काव्य-मर्मज्ञों को नियत किया है। जिसे सहृदय कहें, वही वास्तविक काव्य

है; उसी से प्राप्त आनन्द वास्तविक आनन्द है। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी कविता की परख के लिये सुझाया था कि लोगों को चाहिये कि कुछ कवियों की प्रसिद्ध पंक्तियाँ लेकर पढ़ें और देखें कि उन्हें उनमें आनन्द आता है या नहीं। न आनन्द आवे तो समझना चाहिये कि उनकी सहृदयता में अभी कमी है। इस व्याख्या में शास्त्रकार मान लेते हैं कि सहृदयता और मर्मज्ञता अचल और सनातन हैं। काल-प्रवाह से वे अस्थिर नहीं होतीं।

इतिहास की साक्षी इससे उल्टी है। या तो अभी वास्तविक काव्य-मर्मज्ञ पैदा ही नहीं हुआ और यदि हुआ है, तो उसकी मर्मज्ञता अवश्य युग-युग में बदलती रही है। चोटी के कवियों को छोड़ द्वितीय श्रेणी के कवियों के सम्बन्ध में यह मर्मज्ञता युग युग में रूपरंग बदलती दिखाई देती है। जर्मन कवि गेटे ने लार्ड बायरन की जो प्रशंसा की थी, क्या बीसवीं सदी के आलोचकों को उसका एक शब्द भी मान्य है? टेनीसन के समय उसकी प्रतिभा किस कोटि की समझी गई थी, और बीसवीं सदी में उसका कौन सा मूल्य निर्धारित किया गया है? शेली और कीट्स के जीवन-काल में हैज़लिट, डिक्विंसी आदि की मर्मज्ञता ने उन्हें कैसा परखा था; बीसवीं सदी में उनकी प्रतिभा किस कोटि की मानी गई? किसी कवि का मूल्य एक युग कुछ आँकता है, दूसरा युग कुछ, इसे और उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नहीं। यह झमेला साधारण कवियों तक ही नहीं है; शेक्सपियर, तुलसीदास जैसे कवियों के सम्बन्ध में भी धारणाएँ बदला करती हैं। यही नहीं कि टाल्सटाय जैसे मर्मज्ञ शेक्सपियर को सच्चा कवि ही न मानें, जानसन और ब्रैडले दो आलोचक एक ही कवि के विभिन्न कारणों से प्रशंसक हो सकते हैं। दोनों मर्मज्ञ कविता के दो मर्मों तक पहुँच जाते हैं।

देश और काल के अनुसार सामाजिक संस्कृति का निर्माण होता

है। एक भारतवर्ष, जिसका दूर-दूर तक व्यापार फैला हुआ है, दूर-दूर तक जिसके उपनिवेश हैं, व्यापार से जिसका मध्यवर्ग सन्तुष्ट है, दान का जहाँ महात्म्य है, मन्दिरों में घण्टा-ध्वनि के साथ ईश्वर में आस्था घोषित की जाती है, उस भारतवर्ष की संस्कृति क्या उस दूसरे भारतवर्ष की भी होगी जो स्वयं दूर के व्यापारियों का एक उपनिवेश है, जहाँ का मध्यवर्ग दफ्तरों में नौकरी खोजता है और जहाँ किसानों के रूप में एक विशाल जन समुदाय क्षुब्ध और पीड़ित है? शास्त्रकारों ने जिस मर्मज्ञता का विवेचन किया है, वह उस समृद्धि सामंती युग की प्रतीक है; समृद्धि का क्षय होते होते लोगों ने उसे और भी दृढ़ता से जकड़ लिया जिससे मरते-मरते भी वह लोकोत्तर आनन्द हाथ से न जाने पाये। उस समृद्धि की परछाईं में पला हुआ जन समाज का एक सैकड़ा भाग आज भी उसे अपनी प्रिय संस्कृति कहकर कंठहार बनाये हुये है। साहित्य-समालोचना में उसी मर्मज्ञता को हम अपना आदर्श मानते चले जाते हैं!

साहित्य के शास्त्रीय विवेचन पर से यदि हम ब्रह्मानन्द सहोदर का आवरण हटा दें, तो उसके नीचे हमें बहुत कुछ सचाई मिल सकती है। साहित्य से हमें रस या आनन्द प्राप्त होता है, यह ठीक है; मनुष्य के हृदय में जो स्थायी भाव होता है, वही रस नाम ग्रहण करता है, यह और भी ठीक है। सारी बातें मनुष्य के भाव की हैं; 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'; एक ही मूर्ति विभिन्न प्रकार की भावनाओं के लोगों को विभिन्न प्रकार की दिखाई देती है। यदि भाव-ग्रहण और आनन्द अनेक प्रकार का है तब उसमें अलौकिक सत्ता की एकता, अविच्छिन्नता नहीं है; लौकिक वस्तुओं की भाँति ही वह श्रेणी-विभाजन से परे नहीं है। इसलिये यह स्वीकार करना चाहिये कि सहृदय काव्य-मर्मज्ञ कहकर कोई ऐसा प्राणी हमें नहीं मिल सकता जो सभी युगों के लिये आदर्श हो; न

इस मर्मज्ञ की परख में आनेवाला कोई ऐसा साहित्य है जिसका रस सभी युगों में समान लोकोत्तर हो, अविच्छिन्न हो। विकास का नियम समाज पर ही लागू नहीं होता ; उसका अधिकार साहित्य, साहित्य-मर्मज्ञता, लोकोत्तर आनन्द सभी पर है।

यदि साहित्य और साहित्यिक रुचि में युग के साथ परिवर्तन हुआ करता है तो एक युग की कृति हमें दूसरे युग में क्यों अच्छी लगती है ? किसी-किसी युग में जो साहित्यिक पुनरुत्थान (Literary Revivals) हुआ करते हैं, उनका क्या रहस्य है ? कोलरिज के युग में शेक्सपियर का नवीन साहित्यिक जन्म और टी० एस० इलियट के युग में मेटाफिज़िकल कवियों की चर्चा का क्या कारण है ? पहली बात तो यह कि इस प्रकार के पुनरुत्थानों में ऐतिहासिक सत्यता की रक्षा बहुत कम की जाती है ; जब हम बीते युग को पुनर्जीवित करते हैं, तब हम बहुधा उसमें अपने युग का जीवन ही अधिक डालते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के दो अँग्रेज़ साहित्यिक मैथ्यू आर्नल्ड तथा स्विनबर्न ग्रीक सभ्यता और साहित्य के पक्षपाती थे परन्तु दोनों की ग्रीक सभ्यता अलग अलग थी। तुलसीदास भारतवर्ष के सर्वमान्य कवि रहे हैं परन्तु रामचन्द्र शुक्ल के तुलसीदास पुरानी साहित्यिक परम्परा के तुलसीदास से भिन्न हैं। इसलिये प्रत्येक साहित्यिक रिवाइवल को ठीक-ठीक पहचानने के लिये उस युग की प्रवृत्तियों को जानना आवश्यक होता है जिसमें वह रिवाइवल घटित होती है।

दूसरी बात यह है कि युग-युग में जो सामाजिक परिवर्तन होते हैं, उनके साथ एक सामाजिक विकास-क्रम भी चला करता है। एक बीता हुआ युग इस सामाजिक विकास-क्रम के कारण बीत जाने पर भी हम से जुड़ा हुआ हो सकता है ; वर्तमान का सम्बन्ध भूत और भविष्यत् दोनों कालों से है, इसलिये हम उस विकास-शृंखला

को भूल नहीं सकते। एक सजग और सचेत वर्तमान के लिये आवश्यक है कि वह भविष्य की ओर उन्मुख होते हुये भी अपनी पिछली ऐतिहासिकता से अनभिज्ञ न हो। ऐतिहासिकता के ज्ञान बिना कोल्हू का बैल एक ही दर पर चक्कर लगाकर अपने को अत्यन्त प्रगतिशील समझ सकता है। एक साहित्यिक रिवाइवल के रूप में नहीं, ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर अपनी साहित्यिक एवं सामाजिक परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। सामाजिक विकास का मार्ग ऐसा सीधा मार्ग नहीं है कि समाज की लड़ी उस पर ढलकती चली जाय और जो बात एक बार हो चुकी है, उसे फिर दोहराया न जाय। विकास-क्रम टेढ़ा-मेढ़ा पहाड़ी रास्ते जैसा ऊँचा नीचा है। जिन दृश्यों को हम पहले छोड़ आते हैं, घूम-घामकर कभी उन्हीं तक, कभी उन्हीं जैसे दूसरे दृश्यों तक फिर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक विकास में अगड़-पिछड़ लगी रहती है; क्रिया के साथ प्रतिक्रिया है, आक्रमण के साथ रिट्रीट अकॉर्डिङ्ग टु प्लैन भी है। इसलिए बीसवीं सदी के विकास-क्रम में ढलता हुआ युग सत्रहवीं सदी के विकास-क्रम में उन तत्वों को खोजता है जो दोनों में मिलते-जुलते हैं। हमें बीते युग की रचना इसलिए अच्छी लगती है कि उसके निर्माण में उन्हीं तत्वों का संयोग है जो हमारे युग के अत्यधिक निकट हैं। रामचन्द्र शुक्ल को तुलसीदास में लोक-हित की भावना पिछले युगों से अधिक इसलिए दिखाई दी कि वह हमारे युग की एक चेष्टा है: सम्भवतः वह तुलसीदास के युग की भी चेष्टा थी जिससे 'स्वांतःसुखाय' और 'लोक-हिताय' में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था। इसलिए बीते युग की रचना के अच्छे लगने के दो कारण हो सकते हैं; एक तो उसमें हम वह अर्थ ढूँढ़ लेते हैं जो हम ढूँढ़ना चाहते हैं परन्तु जो उसमें है नहीं; दूसरे हम उसमें वही अर्थ पाते हैं जो उस युग को भी अभीष्ट था। ऐतिहासिक परम्परा

में बँधे होने के कारण हमें पुरानी रचनाएँ तभी अच्छी लगती हैं जब वे हमारे युग के अनुकूल होती हैं।

कुछ रचनाएँ ऐसी होती हैं जो थोड़े ही युगों की अनुकूलता पाती हैं; कुछ ऐसी होती हैं जो अनेक युगों में लोक-प्रिय होती हैं। जिन रचनाओं की लोक-प्रियता अधिक व्यापक होती है, उनमें हम अनन्त सौंदर्य, जीवन का अमर सत्य आदि खोज निकालना चाहते हैं। उनकी व्यापक युगानुकूलता को बढ़ाकर हम उसे एक चिरन्तन सत्य का रूप दे देते हैं अर्थात् यह मान लेते हैं कि सदा के लिए विकास-क्रम में यही तत्व लौट-पौटकर आया करेंगे। हमारा इतिहास अभी निर्मित हो रहा है, विकास का अन्त नहीं हो गया, इसलिए एक ऐसी संस्कृति की कल्पना करना जो चिरन्तन हो, भ्रम है। जब अभी तक एक स्थिर, अपरिवर्तनशील, और सदा के लिए सुन्दर सामाजिक व्यवस्था किसी भी युग में स्थापित नहीं हुई, तब साहित्य, जो सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है, कैसे चिरन्तन सत्य और अमर हो सकता है? वास्तव में सामाजिक विकास-क्रम में जैसे ही गति का अभाव होता है, वैसे ही एक जगह चक्कर लगाकर हम रूढ़ियों में चिरन्तन सत्य और अमर सत्य के रह-रहकर दर्शन भी होने लगते हैं।

विकास-दर्शन की विरोधी कुछ विचार-धाराएँ इन अमर सौंदर्य और चिरन्तन सत्य की कल्पनाओं का पोषण करती हैं। ये संस्कार बहुतों के चित्त पर जमे हुए हैं कि मानव जाति का इतिहास प्रगति नहीं दुर्गति का इतिहास है। जो कुछ सत्यं शिव सुन्दरं था, वह तो सतयुग में हो गया: अब तो घोर कलिकाल में जो कुछ है, वह पतन ही पतन है। कल्कि अवतार हो तो भले निस्तार हो सके। ग्रीक लोगों में भी सुवर्णयुग और अन्त में लौहयुग आदि की कल्पनाएँ प्रचलित थीं। आदम और हव्वा पैरेडाइज़ में कितने सुख से रहते थे, सभी जानते हैं: हज़रत ईसा मसीह फिर दया करें तभी वह पैराडाइज़

लास्ट पैराडाइज़ रिगेंड हो सकता है। इन संस्कारों के कारण लोग साहित्य में भी अमर सौन्दर्य आदि को पिछले युगों में ही देखना अधिक पसन्द करते हैं; कोई साहित्यिक या कलाकार तब तक पूर्णरूप से महान् नहीं हो पाता जब तक वह एक बीते युग की कहानी नहीं हो जाता। इसीलिए विकास-सिद्धान्त को मानते हुए भी, साहित्य और समाज में इस विकास के नियम को लागू करते हुए भी, हम ऐसे मापदंड खोज निकालते हैं जो अमर हों; उन मापदण्डों से हम वह साहित्य भी नाप-जोख लेते हैं जिसे हम सदा के लिए सत्य शिव और सुंदर मान लेते हैं। यह सारी नाप-जोख उस विकास-सिद्धान्त की ऐतिहासिकता के कितना प्रतिकूल, असत्य और अवैज्ञानिक है, इस पर हम कभी ध्यान नहीं देते।

यदि हम विकास-सिद्धान्त को मानते हैं तो यह मानना होगा कि मनुष्य के संस्कार अमर नहीं होते वरन् वे बना-बिगड़ा करते हैं। विकास-क्रम में परिस्थितियाँ जैसे-जैसे बदलती हैं, वैसे ही मनुष्य की इच्छाएँ, भावनाएँ, संस्कार आदि भी बदलते हैं। साहित्य-शास्त्र की सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि मनुष्य की कुछ भावनाएँ अमर तथा उसके कुछ संस्कार चिरन्तन होते हैं; जैसे पिता-पुत्र का प्रेम, या पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण। इस प्रकार के संस्कार चिरन्तन मानकर साहित्य-शास्त्री कहते हैं कि जो इन संस्कारों के अनुकूल साहित्य रचता है, उसी का साहित्य अमर हो सकता है। सामाजिक विकास की एक शृंखला वह भी रही थी जब पिता-पुत्र के सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं हुई थी। जिस प्रकार समाज का ढाँचा सदा एक नहीं रहा और उसमें विकास की सम्भावना रही है, वैसे ही मनुष्य के (समाज से प्राप्त) संस्कार भी अमर नहीं हैं और उनमें परिवर्तन की सम्भावना है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में भी इतने परिवर्तन हुए हैं कि उन सबको एक 'प्रेम' का नाम देने से भ्रम हो सकता है।

परन्तु ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि कुछ संस्कार औरों से अधिक स्थायी नहीं होते अथवा उनका स्थायित्व कभी-कभी अमरत्व जैसा नहीं लगने लगता। साहित्यिक के लिए यह स्वाभाविक है कि वह उन संस्कारों तथा इच्छाओं को अपनाये जो अधिक स्थायी तथा लोकप्रिय हैं। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि समाज में वे संस्कार लोकप्रिय हो गये हों जो उसके विकास में बाधक हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के एक अंग में उन संस्कारों का प्राधान्य है जिनका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति पर स्थिर परिवार है। भाई का भाई से प्रेम, पति का पत्नी से, पुत्र का पिता से प्रेम आदि सराहनीय हैं। परन्तु यदि हम अपनी गति अवरुद्ध नहीं करना चाहते तो कभी यह आवश्यक हो सकता है कि हम अपने संस्कारों को परिवार की भूमि से उठाकर समाज की भूमि पर स्थिर करें। ऐसे संस्कारों की आवश्यकता है जो हमें समाज-हित को परिवार-हित से बढ़कर समझने को प्रेरित करें। जैसे भक्ति काव्य में इष्ट देवता समाज और परिवार से ऊपर होता है, वैसे ही साहित्यिक के लिए ऐसे संस्कारों के निर्माण में सहायक होना, जो स्थायी दिखनेवाले पारिवारिक संस्कारों के ऊपर या उनके विरोधी हैं, नितान्त अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए साहित्यिक का कर्तव्य है कि वह उन विशेष संस्कारों का पोषण अथवा निर्माण करे जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

कुछ लोगों का मत है कि साहित्य का अमर सौंदर्य विषय, भाव-विचार आदि पर निर्भर नहीं हैं वरन उसका आधार व्यंजना अथवा कला है। भक्त न होते हुए भी भक्ति-रस की एक रचना पर हम मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि शब्दचयन इतना सुन्दर है, कहने का ढंग ऐसा प्रभावपूर्ण है। ईसा मसीह पर जो कविता लिखी गई है, उसका आनन्द लेने के लिए ईसाई होने की

आवश्यकता नहीं है। साहित्य में व्यंजना एक ऐसी वस्तु है जो विषय की पार्थिवता से ऊपर उठ जाती है। किसी लेखक की रचना विचारों में प्रगतिशील चाहे न हो, हम उसकी कला, व्यंजना आदि का आनन्द ले सकते हैं। और इस प्रकार उसकी पतित मनोवृत्ति का प्रभाव हम पर न पड़ेगा। डी० एच० लारेंस, जेम्स ज्वॉयस आदि लेखक प्रतिक्रियावादी हो सकते हैं परन्तु उनकी कला अनूठी है; उसका रस लेना ही चाहिये। इस प्रकार के मत का उत्तर यह है कि साहित्य में विषय और व्यंजना दोनों एक दूसरे के आसरे हैं; एक सफल साहित्यिक रचना में विषय और व्यंजना का सामंजस्य होता है, एक प्रतिक्रियात्मक और दूसरी प्रगतिशील नहीं हो सकता। व्यंजना साहित्य की श्रेणियों के अनुसार अनेक प्रकार की होती है। दरबारी कवियों की उक्ति-चातुरी, संत कवियों की सरलवाणी, रोमांटिक कवियों का दुरूह शब्द-विन्यास आदि कुछ मोटे उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि भाव के साथ शैली में भी परिवर्तन होता है। इसलिए विषय-वस्तु के निरूपण के साथ व्यंजना और कला के सम्बन्ध में भी यह याद रखना चाहिये कि वह चिरंतन नहीं है वरन लेखक की प्रतिभा अथवा युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्रतिक्रियावादी अथवा प्रगतिशील हो सकती है। परंतु सर्वत्र ही विषय-वस्तु तथा कला में सामंजस्य नहीं स्थापित हो पाता। चेष्टा सामंजस्य की ओर होनी चाहिए और यह तभी संभव है जब हम व्यंजना की शक्ति को भी समझें और उसकी साधना करें।

महान् लेखकों में विषय तथा व्यंजना का असामंजस्य बहुत कम होता है; इसलिए ऐसे किसी 'महान्' लेखक के विचार यदि प्रतिक्रियावादी हों, तो उसकी कला का रस लेने के पहले पाठक को अपने हृदय को एक बार फिर जाँच कर लेना चाहिये।

अस्तु; भाव-चयन तथा उनकी व्यंजना पर समाज-हित का प्रतिबन्ध

होना ही चाहिये। साहित्य में रस और रस में ब्रह्मानन्द सहोदर की कल्पना न करके यह समझना चाहिये कि जिस विषय का हम चिन्तन करेंगे, उसी में हमारी आसक्ति होगी। साहित्य धर्म और काम, दोनों में सहायक है; भरतमुनि के अनुसार—धर्मो धर्म प्रवृत्तानां, कामः कामोपसेविनाम्। इसलिए धर्म, काम अथवा जिन संस्कारों से भी समाज-हित हो, उन्हीं का साहित्य में चिन्तन होना चाहिये। जो इस सत्य को अस्वीकार करके समाज का अहित करनेवाले विचारों को अपने साहित्य में स्थान देता है, और कहता है कि इनमें अमर सौन्दर्य है, वह एक प्रवंचना को जन्म देता है और जाने या बिना जाने समाज का अहित करता है। आलोचक का कर्तव्य है कि ऐसे साहित्य और साहित्यिकों से समाजहित की चौकसी करता रहे।

जनवरी-फरवरी '४२

आई० ए० रिचार्ड्स के आलोचना-सिद्धान्त

आई० ए० रिचार्ड्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म' (साहित्यसमीक्षा के सिद्धान्त) का हिन्दी में जहाँ तहाँ उल्लेख हो चुका है। इंगलैण्ड के साहित्यिकों और भारतीय विश्वविद्यालयों के शिक्षकों में उसकी यथेष्ट चर्चा होती रही है। इस चर्चा का कारण यह है कि रिचार्ड्स ने मनोविज्ञान की छानबीन करते हुए पुराने सिद्धान्तों को कुछ ऐसा गम्भीर रूप दिया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के गिरते हुए मापदंड फिर सँभलते हुए दिखाई पड़ने लगे। उन मापदंडों से उस वर्ग का घनिष्ठ सम्बन्ध है जो पूँजीवादी संस्कृति का विधायक है और उस पर कोई भी आघात होने से चौंक उठता है।

रिचार्ड्स का मूल सिद्धान्त यह है कि साहित्य का ध्येय मनुष्य की वृत्तियों (impulses) को सर्वाधिक सन्तुष्ट करके उनमें सन्तुलन स्थापित करना है। इससे मनुष्य अच्छा मनुष्य बनता है। किन प्रवृत्तियों को साहित्य सन्तुष्ट करे, उनमें किस प्रकार का संतुलन हो, अच्छे मनुष्य का क्या अर्थ है, इत्यादि सैकड़ों प्रश्न इस सिद्धान्त के साथ जुड़े हुए हैं, जिनका रिचार्ड्स ने निराकरण करने का प्रयत्न किया है।

रिचार्ड्स के मनोविज्ञान और सिद्धान्त के विवेचन-मूल में पूँजीवादी विकास के आरम्भकाल का व्यक्तिवाद है। सातवें अध्याय में रिचार्ड्स ने बेंथम की धारणाओं का उल्लेख किया है। इस उपयोगितावादी विचारक के अनुसार मनुष्य के कार्यों का ध्येय उसका चरम सुख (happiness) होता है। रिचार्ड्स का 'सुख' शब्द

पुराना मालूम होता है ; वह उसकी जगह 'वृत्तियों का सन्तोष' (Satisfaction of impulses) कहना पसन्द करते हैं। वास्तव में सुख या आनन्द (Pleasure) कहकर कोई वस्तु है, यह वह मानते ही नहीं। उनका कहना है कि कोई भी अनुभव सुखदायक या दुखदायक हो सकता है, परन्तु अनुभव से अलग सुख या दुख की सत्ता नहीं होती। परन्तु यह भेद केवल शाब्दिक है, वास्तव में रिचार्ड्स और बेन्थम के सिद्धान्तों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

साहित्य का ध्येय सुख या वृत्तियों का सन्तोष मान लेने पर यह समस्या खड़ी होती है कि साहित्यकार अपने जिस अनुभव का वर्णन करता है, उसे समाज के लोग किस तरह ग्रहण करते हैं और उनकी वृत्तियों का सन्तोष वैसे ही होता है जैसे मूल लेखक का या उससे भिन्न होता है। रिचार्ड्स के लिए जितने पाठक होते हैं, उनके लिए एक ही कविता में उतनी ही तरह का अनुभव मिल जाता है। इसलिए कवि ने जो संतुलन प्राप्त किया था, वह अपने मूल रूप में किसी को सुलभ नहीं होता। फिर भी थोड़े बहुत संतुलन का लाभ तो लोगों को होता ही है और इसी से कवि के अनुभव का मूल्य आँका जाता है।

वृत्तियों को सन्तुष्ट करते समय हम कैसे जानें कौन कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसका उत्तर रिचार्ड्स ने यह कहकर दिया है कि किसी वृत्ति का महत्त्व इस बात से मालूम होता है कि उसके सन्तुष्ट होने से उस मनुष्य की दूसरी वृत्तियों में कहाँ तक क्षोभ (disturbance) उत्पन्न होता है (पृ० ५१)। अर्थात् सन्तोष का मसला तै न होने पाया कि यह क्षोभ की नयी समस्या उठ खड़ी हुई। रिचार्ड्स स्वयं इसे एक अस्पष्ट व्याख्या मानते हैं, परन्तु उसकी अपूर्णता एक दूसरी बात में भी है। इस व्याख्या के अनुसार वृत्तियों का महत्त्व

संख्या पर निर्भर हो गया; 'क' वृत्ति के सन्तुष्ट न होने से पाँच वृत्तियों में क्षोभ उत्पन्न हुआ तो वह 'ख' वृत्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण हुई, जिसके सन्तुष्ट न होने से चार ही वृत्तियों में क्षोभ उत्पन्न होता।

इसके बाद वह इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं कि वृत्तियों का कैसा संतुलन श्रेष्ठ होता है। वृत्तियों को सन्तुष्ट करने में कुछ को संतोष तो कुछ को क्षोभ होगा ही, इसलिए वह सन्तुलन (Organisation) श्रेष्ठ है जिसमें मानवीय सम्भावनाएँ (Human possibilities) कम से कम नष्ट हों। पुनः रिचार्ड्स ने प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक दूसरा प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। ये "मानवीय संभावनाएँ" क्या हैं?

आदर्श सन्तुलन तो गिने-चुने लोगों को सुलभ होता है, परन्तु समाज इनमें और विकृत संतुलन के लोगों में भेद नहीं करता। इसलिये आदर्श सन्तुलन को सामाजिक रूप देना प्रायः असंभव है। व्यक्ति और समाज अपने-अपने संतुलन के लिए झगड़ते हैं; इस संघर्ष में रिचार्ड्स के लिए जन-समूह विशिष्ट जनों के प्रति खड्गहस्त दिखाई पड़ता है।

वह मानते हैं कि समाज का यह कर्तव्य है कि वह विकृत संतुलन के लोगों से अपनी रक्षा करे। जिन लोगों की वृत्तियाँ भ्रष्ट हो गई हैं, उन्हें नज़रबन्द करने या कालापानी देने से उतनी हानि न होगी, जितनी उनके स्वच्छन्द रहने से। परन्तु रिचार्ड्स का ध्यान उन वर्गों की ओर नहीं जाता जो अपने शोषण-क्रम से सारे समाज का अहित करते हैं। व्यक्तियों में सामाजिक असन्तोष के कारण बताकर इस प्रकार की विवेचना वर्ग-स्वार्थों पर पर्दा डालती है। रिचार्ड्स के अनुसार यह संतुलन 'जान-बूझकर योजना बनाने' या व्यवस्था करने से नहीं सुलभ हो सकता। योजना और व्यवस्था से तो समाज घाती वर्गों का ध्वंस हो जायगा! तब यह वृत्तियों का सन्तुलन कैसे

संभव होता है ? "We pass as a rule from a chaos to a better organised state by ways which we know nothing about." अर्थात् एक अव्यवस्थित दशा से हम एक सुव्यवस्थित दशा में उन उपायों से पहुँच जाते हैं, जिनके बारे में हम कुछ नहीं जानते। इति शुभम्। इस रहस्यवाद के आगे सभी वाद-विवाद व्यर्थ हो जाता है। व्यवस्थित दशा तक पहुँचने के लिए यदि कोई निश्चित उपाय नहीं है तब यह समीक्षा का पुराण पढ़ने से लाभ ही क्या! माना कि साहित्य और कला द्वारा यह व्यवस्थित दशा संभव होती है, परन्तु यहाँ साहित्य फिर एक रहस्य बन जाता है। यदि "Conscious planning" से मुख्यतः दूर रहना है, तब जो मन में आये लिखते चलो, मनुष्य एक रहस्यात्मक ढंग से प्रभावित होकर संतुलन की दशा को प्राप्त होते जायँगे।

परन्तु इस निष्कर्ष से भी सन्तोष न होगा, क्योंकि देशकाल के अनुसार साहित्य-बोध बदलता रहता है। दान्ते ने बड़े यत्न से महाकाव्य लिखा, परन्तु आज उसकी विचारधारा हम से बहुत दूर पड़ गई है। महाकाव्य के कलात्मक (formal) सौन्दर्य से हम सन्तुष्ट नहीं होते; इसलिए विद्वान् भी आजकल दान्ते को कम पढ़ते हैं (पृ० २२२)। दान्ते जैसे लेखक ने जो संतुलन स्थापित किया था, वह आगे चलकर हमारे लिये दुर्लभ हो गया! इससे मालूम होता है कि इस अव्यवस्था का कहीं अन्त न होगा। वृत्तियों की यह शाश्वत अव्यवस्था पूँजीवादी अव्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, जिसे बेंथम का शिष्य रिचार्ड्स पूँजीवाद के प्रति अपने मोह के कारण छोड़ नहीं सकता।

पूँजीवादी अव्यवस्था को चरम सीमा तक ले जाने पर जिस प्रकार चारों ओर उच्छृङ्खलता फैल जायगी, उसी प्रकार वृत्तियों की अव्यवस्था को शाश्वत मान लेने पर कविता में अर्थ अनावश्यक हो जाता है। अर्थ द्वारा तो हम ज्ञात रूप से किसी को प्रभावित करने

की चेष्टा कर सकते हैं। साहित्य जिस रहस्यात्मक ढंग से प्रभावित करता है, उसके लिए ज्ञात अर्थ की आवश्यकता नहीं है। रिचार्ड्स का कहना है कि कविता में अर्थ का प्रायः अभाव हो सकता है, उसमें गोचर रूप के गठन का प्रायः अभाव हो सकता है, फिर भी वह कविता उस विन्दु तक पहुँच सकती है जिसके आगे किसी कविता की गति नहीं है (पृ० १३०)। इस प्रकार "Conscious planning" से भय खाकर, संगठित सामाजिक क्रिया द्वारा व्यवस्था में परिवर्तन करने से मुँह चुराकर, रिचार्ड्स का सिद्धान्त उन्हें अर्थ-हीनता के खंदक में ला पटकता है।

भविष्य की कविता और भी दुरूह हो जायगी, यह निष्कर्ष स्वाभाविक है। रिचार्ड्स का कहना है कि कुछ सीमाओं में मनुष्य की वृत्तियाँ समान होती हैं। ऐसा मध्य-युग में अधिक होता था; अब भेद अधिक बढ़ गया है और यह अच्छा ही हुआ। आज के सभ्य मनुष्य का अनुभव कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशेषताएँ लिये होता है जो साधारण जनों के लिए संभव नहीं होतीं। जिन लोगों के जीवन का सबसे अधिक मूल्य है (अर्थात् जिन्होंने उत्कृष्ट संतुलन प्राप्त कर लिया है), जिनके लिए कवि लिखता है, उनका मस्तिष्क पूर्व-युगों की अपेक्षा भिन्न और बहुल तत्त्वों से बना है (पृ० २१८-१९)। वही दशा कवि की भी है। अधिकांश पाठक उसकी कृत्तियों को समझेंगे नहीं, इस कारण उसे व्यंजना के आवश्यक उपकरणों से वंचित करना अनुचित है। पिछले विकास को देखते हुए रिचार्ड्स का विचार है कि कविता और भी दुरूह होगी क्योंकि उसका आधार वह विशिष्ट अनुभव होगा जो जन-साधारण को सुलभ नहीं है।

रिचार्ड्स ने अनुभव के मूल्य (Value) को आनन्द और शिक्षा के ऊपर रखा है। पश्चिमी साहित्य-समीक्षा में यह पुराना विवाद का विषय है कि साहित्य से मनुष्य को शिक्षा मिलती है या

आनन्द मिलता है। रिचार्ड्स इस समस्या को अवैज्ञानिक मान लेते हैं; साहित्य में वह मूल्यवान् अनुभव चाहते हैं जिससे वृत्तियों को सर्वाधिक सन्तोष हो। परन्तु वास्तव में मूल्य-सम्बन्धी यह सिद्धान्त बेन्थम के सुख-कामना सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। रिचार्ड्स के सामने कुछ आदर्श व्यक्ति हैं, जिनको वृत्तियों में श्रेष्ठ सन्तुलन है और साहित्य उन्हीं की वृत्तियों के संतोष का मूल साधन है। उसके साहित्य से दूसरे लोग भी प्रभावित होंगे; परन्तु उसी हद तक नहीं। उनकी गंभीर विवेचना का परिणाम यह निकलता है कि सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करने से, साहित्य का वर्गों से. सम्बन्ध नहीं है, वरन् वर्ग से परे व्यक्तियों की वृत्तियों को सन्तुष्ट करना उसका लक्ष्य है। बिहेवियरिस्ट और साइको अनेलिस्ट विचारकों के कुछ सिद्धान्त लेकर रिचार्ड्स ने मनोविज्ञान का एक ढाँचा खड़ा करने की कोशिश की है (११ वाँ अध्याय)। एक ओर वह किसी भी विचार को एक "स्नायविक घटना" मानते हैं तो दूसरी ओर फ्रायड के "अज्ञात" को सत्य मानकर वह रहस्य की बातें भी करते हैं। परम यांत्रिकता और रहस्यवाद का विचित्र संघटन उनके सिद्धान्तों में मिलता है।

रिचार्ड्स का मूल सिद्धान्त यह है कि कविता मनुष्य की सर्वाधिक वृत्तियों को संतुष्ट करती है। उनकी विवेचना की ख़ास कमज़ोरी यह है कि वह वृत्तियों के मूल सामाजिक कारणों की ओर ध्यान नहीं देते। वृत्ति उनके लिए कोई रहस्यात्मक इकाई बन जाती है, जिसके आदि-अन्त का पता लगाना असम्भव है।

कवि मनुष्य की वृत्तियों को संतुष्ट करता है, परन्तु सन्तोष के बाद क्या होता है, इस प्रश्न को रिचार्ड्स ने नहीं उठाया। ब्रह्मानन्द सहोदर की भाँति वृत्तियों के सन्तोष में साहित्य की कार्यवाही

समाप्त हो जाती है। परन्तु साहित्य का प्रभाव ऐसा हवाई नहीं होता। यह प्रभाव मनुष्य के कार्यों में लक्षित होता है। साहित्य मनुष्य में किन्हीं कार्यों के लिए न्यूनाधिक प्रेरणा उत्पन्न करता है। इसलिए साहित्य के विषय, विचार आदि को भुलाकर उनके बिना भी बहुत कुछ काम चल-सकता है, इस धारणा के बल पर हम साहित्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकते।

रिचार्ड्स के लिये साहित्य बोध (Communication) की समस्या समाधान से परे है। साहित्य दुरूह होता जायगा और जन-साधारण को उससे अधिकाधिक निराश होते जाना पड़ेगा। यह ठीक है कि कवि का अनुभव पाठक तक अपने मूलरूप में नहीं पहुँचता। परन्तु कवि के अनुभव की जिन बातों को साधारण व्यक्ति नहीं ग्रहण कर पाता, वे कुछ अपवाद होती हैं, अनुभव का साररूप नहीं। साधारण व्यवहार में जैसे हम एक दूसरे की बातें जानते बूझते हैं, यद्यपि कभी-कभी भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार कवि के अनुभव को जन-समूह ग्रहण करता है और कवि की दुरूह व्यक्तिगत बातों को छोड़ देता है। पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षित किंवा दुःशिक्षित कवि में और जन-साधारण में भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित अभिजातवर्ग में और भी संकुचित होता हुआ व्यंजना के लिये नये और अपने तक सीमित प्रतीक ढूँढ़ लाता है। वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यंजना उच्चकोटि की हैं। जन-साधारण के लिये जितना ही वह दुरूह होगा, उतना ही वह श्रेष्ठ होगा। दूसरी ओर जन-साधारण की अशिक्षा और कुसंस्कृति के कारण कवि के लिये व्यंजना का प्रश्न सचमुच उलझा हुआ रहता है। उसे सुलझाने का एक ही उपाय है कि कवि अपने संकुचित संसार से निकले और जनता को शिक्षित और सुसंस्कृत करने के प्रयत्नों में योग दे। कवि और जन-साधारण में एक रहस्यात्मक भेद है,

जिससे एक दूसरे के लिये पहेली बना रहेगा,—यह एक पूँजीवादी कुसंस्कार है।

कविता में हमें मूल्यवान् अनुभव चाहिये; उसका मूल हम इस तरह निर्धारित करेंगे कि वह व्यवस्थित सामाजिक जीवन-यापन में कहाँ तक सहायक होता है और कहाँ तक बाधक होता है। रिचार्ड्स के रहस्यवाद से उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

(१९४४)

साहित्य में जनता का चित्रण

साहित्य और जनता, इन दो शब्दों को एक साथ देखते ही कुछ कलाप्रेमियों के कान खड़े हो जाते हैं। वे समझते हैं कि जनता रूपी व्याघ्र कलारूपी शावक को खा जायेगा और तब साहित्य के क्षेत्र में इस व्याघ्र का गर्जन मात्र सुनाई पड़ेगा।

जनता और कला में कोई बैर नहीं है। बैर भाव उन लोगों के मन में उठता है जिनके लिये जनता एक कल्पना है, अर्थात् जिनके निकट विभिन्न सामाजिक स्तरों में बँटी हुई, जीवन की बहुविध क्रियाओं में संलग्न, विकास पर बढ़ती या पिछड़ती हुई एक हाड़-माँस की जनता का अस्तित्व नहीं है बल्कि जो उसे अशिक्षा, कुसंस्कृति, अराजकता, कलाहीनता आदि का पर्यायवाची समझते हैं। जो लोग साहित्य में जनता का चित्रण करना चाहते हैं और जो नहीं भी करना चाहते, दोनों ही तरह के लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे जनता के इस रूप को ध्यान में रक्खें। जनता कोई सस्ता नुसखा नहीं है जिससे कि राजनीति, अर्थशास्त्र या साहित्य की सभी समस्यायें पलक मारते हल कर दी जायें। इसके विपरीत जब हम साहित्य में जनता का चित्रण करने चलते हैं तो हमारे सामने तरह-तरह की नई समस्यायें उठ खड़ी होती हैं।

कुछ लोग साहित्य की धाराओं को बहिर्मुखी और अंतर्मुखी इन दो रूपों में बाँट देते हैं। वे या तो इनमें से किसी एक को प्रधानता देकर दूसरी को उसका विरोधी मानलेते हैं या उदारता पूर्वक दोनों को अपनी-अपनी दिशाओं में बहने की अनुमति दे देते हैं। उनके अनुसार साहित्य की बहिर्मुखी धारा में वन, पर्वत,

नदी, नाले, दृश्यमान गोचर प्रकृति और उसके साथ राष्ट्रीय आन्दोलन, किसान-ज़मींदारों का संघर्ष, मज़दूरों की हड़तालें, दंगे आदि-आदि का चित्रण किया जाता है। दूसरी अंतर्मुखी धारा में मनुष्य के अंतर्द्वन्द्व, आत्म-चिन्तन, मनोवैज्ञानिक ऊहापोह, अंतस्तल की निगूढ़तम भावनाओं का घात-प्रतिघात आदि-आदि होता है। दो दिशाओं में बहनेवाली ये दो धारायें इसीलिये दिखाई देती हैं कि जनता के विकास का मार्ग और कलाकार के अन्तस्तल की कोमल भावनाओं की दिशा अभी एक नहीं हो पाई। वास्तव में अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी, इस तरह के भेद भ्रम-पूर्ण हैं। साहित्य में लेखक का अन्तस्तल और दृश्यमान वाह्य-जगत् एक दूसरे में गुँथे हुए, संश्लिष्ट रूप में आते हैं। इनमें परस्पर विरोध हो,—इसका कोई प्राकृतिक या मनोवैज्ञानिक कारण नहीं है।

उदाहरण के लिये गीतात्मक कविता को लीजिये। संत-कवियों के पदों में उत्कट आत्म-निवेदन मिलता है लेकिन उसका संबन्ध दृश्यमान वाह्य-जगत् से भी पूरा-पूरा है। गोस्वामी तुलसीदास के पदों में उनके जीवन-सङ्घर्ष, समाज के पीड़ित वर्ग की ओर उनकी समवेदना आदि-आदि स्पष्ट झलकती हैं। इसी प्रकार हिन्दी के सबसे बड़े गायक सूरदास के पदों में भी कृष्ण की बाललीला, गोपियों का प्रेम, उद्धव का उपदेश और गोपियों का प्रत्युत्तर—यह सब व्यापार साधारण मानवीय जगत् के व्यवहारों से गुँथा हुआ है। सूरदास की आँखें खुली रही हों चाहे बचपन से मुँदी रही हों, वे उस संसार को बहुत अच्छी तरह जानते थे जिससे कि उस समय का साधारण मनुष्य परिचित था। इसी प्रकार छायावादी कवियों ने अपने आत्म-निवेदन के स्वर को विश्व-बंधुत्व की भावना, समाज में समता की स्थापना, राजनीतिक पराधीनता और आर्थिक उत्पीड़न का विरोध आदि-आदि से सबल किया है। दिनकर, सुमन आदि

कवियों में हम स्पष्ट देखते हैं कि कवि के भाव-जगत् में दिन प्रतिदिन वाह्य सामाजिक संसार की छायायें घनी होती जाती हैं। युद्ध काल में यूरुप के कवियों ने कुछ बहुत ही आत्मीयतापूर्ण और गीतात्मक काव्य की सृष्टि की है। इन 'लिरिक' कविताओं का विषय देशप्रेम और फ़ासिज्म का विरोध है; इनमें फ्रांस के कवि लुई आरागाँ ने विशेष ख्याति पाई है। उसकी रचनाओं में मार्मिक पीड़ा है और हृदय को छूने की अद्भुत शक्ति है। इसका कारण जर्मन आक्रमण से त्रस्त फ्रांसीसी जनता के प्रति उसकी उत्कट सहानुभूति है। आरागाँ ने अहम् का निषेध नहीं किया; वह नाटकीय ढङ्ग से जनता का चित्रण भी नहीं करता। वह अपने ही मन में डूब जाता है लेकिन यह मन एक ऐसे व्यक्ति का है जिसकी आँखें और कान खुले हुए हैं और जो अपने आस-पास की परिस्थितियों के प्रभाव को इस मन से दूर रखने की कोशिश नहीं करता। दो महायुद्धों के बीच में भारत के जिन महाकवियों ने राष्ट्रीय जागरण से प्रभावित होकर गीत गाये हैं, उनकी आत्मीयता अथवा गेयता कम होने के बदले और बढ़ गई है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर, महाकवि भारती और वल्लतोल इस नवीन गीतात्मकता के उदाहरण हैं।

यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि स्वयं जनसाधारण में यह गीतात्मकता बहुत बड़ी मात्रामें विद्यमान है। हमारे जनपदों की होली, फाग, कजरी आदि में गेयता और आत्मीयता दोनों हैं। कभी कभी इनका अभिनव सौंदर्य देख कर उच्चकोटि के कलाकार भी ऐसे चमत्कृत रह जाते हैं कि वे समझते हैं कि ख़ुद उनका अपना प्रयास व्यर्थ ही रहा। जनगीतों की लोकप्रियता का कारण भाषा का अनगढ़ सौंदर्य, अलंकारों की नवीनता और शैली में हृदय ग्राही सरलता ही नहीं है। लोकप्रियता का सबसे

बड़ा कारण यह है कि जन कवि हमारे कलाकारों की अपेक्षा बाह्य-जगत् से निकटतर सम्पर्क में आते हैं। इस बाह्यजगत् में स्वयं उनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। उनके सामाजिक जीवन की विभिन्न क्रियायें ही उनके गीतों में उस वेदना और आत्मीयता की सृष्टि करती हैं जो पाठक को इतनी आकर्षक जान पड़ती हैं।

इसलिये यह समझना कि जनता के जीवन को निकट से देखने से कवि का भावजगत् धुंधला हो जायेगा या उसके अन्तस्तल की कोमल वृत्तियों का सर्वनाश हो जायेगा, एक प्रवञ्चना छोड़ कर और कुछ नहीं है।

पिछले दो महायुद्धों के बीच में जो नया साहित्य रचा गया है, चाहे वह हिन्दुस्तान में हो, चाहे पश्चिम के देशों में, उसे देखने से यह धारणा पुष्ट होती है कि जनता का चित्रण करके अपनी कला को अधिक विकसित करना और उसके विभिन्न रूपों को अधिक आकर्षक बनाना संभव है। हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द ने सामाजिक जीवन को आधार मानकर अपने लोकप्रिय उपन्यासों की सृष्टि की थी। जनता एक कल्पना नहीं, बल्कि एक ऐसा जीवित समुदाय है जिसमें यथेष्ट वैचित्र्य और विभिन्नता है, यह प्रेमचन्द के उपन्यासों में साफ़ झलकता है। उन्होंने 'कायाकल्प' के सामंत-वर्ग से लेकर 'रङ्गभूमि' के किसानों और 'कफ़न' के चमारों तक समाज़ के भिन्न-भिन्न स्तरों और भिन्न प्रकृति के लोगों का चित्रण किया है। समाज का जीवन एक बहुत बड़े कारखाने की तरह है जिसमें तरह-तरह की मशीनें हैं और लाखों छोटे-बड़े कलपुर्जे हैं। एक तरफ़ तो हम यह जानना चाहते हैं कि इस कारखाने में कौन-सा माल तैयार हो रहा है और उससे किस आवश्यकता की पूर्त्ति होगी; दूसरी तरफ़ उसकी अलग-अलग मशीनों और लाखों कलपुर्जों

की हरकत को भी हम देखना और समझना चाहते हैं। इसी तरह उपन्यासकार समाज की गति को पहचानता है; अपने पाठकों को बताता है कि समाज सही दिशा में आगे बढ़ रहा है या नहीं। लेकिन इसके साथ-साथ सामाजिक क्रम में जो हजारों लाखों मनुष्य लगे हुए हैं, उनके मानस को, संस्कारों को, परिस्थितियों के बीच उनकी प्रत्येक गति और स्पंदन को वह देखता और परखता है। तभी उसके साहित्य में मांसलता आती है और वह सजीव रूप से पाठक को आकृष्ट करता है। जो साहित्यकार इन विभिन्न रूपों में ही उलझ कर रह जाता है और उनके फ़ोटो-चित्र देकर ही संतुष्ट रह जाता है, वह कला के उत्कर्ष तक नहीं पहुँचता। दूसरी तरफ़ जो सामाजिक सङ्घर्ष की मोटी-मोटी बातों को ही सूत्र रूप में लिख देता है, वह अपनी कला को सजीव नहीं बना पाता। प्रेमचन्द में एक ओर प्रगतिशील देशभक्त का दृष्टिकोण है जो विदेशी साम्राज्य-वाद से अपने देश को मुक्त करके नये समाज का निर्माण चाहता है; दूसरी ओर समाज के विभिन्न वर्गों और हज़ारों व्यक्तियों के मानस और उनकी परिस्थितियों का ज्ञान भी उन्हें है। अपनी राष्ट्र-वादी धारणा की सहायता से वे जो कुछ देखते हैं, उसमें परस्पर सम्बद्धता और कलात्मक सामञ्जस्य पैदा कर सकते हैं। उनकी कला उस फ़ोटोग्राफ़र के लैन्स की तरह नहीं है जिसमें वाह्य जगत् के चित्र इधर-उधर बिखरे हुए एक असम्बद्ध रूप में सामने आते हैं। उनकी कला वाह्य जगत् के चित्र खींचती है किंतु उनमें परस्पर सम्बन्ध भी स्थापित करती चलती है और इसका कारण उनका वह दृष्टिकोण है जिसमें सामाजिक संघर्ष की मूल दिशा को वे पहचानते हैं। इसके प्रतिकूल बिना सम्बद्धता का विचार किये हुए जो साहित्यकार यथार्थवाद के नाम पर सामाजिक क्रियाओं या व्यक्तियों का असम्बद्ध चित्रण करेगा, उसका चित्रण ऊपर से देखने में

सच्चा लगते हुए भी अवास्तविक होगा। उससे कला में अराजकता उत्पन्न होगी। पच्छिम के कुछ कलाकारों ने इस तरह के प्रयोग किये हैं और कुछ लोग समझते हैं कि उनकी अराजकता का कारण कला के वाह्य रूपों में उनकी आसक्ति है; टेकनीक पर ज़रूरत से ज्यादा ज़ोर देकर उन्होंने ऐसे प्रयोग कर डाले हैं जिनमें विषय गौण बन गया है और कला का वाह्य रूप भी दुरूह हो गया है। वास्तव में सामाजिक जीवन के प्रति इन कलाकारों का दृष्टिकोण ही भ्रष्ट हो गया है। वे सामाजिक विकास की सम्बद्धता को भूल गये हैं और उसे ग्रहण करने में इसलिये असमर्थ हैं कि विकासक्रम में उभरने वाली शक्तियाँ उनके निहित स्वार्थों की विरोधी हैं। उनकी कला में अराजकता इसलिये नहीं पैदा हुई कि वे कला के वाह्य रूप पर ज्यादा ज़ोर देते हैं वरन् इसलिये कि उनमें एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है जिससे कला का वाह्य रूप भी विकृत हो जाता है।

इसके विपरीत जिन लोगों ने इस व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया है, राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल को हृदयङ्गम किया है, सामाजिक संघर्ष में उभरने वाली शक्तियों को अपना विरोधी नहीं समझा है, उनकी कला में एक नया प्रसार और निखार आया है। यह प्रसार विशेष रूप से कथा साहित्य में दिखाई देता है। इस युग में सामाजिक जीवन की विचित्रता और बहुविध सजीवता सबसे अधिक उपन्यासों में प्रकट हुई है। जर्मनी में टॉमस मन, फ्रांस में अरागों, अँगरेज़ी में प्रीस्टले, रूस में शोलोख़ोव कला के इस विस्तार के श्रेष्ठ निदर्शक हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में महाकाव्यों (एपिक) के गुणों को जन्म दिया है। बड़े-बड़े उपन्यास लिखने में यह खतरा रहता है कि जीवन की विविधता दिखाते हुए उसकी सम्बद्धता का लोप न हो जाय। लेकिन इन

कलाकारों ने बिखरे हुए वर्गों, व्यक्तियों उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, भावों, विचारों और कल्पनाओं को एक ही सूत्र में बाँधकर एक ऐसी समर्थ कला को जन्म दिया है जो समुद्र के समान असंख्य नदियों का जल समेटते हुए भी अपनी सीमाओं को यत्न पूर्वक बनाये रखती है। कला के इस प्रसार में व्यंग्य और हास्य, रौद्रता और आर्द्रता, वाह्य जगत् के यथार्थ चित्र और मनुष्य के अंतस्तल की कोमल भावनायें—सभी के लिये स्थान रहता है। कुल मिलाकर जिस कलात्मक वस्तु का निर्माण होता है, वह जड़ न होकर सचेत और सम्बद्ध इकाई के रूप में हमारे सामने आती है।

सामाजिक विकास के नियमों को समझने से लेखक को क्या लाभ होगा? उसे समाज शास्त्र पर न भाषण देना है, न लेख लिखना है; फिर समाज शास्त्र की पोथी पढ़कर वह समय का अपव्यय क्यों करे? सामाजिक विकास के नियमों को जानने से लेखक को वह पतवार मिल जाती है जिसके सहारे वह जनता के विशाल सागर में अपनी नाव खे सकता है। समाज शास्त्र की पोथी पढ़ने में थोड़ा समय लगाने से वह सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों और वर्गों को उनके उचित सन्दर्भ में देखने की योग्यता पा सकता है। लेखक चाहे किसी छोटी घटना का ही चित्रण करे, वह सफल कलात्मक चित्रण तभी कर सकता है, जब वह उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि को समझे और उस घटना के तत्कालीन तथा भावी प्रभाव और महत्त्व को आँक सके। समाज गतिशील है और जिन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और घटनाओं के सामूहिक रूप में वह गतिशील है, उसे जड़ दृष्टि से देखा और समझा नहीं जा सकता। इसलिये छोटी से छोटी सामाजिक घटना भी एक असम्बद्ध आकस्मिक या सीमित घटना नहीं है। उसका प्रभाव समाज के

शेष जीवन पर भी पड़ता है। इसी प्रकार जिन घटनाओं को हम केवल आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक कह कर उनकी ओर संकेत करते हैं, वे अपने संश्लिष्ट रूप के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती है। बंगाल का अकाल मूलतः एक आर्थिक घटना थी। अन्न की कमी हुई और लोग भूखों मरने लगे। सभी लोग जानते हैं, इस आर्थिक घटना ने सामाजिक जीवन को भी बुरी तरह हिला दिया था। १६४७ का नर-संहार कभी धार्मिक और कभी राजनीतिक रूप ले लेता है लेकिन उसकी जड़ें हमारे नैतिक और पारिवारिक जीवन में भी दूर तक चली गई हैं। ये वाह्य घटनायें हमारी सामाजिक चेतना पर बहुत गहरा असर डाल रही हैं। इन सब बातों को संगत और सम्बद्ध रूप से देखने-परखने में सामाजिक विकास का ज्ञान हमारी सहायता करता है। यह दृष्टि मिलने पर हम गतिशील समाज की विभिन्न घटनाओं को जड़ रूप में देख कर संतुष्ट नहीं रह सकते वरन् उनके गतिशील रूप को भी, शेष सामाजिक जीवन पर उनकी प्रतिक्रिया को भी भली भाँति पहचान सकते हैं।

ऐसे युग बीत गये हैं जब सामाजिक विकास की बागडोर सामंती और पूँजीवादी वर्गों के हाथ में थी। मध्यकालीन यूरुप और भारत में सामंती वर्ग ने चित्रकला, स्थापत्य, शिल्प और साहित्य की रचना में यथेष्ट योग दिया। फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद यह नेतृत्व पूँजीवादी वर्ग के हाथ में आ गया। उन्नीसवीं सदी में विज्ञान का व्यापक प्रसार और साम्राज्य विस्तार इस वर्ग की देख-रेख में हुआ। उन्नीसवीं सदी के उत्तर काल और पहले महायुद्ध के बाद भारत में उच्च और मध्यवर्ग संस्कृति का नेतृत्व करने के लिये आये। जैसे-जैसे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रगति की, वैसे-वैसे इस बात की होड़ होने लगी कि उस पर पूँजीवादी विचार धारा की छाप

रहे या जनसाधारण की प्रगतिशील विचार धारा उस पर हावी हो जाय। यह होड़ अभी समाप्त नहीं हुई और १५ अगस्त १९४७ के राजनीतिक परिवर्तन के बाद यह होड़ एक संघर्ष का रूप लेने लगी है। पूँजीवादी ही नहीं, उससे भी पिछड़ी हुई सामंतशाही की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ साम्प्रदायिक विद्वेष की स्वाधीनता-विरोधी धारा में इस आन्दोलन को डुबा देना चाहती हैं। उनका प्रयत्न है कि इस नरसंहार द्वारा समाज की प्रगतिशील शक्तियों को इतना दुर्बल और क्षीण बना दिया जाये कि वे देश का सांस्कृतिक और राजनीतिक नेतृत्व करने में बिलकुल असमर्थ हो जायें। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रगति के पथ से मोड़कर वे उसे उल्टी दिशा में बहा ले जायें और तब बाहर की साम्राज्यवादी ताक़तों के साथ मिलकर हिन्दुस्तान में अपनी प्रतिक्रियावादी सत्ता स्थिर कर सकें। वर्तमान भारत की इस सामाजिक पृष्ठ-भूमि में आज की प्रत्येक घटना को परखना चाहिये।

यह सोचना बिल्कुल ग़लत होगा कि ये साम्प्रदायिक शक्तियाँ बे रोक-टोक बढ़ती चली जा रही हैं और वे बहुत जल्दी हमारे जीवन को आक्रान्त कर लेंगी। वास्तव में पग-पग पर इन शक्तियों की बड़ी-बड़ी बाधाओं का सामना करना पड़ता है। प्रतिक्रियावाद मनुष्य की जघन्य, पाशविक प्रवृत्तियों को बार-बार उकसाकर भी मनचाही सफलता नहीं पाता और बाधाओं से तुरंत न जीत कर और भी पागल होकर अपने बर्बर प्रचार में जुट जाता है। इसका पागलपन, अंध प्रचार, गगनभेदी चीत्कार उसकी विजय का परिचायक नहीं है। साम, दाम के असफल होने पर ही मनुष्य दण्ड-नीति का सहारा लेता है। प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने भी जिस तरह मिथ्या प्रचार और उपद्रवों का सहारा लिया है, उससे उनकी उत्कट निराशा का विज्ञापन होता है। ये शक्तियां जानती हैं कि भारत का भविष्य

यहाँ के किसानों और मज़दूरों की स्वाधीनता का भविष्य है। कोई भी सामंतवाद या पूँजीवाद, बाहर के किसी भी साम्राज्यवाद की शक्ति की सहायता से अधिक दिन तक यहाँ की असंख्य श्रमिक जनता को दबाकर नहीं रख सकता। वह दिन शीघ्र आयेगा जब इस असंख्य जनता के संगठित प्रयत्न से ये नरसंहारी अराजक शक्तियाँ परास्त होंगी और भारत की जनता अपने नये स्वतंत्र जीवन का निर्माण करेगी। उस उज्ज्वल भविष्य के साथ हमारी संस्कृति और साहित्य का महान् भविष्य भी जुड़ा हुआ है। इसलिये साहित्य में जनता का चित्रण करते हुए इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों के खोखलेपन और प्रगतिशील शक्तियों द्वारा उनके विरोध को हमें आँखों से ओझल न करना चाहिये। आज की उथल-पुथल में अपनी जनता और साहित्य के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखते हुए हमें मानवता के उन सिद्धान्तों की पुनः घोषणा करनी चाहिये जो हमारे नवयुग के जागरण का सम्बल रहे हैं। इस भूमि से आगे बढ़ते हुए अपने देश की जनता का चित्रण करके हम अपने साहित्य को भी उसी के समान अमर और विकासोन्मुख बना सकेंगे।

(सितम्बर '४७)

भाषा सम्बन्धी अध्यात्मवाद

कहने में कितना अच्छा लगता है—साहित्य समाज का दर्पण है और कितने आलोचकों ने नहीं कहा, साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है परन्तु कितने आलोचकों ने अपने कहने की सचाई का अनुभव किया है और अनुभव करके उसके अनुसार आचरण किया है? समाज में मनुष्यों के पारस्परिक संबन्ध बदले हैं, उनके भावों और विचारों में परिवर्तन हुए हैं, परिस्थितियाँ बदली हैं, और उनके साथ "मनुष्यत्व" की परिभाषाएँ भी बदली हैं। साहित्य के भाव, विचार, उनको व्यक्त करने के ढंग गतिशील युग-प्रवाहमें बदलते रहे हैं। उनके इस बदलने के क्रम को, इस बहाव को, स्थायी कहा जा सकता है। परन्तु साहित्य और समाज के संबन्ध की यह व्याख्या स्वीकार करनेवाले लोग कम हैं।

सामाजिक परिस्थितियों का जैसा प्रभाव भावों और विचारों पर पड़ता है, वैसा ही उनको व्यक्त करनेवाले शैली, व्यंजना के ढङ्ग शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि पर भी पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा था—

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

शब्द और अर्थ के परस्पर अटूट संबन्ध को भूलकर ही लोग बहुधा भाव-पक्ष, कलापक्ष आदि अलग-अलग पक्षों की आलोचना करने बैठ जाते हैं। आलोचकों की यह एक "चिरन्तन" प्रवृत्ति है कि वे साहित्य में "चिरन्तन" सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं और अपने सिद्धान्तों के अमर सत्य में साहित्य की अमरता को बाँधने का प्रयास करते हैं। जिस प्रकार वे एक दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन

करते हैं, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिद्धान्तों की अमरता अत्यन्त मरणशील है। फिर भी मनुष्य की सहज अमर होने की साध से जैसे प्रेरित होकर वे अमर सिद्धान्तों की खोज में लगे ही रहते हैं। भावों और विचारों में ऐसे सिद्धान्त निश्चित करने के साथ-साथ वे भाषा संबन्धी सिद्धान्तों की भी सृष्टि करते हैं और अपनी सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं मानते। भाषा-सम्बन्धी यह अध्यात्मवाद युग के साहित्यिक और सामाजिक परिवर्तन-क्रम के साथ बदलता रहता है।

भाषा-सम्बन्धी अध्यात्मवाद के अनेक रूप हैं। कोई कहता है कि कविता की वही भाषा होनी चाहिये जो जनता की भाषा हो। दूसरे कहते हैं, कविता की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा से सदा भिन्न रही है और रहेगी। भारतीय आचार्यों ने भावों और विचारों के विभाजन के लिये नौ रसों की व्याख्या की और उनकी सिद्धि के लिये शब्दों की परुषा, कोमला आदि वृत्तियाँ निश्चित कीं। यह विभाजन भावों और विचारों की भिन्नता के साथ शब्द-चयन में भी आवश्यक परिवर्तन के सिद्धान्त को मानता है। रीतिकालीन कवियों ने शृङ्गार रस को छोड़कर अन्य रसों की सिद्धि के लिये केवल शब्द-चयन के एक विशेष क्रम को अपनाया और समझ लिया कि इसी से उन्हें सफलता मिल जायगी। मतिराम, पद्माकर आदि ने भी वीररस के छन्द लिखे, परन्तु उनके वाग्जाल में वह रस न आ सका जो भूषण के छन्दों में है। भूषण की सापेक्ष सफलता का रहस्य उनकी जातीय भावना है जिसने परुषावृत्ति की विशेष चिंता न करके अपने लिए शब्द-चयन की अनूठी शैली ढूँढ़ निकाली।

भाषा में अत्यधिक मिठास की खोज सामाजिक ह्रास का चिन्ह है। वैसे ही वाक्पटुता, ज़बान का चटखारा, अत्यधिक परिष्कार और बनाव-सिंगार आदि ऐसे गुण (?) हैं जो पतनकालीन साहित्य

में मिलते हैं। विद्रोही कवि जो नये भाव विचार लेकर आया है, उनके लिए शैली भी ढूँढ़ निकालता है। रूढ़िवादी अपने बुढ़िया पुराण पर आक्रमण होते देखकर उसे भाषा और संस्कृति का शत्रु घोषित करते हैं। हिन्दी के पुराने कवियों में भाषा को देव-बिहारी से अधिक किसने सँवारा है, परन्तु साहित्यिक और सामाजिक प्रगति में उनका कौन सा स्थान है? अंग्रेज़ी साहित्य में पोप से अधिक भाषा को सभ्य और परिष्कृत किसने बनाया है? परन्तु पोप और उसके साथियों ने ही रोमांटिक कवियों के विद्रोह को अनिवार्य कर दिया और उस रोमांटिक विद्रोह के महत्व को कौन अस्वीकार कर सकता है?

तुलसीदास ने चाहे स्वांतः सुखाय लिखा हो चाहे बहुजनहिताय, इसमें संदेह नहीं कि उन्हें अपने आलोचकों से काफ़ी शंका थी और इस शंका को प्रकट करने के लिये उन्होंने मानस में काफ़ी छन्द लिखे हैं:—

"हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन-भूषन-धारी॥
निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥
जे परभनित सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं।"

ज़बान का चटखारा ढूँढ़नेवाले कहेंगे, चौपाई छंद में अपने "पर-दूषन-भूषन-धारी" इतना बड़ा समास रख दिया है। आप "भाषा" लिख रहे हैं लेकिन शायद विद्वत्ता दिखाने के लिए लम्बे लम्बे समस्त पद भी रखते जाते हैं। दूसरी पंक्ति अच्छी है, लेकिन तीसरी में "परभनित" क्या बला है। भला कभी कोई परभनित भी कहता है? वैसाही "बर पुरुष" का प्रयोग है। अगर कोई कहे, हे बर कविजी! आपने रामचरितमानस नामक बर काव्य लिखकर एक बर कार्य किया है तो आपको कैसा लगेगा! ऐसे ही आप का

"भाषा-भनित" है। "भ" के अनुप्रास पर आप लट्टू हो गये लेकिन यह न देखा कि भाषा-भनित कोई कहता भी है या नहीं। आपने ठीक लिखा है, "हँसिबे जोग हँसे नहीं खोरी।" आपके इस महाकाव्य में मुश्किल से डेढ़ सौ पंक्तियाँ ऐसी निकलेंगी जो बोलचाल की भाषा में साधारण वाक्य-रचना के नियमों के अनुसार लिखी गई हों। देखिए बोलचाल की भाषा में सफल वाक्य-रचना यों होती है—

"कच समेटि भुज कर उलटि, खरी शीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरौ बाँधनिहारि॥"

क्या दोहा लिखा है जैसे कमान से तीर निकल गया हो। जूड़ा बाँधने और मन बाँधने के "चमत्कृत" प्रयोग पर ज़रा ग़ौर फ़रमाइए!

ऐसे आलोचकों को हम गोस्वामीजी के शब्दों में "कुटिल कुविचारी" ही कहेंगे।

तुलसीदास और बिहारी दोनों ही अपनी अपनी भाषा-शैलियों के सफल कवि हैं। उन शैलियों में उनसे अधिक किसी दूसरे को सफलता मिली ही नहीं। बिहारी के दोहों की भाषा मानस की भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। दोनों को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जायगा कि तुलसीदास ने अधिकतर अपनी भाषा गढ़ी है और उनकी पद-रचना गद्य की भाषा के बहुत कुछ प्रतिकूल है, फिर भी भारतीय जनता को जितना उनके "अटपटे बैन" प्रिय हैं, उतना "जूरौ बाँधनिहारि" पर फ़िदा हो जानेवाले कवि के नहीं। इन दोनों कवियों के भाषा-सम्बन्धी भेद का कारण उनकी संस्कृति और विचारधारा का भेद है। वही भेद जिसे हम Romanticism और Neo-classicism के शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं।

बिहारी ने अपनी सतसई इसलिये लिखी थी—

"हुकुम पाय जै साह को, हरि-राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ॥"

जै साह का हुकुम पहले है, हरि-राधिका का प्रसाद पीछे। सतसई की रचना एक दरबारी कवि ने अपने अन्नदाता को रिझाने के लिये की है। उसने इस बात की पूरी चेष्टा की है कि उसकी रचना सरल हो, उसमें चमत्कार हो और अन्नदाता के हृदय में थोड़ी गुदगुदी हो जिससे दोहा कहते ही उसकी थैली से स्वर्णमुद्रायें निकल पड़े।

तुलसीदास किसी जै साह या अकबर शाह का मुँह देखने न गये थे। उन्होंने अकबर के साम्राज्य में जनता की निर्धनता को देखा था। वह स्वयं ऐसी श्रेणी के व्यक्तियों में थे जिनके लिए चार दाना अन्न ही चारों फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—के बराबर होता है।

वह जानते थे कि "साथरी को सोइबो ओढ़िबो झूने खेस को" क्या होता है। अन्न के लिए लोगों को आत्मसम्मान बेचते उन्होंने देखा था। इसीलिए लांछना के स्वर में उन्होंने कहा था—

"जनि डोलति लोलुप कूकर ज्यों,
तुलसी भजु कोशलराजहिं रे।"

जनता के और अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए, उन्होंने कोशलराज की शरण ली। अकबर को जैसे चुनौती देकर उन्होंने अपने आदर्श सम्राट् के लिए लिखा—

"भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोसला ॥"

फिर मानों इससे भी संतुष्ट न होकर उन्होंने कहा—

"भुवन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु बहुत न तासू ॥"

तुलसीदास ने दुनिया की ठोकरें खाई थी। भक्ति की शिला पर वे इन सब आघातों को व्यर्थ कर देना चाहते थे। अवश्य ही राम का नाम लेने से समाज के आर्थिक कष्ट कम न हो सकते थे। कवि चाहे जितना कहे कि नाम के भरोसे उसे परिणाम की चिंता नहीं है, परन्तु परिणाम तो सामने आयेगा ही। दरिद्रता से क्षुब्ध होकर तुलसीदास ने राम-राज्य की सृष्टि की; उसके मनोहर गीत गाये। परंतु उनकी रामभक्ति किसी रोमांटिक कवि के पलायन की भाँति निर्जीव क्यों नहीं है? उनकी कविता की सजीवता का और उनके रामचरितमानस के सामाजिक महत्त्व का यही कारण है कि वह एक विद्रोही कवि थे। अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए उन्होंने निर्धन बने रहना स्वीकार किया। उनकी वाणी ने साधारण जनता में आत्म-सम्मान की भावना पैदा की। क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य में भी यह भाव पैदा कर दिया कि वह अपनी भक्ति से समाज के बड़े से बड़े लोगों की बराबरी कर सकता है।

अन्य विद्रोही कवियों की भाँति तुलसीदास की भाषा भी सब कहीं एक सी नहीं है। कहीं वह संस्कृत-बहुल है, कहीं साधारण बोल-चाल की सी है, कहीं फीकी भी है। बिहारी मतिराम या देव की सी वाक्पटुता का उसमें प्रायः अभाव है। विनयपत्रिका के अनेक उत्कृष्ट पदों में ऐसा लगता है जैसे हृदय के आवेग से शब्द-प्रवाह अपनी सीमाएँ तोड़ रहा हो।

"ज्यों-ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु, त्यों-त्यों दूरि-दूरि परयो हौं।
तुम चहुँ जुग रस एक राम हो हूँ रावरो, जदपि अघ अवगुननि भरयो हौं॥
बीच पाइ नीच बीच छरनि छरयो हौं।
हौं सुबरन कियो नृपते भिखारी करि, सुमति तें कुमति करयो हौं॥"

इस तरह की पंक्तियों में बिहारी के दोहों जैसी स्वच्छता नहीं है। उनमें एक अनियंत्रित सा स्वर-प्रवाह है जो असाधारण अनुभूति

का परिचायक है और मनुष्य की उन भावनाओं के अधिक निकट है जो छिछली और बनावटी नहीं हैं।

प्रत्येक समर्थ कवि की भाँति तुलसीदास भाषासंबन्धी अध्यात्मवाद को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। व्यंग्य और हास्य की पंक्तियों मे उनकी भाषा साधारण बोलचाल की सी हो जाती है—

"टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने। बैठिअ होइहिं पाँय पिराने।"

दोहा और चौपाई जैसे छंदों में लंबे समस्त पद देते हुए उन्हें हिचक नहीं होती।

"रामचन्द्र मुखचन्द चकोरा", "सरद-सर्बरी नाथ मुख" "सरद-परब-बिधु-बदन बर", "तरुन-तमाल-बरन" आदि

समस्त पद प्रति पृष्ठ में बिखरे हुए मिलेंगे। शब्द-चयन में उन्होंने इस बात की चिंता नहीं की कि गद्य में या बोल-चाल में इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग होता है या नहीं। यदि देश में उन पर देवता के ही समान लोगों का श्रद्धाभाव न होता तो अवश्य कोई ड्राइडेन जैसा कवि यह चेष्टा करता कि उनकी भाषा को फिर गढ़कर उस आदर्श तक लाये जो बिहारी के दोहों में चमका है।

शेक्सपियर इंग्लैंड का एक प्रकार से राष्ट्रीय कवि है। अपने साहित्य पर अभिमान प्रकट करने के लिए अंग्रेज़ शेक्सपियर का नाम लेना काफ़ी समझते हैं। इसलिये अंग्रेज़ आलोचकों द्वारा शेक्सपियर की छीछालेदर कम हुई है। फ्रांस और जर्मनी के रीतिकालीन आलोचकों ने उसकी भाषा और भावों की खूब खबर ली थी। फिर भी १८ वीं शताब्दी के अंग्रेज़ आलोचकों ने भाषा और भाव की नफ़ासत खोजते हुए उसकी रचनाओं में कम नुक्ताचीनी नहीं की। जॉनसन उस समय के सबसे बड़े आलोचक थे। शेक्सपियर के वह प्रशंसक

थे। लेकिन शेक्सपियर के शब्द-प्रयोग पर उन्हें हँसी आ जाती थी। मैकबेथ की सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

"Come, thick night!
And pall thee in the dunnest smoke of hell,
That my keen knife
See not the wound it makes,
Nor heaven peep through the blanket of the dark,
To cry, Hold, hold!"

जॉनसन ने स्वीकार किया है कि इन पंक्तियों में महान् कविता है परन्तु शब्द-चयन उन्हें पसंद नहीं आया। रात्रि का चित्र उन्हें पसंद आया है, परन्तु "dun" विशेषण ऐसा है जो अस्तबलों में अधिक सुना जाता है। इसलिए उसका प्रभाव कम हो गया है। ऐसे ही knife शब्द पर उन्हें आपत्ति है। यह शब्द सरल तो है परन्तु फूहड़ है। क्योंकि कसाई और रसोइये इस अस्त्र का प्रयोग करते हैं! Heaven के दंड से मैकबेथ बचना चाहता है, लेकिन "who, without some relaxation of his gravity, can hear of the avengers of guilt peeping through a blanket?" दंड देनेवाले को कंबल में से झाँकते देखकर किसे हँसी न आ जायगी? यदि भाषा-संबन्धी परिष्कार की भावना शेक्सपियर के समय में वैसी ही होती, जैसी जॉनसन के समय में थी, तो शेक्सपियर के महान् नाटक कभी न लिखे जाते। शेक्सपियर से पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी जॉनसन के लिए उसके महान् दुःखान्त नाटकों को पूरी तरह हृदयंगम करना कठिन था। शेक्सपियर के हास्यरस-पूर्ण और सुखान्त नाटकों से

उन्हें अधिक प्रेम था। इसका कारण यही था कि उन पर एक ऐसी संस्कृति छा गयी थी जिसमें भाषा के ऊपरी बनाव-सिंगार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था, परन्तु गंभीर भावों और विचारों तक जिसकी पहुँच न थी। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों में जॉनसन को प्रयास के चिह्न दिखते थे; मानों शेक्सपियर जो कहना चाहता है, उसे नहीं कह पा रहा। सुखान्त नाटकों में बात यह न थी। "In his tragic scenes there is always something wanting, but his comedy often surpasses expectation or desire." उन्नीसवीं शताब्दी के आलोचकों ने इस धारणा को बदल दिया।

समाजवादी और प्रगतिशील कवियों के लिए न तो रोमांटिक कवि आदर्श हैं न रीतिकालीन। परन्तु दोनों की तुलना में अधिक महत्त्व रोमांटिक कवियों को ही दिया जायगा। रीतिकालीन कवियों की संस्कृति ही ऐसी होती है कि प्रत्येक देश और समाज का भला चाहनेवाला उसका शत्रु हो जायगा। उनकी भाषा पर दरबारी संस्कृति की गहरी छाप रहती है, इस बात से कौन इन्कार करेगा? प्रगतिशील कवि के लिये भाषा को सरल और सुबोध बनाना आवश्यक है। परन्तु रीतिकालीन और डिकेडेंट कवियों की भाषा-माधुरी से उसे बचाना होगा। इंगलैंड में ऑस्कर वाइल्ड, ओ शौनेसी, पेटर आदि इसी तरह के डिकेडेंट साहित्यिक थे। पुराने कवियों से भाव चुराकर उन्होंने भाषा और शैली में एक बनावटी मिठास पैदा कर दी थी। उनका आदर्श स्वस्थ साहित्य के लिये घातक है। ऐसे ही रीतिकालीन दरबारी कवियों का आदर्श यह रहा है कि जो कुछ वे कहें उसमें चमत्कार अवश्य हो, जिससे सुनने वाले वाह-वाह कर उठें! जो बात कही जाय वह चाहे महत्त्व-पूर्ण न हो, कहने का ढंग अनोखा होना चाहिए। इस रीतिकालीन

आदर्श को साहित्य के लिए चिरंतन मान लेना साहित्य के विकास में काँटे बिछाना है।

आधुनिक हिन्दी के रोमांटिक कवियों ने रीतिकालीन परंपरा के विरुद्ध क्रांति की है। उनकी भाषा में उतना ही अटपटापन है जितना संसार की अन्य किसी भाषा के रोमांटिक कवियों में। उन्होंने भाषा को एक नया जीवन दिया है। विचारों में एक क्रान्ति की है। हिन्दू, ईसाई, मुसलमान धर्मों और मतमतान्तरों की सीमा-रेखाएँ ध्वस्त करके उन्होंने एक मानव-सुलभ संस्कृति की नींव डाली है। प्रत्येक रोमांटिक आन्दोलन की भाँति संघर्ष से दूर भागने की प्रवृत्ति भी उनमें है। परन्तु इन रोमांटिक कवियों में से ही कुछ ने पूर्व-विद्रोह को आगे बढ़ाते हुए उस प्रवृत्ति का गला घोंट दिया है। इन्हें भाषा सिखाने के लिए उस्ताद ज़ौक़ या उस्ताद दाग़ या उनके नक्कालों की ज़रूरत नहीं है। एक नवयुवक कवि ने अपने साथियों को चुनौती दी है—

"ओ धनी क़लम के, आँख खोल,
अब वर्तमान बन! सत्य बोल!
इस दुनिया की भाषा में कुछ
घर की कहं समझें घर वाले।
उनके जीवन, की गाँठ खोल।"

उसके साथी नवयुवकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया है। नये साहित्य में ये लोग जो काम कर रहे हैं, उसे कोई भी आँखवाला देख सकता है।

(१९४३)

कविता में शब्दों का चुनाव

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक फ्लॉबर्ट के अनुसार हम एक ही संज्ञा द्वारा अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं, एक ही क्रिया उस विचार को गति दे सकती है और केवल एक विशेषण उसकी व्याख्या कर सकता है। फ्लॉबर्ट के इस सिद्धान्त को क्रियात्मक व्यवहार द्वारा चरितार्थ करनेवाले उसके अतिरिक्त अनेक देशी और विदेशी लेखक हुए हैं। उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त शब्दों को रखने की चेष्टा की। अनेक स्थलों पर यह खोज साधारण बुद्धिमत्ता का अतिक्रमण करके हास्यास्पद भी हुई है। परंतु सच पूछा जाय, तो सब काल, सब देशों में कवि यही करते चले आये हैं। फ्लॉबर्ट गद्य-लेखक था, पर वह गद्य को भी वैसे ही कलात्मक ढंग से लिखना चाहता था, जैसे एक कवि अपनी कविता को। कवि की शिक्षा-दीक्षा के अनुसार उसका शब्द-भांडार संकुचित अथवा विस्तृत होता है, उसी में से चुन-चुनकर वह अपने भावों के लिए शब्द-संकेतों को इकट्ठा करता है। बहुधा उसकी भावाभिव्यक्ति के लिए उसके सामने अनेक शब्द आते हैं, परन्तु उनसे उसे संतोष नहीं होता। अपनी प्रतिभा के अनुसार वह ऐसे शब्दों को खोज निकालता है, जो उसके भावों को उसकी अनुभूति के अनुकूल पाठक के हृदय में उतारते हैं। शब्द-संकेतों के बिना दूसरा व्यक्ति कवि के भावों को समझ नहीं सकता। अतः कवि की कला का एक प्रधान अंग शब्दों का चुनाव है। वह भावुक अथवा विचारक होकर भी तब तक सफल कवि नहीं हो सकता जब तक अपने भावों और विचारों को भाषा में मूर्त करने के लिए

उचित से उचित शब्दों को न चुन सके। बड़े कवि वे होते हैं, जिनके भावों और विचारों के साथ उनकी भाषा में शिथिलता नहीं आने पाती। उनका शब्दों पर ऐसा अधिकार होता है कि वे, उनकी रुचि पर निर्भर, उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। उनमें ऐसा जीवन रहता है कि वे कवि के अर्थ को पुकारते चलते हैं। हमें यह भासित हो जाता है कि उसने उचित संकेत पर उँगली रक्खी है; उससे इतर शब्द उस स्थान पर कदापि उपयुक्त न होता। निम्न श्रेणी के कवियों में ऐसा सामंजस्य कम मिलता है। यदि उनका शब्दों पर अधिकार है, तो भावों और विचारों की कमी हैं; यदि भाव और विचार हैं तो सुचारु शब्द-चयन नहीं है। जहाँ उनका सम-सामंजस्य हो जाता है, वहाँ सुन्दर कविता की सृष्टि होती है।

शब्द चुनते समय कवि का ध्यान सबसे पहले उनके अर्थ की ओर जाता है। एक ही अर्थ के द्योतक बहुधा अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं; परन्तु वह उनमें से किसी एक को लेकर अपना काम नहीं चला सकता। समान अर्थ होने पर भी उनके प्रयोग में यत्किंचित् विभिन्नता होती है। जैसे मुक्त, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, अबंध आदि शब्द एक अर्थ बताते हुए भी अपनी अपनी कुछ लघु अर्थ-विशेषता रखते हैं। निम्न पंक्तियों में 'मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है; वहाँ स्वच्छंद रखने से अर्थ का अनर्थ हो जाता।

"पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,"—(निराला)

शब्दों का अर्थ जन प्रयोग पर निर्भर रहता है। शब्द संकेत-मात्र हैं और अर्थ-विशेष के द्योतक इसलिये होते हैं कि सब लोग वैसा मानते हैं। मेरी एक भांजी है, वह बचपन में शक्कर को कड़ुआ और मिर्च को मीठा कहती थी। उसको किसी ने ऐसा ही

सिखा दिया था। बाद को उसे यह सीखने में कुछ अड़चन मालूम हुई कि शक्कर कड़ुई नहीं, मीठी होती है। जन-प्रयोग से शब्दों के बहुधा कुछ से कुछ अर्थ हो जाते हैं, जैसे पुंगव से पोंगा। विद्वानों को अपना व्याकरण-ज्ञान एक ओर रख कर ऐसे स्थलों में शब्द का प्रयुक्त साधारण अर्थ ही ग्रहण करना पड़ता है। ऐसा भी देखा गया है कि प्रतिभाशाली कवि शब्दों के बिगड़े प्रचलित अर्थ को छोड़कर उनके ठेठ व्याकरणसिद्ध अर्थ को ही अपनी कृतियों में मान्य रखते हैं। अँगरेज़ी में एक प्रसिद्ध उदाहरण मिल्टन का है। लैटिन-शब्दों का प्रयोग उसने उनके धात्वर्थानुसार किया है। इसलिए बिना टिप्पणीकार की सहायता के उसकी कविता का अर्थ केवल अँग्रेज़ी का ज्ञान रखने वालों की समझ में ठीक-ठीक नहीं आ सकता। हिन्दी में अकसर ऐसे श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनका एक अर्थ प्रचलित होता है, दूसरा धातु प्रत्यय के अनुसार। निरालाजी ने 'भारत,' 'नभ' आदि शब्दों का इसी भाँति प्रयोग किया है। कहीं-कहीं केवल धात्वर्थ ग्रहण किया है, जैसे—

'वसन विमल तनु वल्कल,
पृथु उर सुर पल्लव-दल,"—में सुर शब्द का।

ऐसे स्थलों में पाठक के लिए यह खतरा रहता है कि वह धात्वर्थ करते समय कवि के अभीप्सित अर्थ को छोड़कर कोई और दूसरा ही अर्थ निकाल ले और अपनी प्रतिभा को कवि की प्रतिभा समझने लगे अथवा जहाँ कवि चाहता था कि शब्द का प्रचलित अर्थ ही लिया जाय, वहाँ वह एक दूसरा अर्थ खोज निकाले।

शब्द के अर्थ के पश्चात् कवि उसकी ध्वनि, उसमें व्याप्त संगीत का विचार करता है। अनेक शब्दों की उच्चारण-ध्वनि और उनके अर्थ में साम्य दिखाई देता है। जैसे "कोमल" शब्द की उच्चारण-मधुरता उसके अर्थ से सहानुभूति रखती है। 'हलचल', 'उथल-

पुथल', 'बकबक', 'टें टें' आदि का शब्द ही उनका अर्थ बताता है। अपनी कला का ज्ञाता कवि शब्दों का इस प्रकार प्रयोग करता है कि उच्चारण-ध्वनि उनके अर्थ को और बढ़ा देती है। वह स्वर और व्यंजनों की शक्ति को पहचानता है; अपना भाव स्पष्ट करने के लिए ध्वनि का उतना ही आश्रय लेता है, जितना अर्थ का। पंतजी ने "पल्लव" के प्रवेश में लिखा है, किस भाँति

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर"—

में "आ का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इद्रधनुष की तरह अनिल में अछोर अटका देता है"। गोस्वामी तुलसीदास में स्वर-विस्तार द्वारा भावव्यंजना के अनेक सुन्दर उदाहरण हैं, जैसे—

"कोह रेनु गगन गिराति
परसत पानि पातहि निवारई"—

में 'आ' का विस्तार मात्रा के भाव बढ़ाने को और मात्रा के उसके दूर हटाने को भली भाँति व्यक्त करता है। इसी भाँति व्यंजनों को एकत्र करके कवि अपने अर्थ की पुष्टि करता है। कुशल कलाकारों में स्वर-व्यंजनों का चयन यथासम्भव औचित्य रहता है। वे शब्दों का हमारे ऊपर यथेच्छ प्रभाव डालते हुए भी हमें यह नहीं जानने देते कि वैसा चुनाव उन्होंने जान-बूझकर किया है। शब्दों के चयन का ऐसा अदृश्य, अस्पृश्य प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है कि उसका विश्लेषण करना प्रायः असम्भव रहता है। शब्द-संगीत और शब्दार्थ में पारस्परिक मैत्री वांछनीय जान पड़ती है। अर्थ छोड़कर अथवा उसे गौण मानकर जब कवि केवल शब्द-संगीत द्वारा अपनी बात कहना चाहता है तो उसका कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है। कविता में वह संगीत की भावोत्पादकता लाना चाहता है। अनेक

कलाकार इसमें सफल भी हुए हैं। शब्दों के अर्थ की अपेक्षा उनका संगीत कवि के भावों को व्यक्त करने में अधिक समर्थ हुआ है। परन्तु अधिकांश सानुप्रास शब्दों का बहुल प्रयोग करके शब्द-मोह के कारण कविता की वास्तविकता से दूर भी जा पड़े हैं।

कहा जाता है कि शब्दों की उच्चारण-ध्वनि में कवि उनके रूप, रंग, आकार आदि भी देख सकता है। "पल्लव" के प्रवेश में पंतजी ने शब्दों की ध्वनि के अनुसार उनके रूप, रंग और आकार को पहचानने की चेष्टा की है। ऐसा करना बहुत कुछ कवि के सूक्ष्म भावग्रहण पर निर्भर है, यद्यपि उसके भी वैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। पंतजी ने प्रभंजन, पवन, समीर आदि का अलग-अलग रूप निश्चित किया है। 'हिलोर' से भिन्न 'वीचि' उनके अनुसार जैसे किरणों में चमकती हुई हो। फ्रांसीसी कवि बोदलेयर के अनुसार उपयुक्त शब्दों का चयन करके भिन्न रंगोंवाले चित्र खींचे जा सकते हैं; मूर्त अर्थ द्वारा कहकर नहीं, वरन शब्द की ध्वनि से इंगित होकर। उसका कहना था कि शब्दों की ध्वनि में रेखाएँ भी होती हैं। उनके द्वारा रेखागणित के आकार बनाये जा सकते हैं।

पाश्चात्य कलाकारों—विशेषकर १९वीं शताब्दी के रोमांटिकों—ने ललित कलाओं की सीमाओं को भंग करने की चेष्टा की थी। कार्नडिन्स्की (Karndinsky) नामक कलाकार ने संगीत को चित्रित करने का प्रयत्न किया था: उसके अनुसार हल्के नीले रंग में फ्लूट की ध्वनि निकलती है, अत्यन्त गहरे नीले में आर्गन की, और भी इसी भाँति। निरालाजी को मैंने यह अनेक बार कहते सुना है कि उन्हें किन्हीं विशेष कवियों की कविता विशेष रंगों में रँगी जान पड़ती है। भवभूति की जैसे काले रंग में, कालिदास की नीले रंग में। जो कुछ भी हो, शब्दों में चित्र और संगीत कला के भी तत्त्व निहित हैं और सूक्ष्म मनोवृत्तियोंवाला कवि उनका प्रयोग करता है।

साधारणतः कुछ शब्द दूसरों से अधिक कवित्वपूर्ण माने जाते हैं। ऐसा उनकी सुन्दर ध्वनि, अर्थ आदि के कारण होता है। कवि के लिए उन शब्दों का प्रयोग अधिक सरल होता है, जिनका एक बार कवित्वपूर्ण ढंग से प्रयोग हो चुका हो। चंद्रमा, वसंत, शीतल मंद पवन आदि न जाने कब से शृङ्गार के उद्दीपन विभाव होते चले आ रहे हैं। इसलिये कवि जाड़े में भी शृङ्गार-वर्णन के लिये वसन्त की कल्पना करता है, अँधेरी रात में भी पूर्ण चन्द्र की। इनका शृङ्गार-भावनाओं के साथ ऐसा नाता जुड़ गया है कि उनका नाम लेने से वे भावनाएँ सहज ही जगाई जा सकती हैं। इस प्रकार के प्रतीकों के प्रयोग से कवि के लिये लाभ-हानि, दोनों सम्भव हैं। नया प्रतीक खोज निकालने की अपेक्षा पुराने का प्रयोग करना अवश्य ही सरल है। साथ ही जो लोग उसके एक बार आदी हो गये हैं, वे उसे आसानी से समझ सकते हैं, परन्तु जब उसका बहुत बार प्रयोग हो चुकता है तो उसका जीवन नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए कमल इतनी बार सुन्दर मुख, लोचन, चरण आदि का प्रतीक हो चुका है कि अब उसमें कोई चमत्कार नहीं रहा। कमल कितना सुन्दर होता है, उसकी गंध कितनी मधुर,—कमल कहने से अब साधारणतः इन बातों का सुननेवाले को अनुमान नहीं होता। एक प्रकार से तो कविता में सभी शब्दों का प्रयोग हो सकता है, कलाकार के लिये कुछ भी असुन्दर नहीं; पर ऐसा वह अपने संदर्भ के अनुसार कर सकता है। अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका हँसी, व्यंग्य आदि की हल्की कविता में प्रयोग समीचीन होता है, उच्च भावों, विचारोंवाली कविता में नहीं। उनका ऐसी वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है, जिनका स्मरणमात्र ऊँची कविता के प्रभाव में घातक हो सकता है। जैसे श्रीसियारामशरणजी गुप्त की इन पंक्तियों में ऐसे प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जो कविता के प्रभावोत्पादन में बाधक होते हैं—

"चक्रपाणिता तज, धोने का
पाप-पंक के परनाले,
आहा! आ पहुँचा मोहन तू
विप्लव की झाड़वाले।"—

(शुभागमन)

यहां झाड़ और परनाले के प्रतीक अपने निम्न नाते-रिश्तों (Associations) के कारण "मोहन" का संसर्ग पाकर भी नहीं चमक उठते। परंतु प्रतिभाशाली कवि सदा से कविता के योग्य न समझे जानेवाले शब्दों का साहस के साथ प्रयोग करते चले आये हैं। ऐसा न करने से कविता का जीवन नष्ट हो जाय और थोड़े से शब्दों को कवित्वपूर्ण जान कर कवि उन्हीं का लौट-फेर कर प्रयोग किया करें। कवि का स्पर्श पाकर क्षुद्र से क्षुद्र शब्द भी चमत्कार कर सकते हैं।

कवि अपना शब्द-भंडार बढ़ाने के लिए अनेक उपाय करता है। साधारण बोल-चाल के शब्द उसके जाने हो होते हैं; पुस्तकें पढ़कर वह और भी अपने काम के शब्द चुनता रहता है। उसके शब्दों को हम मुख्यतः इन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) ऐसे शब्द, जिन्हें वह किसी मृत पुरानी भाषा से लेता है, जिसका उसकी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अँगरेज़ लेखकों ने इस प्रकार लैटिन से तमाम तत्सम शब्द लिये हैं। हिन्दी-कवियों ने संस्कृत से शब्द लेकर अपने भांडार को भरा है। साधारण भाव व्यंजना के लिए ऐसे शब्द दरकार नहीं होते, दार्शनिक किंवा उच्च विचारों की अभिव्यक्ति के लिये कवि को दूसरी भाषा के भरपूर कोष की सहायता लेनी पड़ती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग करते समय कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपनी

भाषा में उन्हें इस प्रकार लाये कि उसकी जातीयता नष्ट न होने पावे। मिल्टन ने लैटिन शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है। उस पर यह अभियोग लगाया जाता है कि उसने अँगरेज़ी के जातीय जीवन का ध्यान नहीं रक्खा। "सुधा" में प्रकाशित निरालाजी के "तुलसीदास" की भाषा भी कहीं-कहीं इसी दोष से दूषित हो गई है। संस्कृत-शब्द-बाहुल्य में हिन्दी की स्वतंत्रता दब गई है। प्रसादजी के नाटकों में संस्कृत-शब्दावली नहीं अखरती। उनमें लिखित घटनाएँ इस काल की नहीं; चंद्रगुप्त और अजातशत्रु को आज की चलती भाषा में बात करते हुए सुनकर हमें उनकी सत्ता पर संदेह हो सकता है। कलाकार ने विषय के साथ भाषा में तदनुरूप विचित्रता ला दी है।

(२) दूसरी भाषा के पास न जाकर कवि अपनी भाषा के पुराने भूले हुए शब्दों को पुनर्जीवित करता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग किसी पुराने विषय पर लिखते समय कवि की कला को चमका देता है। अप्रचलित शब्दों के कारण पाठक अपने युग से दूर बीती हुई बातों के वायुमण्डल में पहुँच जाता है। यदि सभी शब्द अप्रचलित हों, तो वह उन्हें समझ न सकेगा। कुछ के होने से कवि की कृति में पुरानेपन का उसे आभासमात्र मिलता रहता है। १६वीं शताब्दी के जिन अँगरेज लेखकों ने पुराने गीतों (Ballads) के अनुसार कविताएँ लिखीं, उनमें से अधिकांश ने पुराने (Archaic) शब्दों का बड़े कलापूर्ण ढंग से प्रयोग किया है।

(३) कवि ग्राम्य शब्दों को भी अपनी भाषा में स्थान देते हैं। कुछ ग्रामीण प्रयोग ऐसे होते हैं, जिनके समानार्थवाची शुद्ध शब्द भाषा में नहीं मिलते। तुलसीदासजी ने अवधी के ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है। श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त की कृतियों में बुन्देलखंडी के शब्द मिल जाते हैं। यदि गाँवों के सम्बन्ध में कोई बात लिखनी

हो, तो वहाँ उनका उचित स्थान है ही, वैसे भी परिमित मात्रा में प्रयुक्त होने से अपनी भाव-व्यंजना की विशेषता आदि गुणों के कारण वे मार्जित भाषा में अपने लिए जगह बना सकते हैं।

कवि की भाषा चाहे सरल हो चाहे कठिन, शब्दों के चुनाव में उसे समान कठिनता हो सकती है। सरल भाषा सरलतापूर्वक सदा नहीं लिखी जाती। बहुधा बड़ी-बड़ी बातें ऐसे सरल शब्दों में लिखी जाती हैं कि लोग भाषा से धोखा खाकर उस सरलता के भीतर पैठने की चेष्टा नहीं करते। भावों की गहनता, सूक्ष्मता या उच्चता के साथ भाषा सरल रहे, साथ ही शिथिल भी न हो, अत्यंत दुष्कर है। इसकी सफलता का एक उदाहरण रामचरितमानस है। गर्जन-तर्जन करनेवाले बड़े शब्दों में वैसे भाव भरना आसान नहीं। यदि कवि का विषय गहरा या ऊँचा नहीं, तो कठिन अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, केवल उनकी उच्चारण-ध्वनि के लिए क्षम्य नहीं माना जा सकता। कवि का कर्तव्य यह है कि वह अपनी अनुभूति को उचित शब्द-संकेतों द्वारा हमारे सामने रक्खे।

जुलाई '३६

संस्कृति और फ़ासिज़्म

अपनी असंगतियों से छुटकारा पाने के लिये जब पूँजीवाद जनतंत्र का नाश करके युद्ध की ओर बढ़ता है, तब उसका फ़ासिस्ट रूप प्रकट होता है। यह कोई नया वाद, नयी संस्कृति या नयी समाज-व्यवस्था नहीं है। अपने विकास के लिये आरंभ में पूँजीवाद जनवादी परम्परा को जन्म देता है लेकिन बार-बार आर्थिक संकट पड़ने से जनवादी परम्परा द्वारा उसे अपना विनाश दिखाई देने लगता है। समाज के पीड़ित वर्गों को इन सङ्कटों से बार-बार धक्का लगता है, वे उनसे बचने के लिये एक नयी व्यवस्था की ओर बढ़ते हैं। जनवादी परम्परा उसमें सहायक होती है। इसलिये फ़ासिज़्म सबसे पहले नागरिकता के अधिकारों को खत्म करता है, जनवादी विधान को नष्ट कर देता है, हिंसा और दमन के ज़रिये वह समाज पर बड़े-बड़े महाजनों और पूँजीपतियों की तानाशाही क़ायम करता है। इसीलिये फ़ासिज़्म जनतंत्र का सबसे बड़ा दुश्मन है।

यह तानाशाही कायम करने के लिये समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियां तरह-तरह के भुलावे पैदा करती हैं। एक भुलावा जाति, नस्ल या ख़ून का है। जर्मन फ़ासिस्टों ने अपने अनुयायियों को बताया कि हम संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति हैं और हमें ईश्वर ने इसी-लिये बनाया है कि हम संसार की क्षुद्र जातियों पर शासन करें। जीव-विज्ञान और समाज-शास्त्र को इस तरह तोड़ा मरोड़ा गया कि जर्मन-रक्त की यह विशेषता वैज्ञानिक रूप से सिद्ध हो जाय। इसी तरह इटली के फ़ासिस्टों ने अपने रोमन पुरखों के गीत गाये और दूसरों पर शासन करने के योग्य एकमात्र अपनी जाति को घोषित

किया। जापान में इन्हीं के भाई-बन्दों ने अपने को सूर्य की सन्तान बताया और इस आधार पर एशिया के नेता बनने चल पड़े। इस तरह की कल्पनायें विज्ञान और इतिहास के बिल्कुल विरुद्ध हैं, परंतु इनके प्रचार से अंध-विश्वासों को जगाया गया और उसी अंधपन के सहारे फ़ासिस्ट नेताओं ने अपनी और बाकी दुनिया की जनता को युद्ध की आग में झोंक दिया।

रक्त या नस्ल के भुलावे से जुड़ा हुआ एक दूसरा भ्रम ईश्वरी प्रेरणा का है। फ़ासिस्ट नेता बुद्धि या तर्क के सहारे अपना रास्ता नहीं देखता; उसे तो सीधी ईश्वर से प्रेरणा मिलती है। उसके नेतृत्व का आधार जनवादी निर्वाचन या जनता का दिया हुआ कोई अधिकार नहीं है। उसे तो इल्हाम होता है और इसी के सहारे वह जनता का नेता है, उसे नयी परिस्थितियों में राह दिखाता है। इस प्रकार फासिज्म विचार क्षेत्र में अवैज्ञानिकता, बुद्धिहीनता, अतार्किकता को जन्म देता है। जो बात तर्क से सिद्ध नहीं हो सकती, उसी को वह ऊपर उठाता है। मानो ईश्वर की कल्पना लूट और हत्या को समर्थन करने के लिये ही की गई हो।

तीसरा भुलावा फ़ासिज्म का युद्ध सम्बन्धी प्रचार है। युद्ध को वह सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अङ्ग मानकर चलता है। वह यह नहीं बताता कि आर्थिक सङ्कट से निकलने के लिये, अपने माल की खातिर नये बाजार क़ायम करने के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता है। हक़ीक़त पर पर्दा डालकर बड़े-बड़े सामरिक प्रदर्शनों द्वारा फ़ासिज्म पाशविक बल के महत्त्व को घोषित करता है। जिसकी लाठी, उसकी भैंस—इस सिद्धान्त का वह प्रचार करता है। शान्ति, सहयोग, मानवता और भाई-चारे की बातों की वह खिल्ली उड़ाता है और उन्हें कमज़ोर आदमियों की सनक कहकर वह टाल देता

है। इसीलिये फ़ासिज़्म मानवीय प्रगति का सबसे बड़ा दुश्मन है और वह समाज को बर्बर-युग की ओर ठेलता है।

चौथा भुलावा राष्ट्रीयता का होता है। राष्ट्र के ऊपर कुछ नहीं है, राष्ट्र के लिये सब कुछ बलिदान कर देना चाहिए, राष्ट्र में अंध-भक्ति होनी चाहिये, इत्यादि-इत्यादि बातों का वह प्रचार करता है। वास्तव में उसके राष्ट्र का मतलब मुट्ठी भर पूँजीपतियों का स्वार्थ होता है। राष्ट्र में अंधभक्ति का मतलब होता है, इन मुट्ठी भर लोगों के पीछे आँख मूँदकर चलो। राष्ट्र के लिये बलिदान होने का मतलब होता है, दूसरे देशों को हराने और साम्राज्य-विस्तार करने के लिये अपनी जान दो। लेकिन देश प्रेम का यह मतलब नहीं है कि दूसरों को छोटा समझ कर उन्हें अपना गुलाम बनाया जाय। राष्ट्र-भक्ति का यह मतलब नहीं है कि मुट्ठीभर पूँजीपतियों की चलाई हुई प्रतिक्रियावादी नीति का विरोध न किया जाय। देश का मतलब जहाँ जनता होता है, वहाँ एक देश द्वारा दूसरे पर अधिकार करने का सवाल नहीं उठता। सभी देशों की जनता का हित एकता और शान्ति में है, न कि परस्पर वैर भाव रखने और युद्ध करने में। फ़ासिज़्म देशों के इस भाईचारे को बड़े भय से देखता है। वह अंतर्राष्ट्रीयता की बार-बार निन्दा करता है जिससे कि जनता अपने आपसी हितों को पहचान न सके। लेकिन अपने स्वार्थ के लिये एक देश के फ़ासिस्ट दूसरे देश के फ़ासिस्टों से मेल करने में देर नहीं करते। हिटलर, मुसोलिनी, पेताँ, तोजो आदि आदि अलग-अलग देशों और जातियों के लोग युद्ध में अपना गुट बनाने के लिये अपनी नस्ल के सिद्धान्त को ताक पर रख देते हैं।

छठा भुलावा व्यक्तित्व के विकास का है। फ़ासिस्ट कहते हैं कि जनतंत्र में बड़े-बड़े आदमियों को अपने विकास का मौक़ा नहीं मिलता। वे अपनी इच्छाशक्ति का चमत्कार नहीं दिखा सकते।

केवल फ़ासिज्म में उन्हें यह अवसर और सुविधा मिलती है कि वे विशाल जनसमूहों को अपनी इच्छा-शक्ति से संचलित करें और इस तरह अपने देश तथा संसार के भाग्य-विधायक बन जायें। वास्तव में इस विकास का मतलब होता है, पूँजीपतियों के दलाल बनकर उनके इशारे पर कठपुतली की तरह नाचना। इस विकास में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोध करने की गुञ्जाइश नहीं है। उसमें तर्क, बुद्धि, सहृदयता आदि के लिये जगह नहीं है। मुट्ठी भर महाजनों के इशारे पर जो फ़ासिस्ट नेता कहे, उसी पर उसके छोटे-बड़े अनुचरों को चलना होता है। बड़े फ़ासिस्ट नेता तो इस विकास के द्वारा अपनी जेबें भर लेते हैं लेकिन उनके क्षुद्र भेंड़ें अनुयायी युद्ध में बलि के बकरे बन कर हो जाते हैं। पूँजीवादी स्वार्थ के लिये लाखों की संख्या में वे हलाल किये जाते हैं और यहीं उनके विकास का अंत होता है।

सातवीं भुलावा संस्कृति का है। फ़ासिस्ट कहते हैं, हम संस्कृति के रक्षक हैं। हम प्राचीन संस्कृति का उद्धार करेंगे, हम सारे संसार में अपनी संस्कृति का प्रसार करेंगे। प्राचीन संस्कृति का मतलब इनके लिये बर्बरता होता है। उनकी दृष्टि में संस्कृति का आधार मानवता नहीं, दानवता है। अपनी लूट और हत्या को सही साबित करने के लिये वे अपने पूर्वजों को भी हत्यारा और लुटेरा बनाकर बड़े प्रेम से उन्हें पूजते हैं। फ़ासिस्ट संस्कृति का सम्बन्ध कुसंस्कारों से है, मानवीय संस्कृति से बिल्कुल नहीं। इसीलिये फ़ासिस्ट बराबर कोशिश करते रहते हैं कि वे पुरानी संस्कृति को तोड़-मरोड़ कर सामने रक्खें। पुराने लेखकों में से साम्राज्यवादी भावनायें, अतार्किकता, बुद्धिहीनता की बातें वे खोज लाते हैं या इसमें बिल्कुल ही असफल रहते हैं, तो उनकी पुरानी पुस्तकों को जला देते हैं संस्कृति का वे कितना आदर करते हैं, यह इसी से प्रकट है कि

वे देश के बड़े-बड़े साहित्यकारों और वैज्ञानिकों को देश-निकाला या कारावास का दण्ड देते हैं। जो लेखक फ़ासिज़्म का विरोध करने की हिम्मत करता है, उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता है। भाड़े के लेखकों से फ़ासिस्ट नेता जो साहित्य लिखवाते हैं, उसमें लुटेरों और हत्यारों को 'हीरो' बनाया जाता है; उनके घृणित कार्यों को राष्ट्रीय गौरव के अनुकूल बनाकर जनता के सामने उनकी मिसाल रक्खी जाती है। फ़ासिस्ट ध्यान रखते हैं कि साहित्य में जनवादी विचार कहीं भी पनपने न पायें, आर्थिक सङ्कट, बेकारी और ग़रीबी, जनता के भय और त्रास की झलक भी कहीं न मिले, इस तरह फ़ासिज़्म साहित्य और संस्कृति का सबसे बड़ा शत्रु है।

अपनी युद्ध नीति को सफल बनाने के लिये फ़ासिज़्म विदेशी आक्रमण का हौवा खड़ा करता है। आक्रमण वह खुद करना चाहता है लेकिन प्रकट यह करता है कि दूसरे उसकी जान के गाहक हैं और इसलिये उसे पहले ही दूसरों पर हमला कर देना चाहिये। एक जाति या धर्म के लोगों को देश का शत्रु कहकर वह पूँजीवाद द्वारा पैदा की हुई दुर्व्यवस्था पर पर्दा डालता है। समाज में यदि बेकारी है, ग़रीबी है, शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रबन्ध नहीं है, उत्पादन नहीं बढ़ता या वितरण नहीं होता तो इसकी ज़िम्मेदारी एक ख़ास जाति या मज़हब के लोगों पर है। यूरुप के फ़ासिस्टों ने इस तरह की ज़िम्मेदारी यहूदियों पर डाली। यहूदियों का क़त्लेआम फ़ासिज़्म की वृद्धि का एक लक्षण बन गया। १९४७ तक में लन्दन की दीवारों पर "Perish Judas" (यहूदी की मौत) ये शब्द ब्रिटिश फ़ासिस्ट लिख देते हैं। हिटलर के लिये जब यह ज़रूरी हुआ कि अमरीका से दोस्ती करे, तो अमरीका के निवासी शुद्ध आर्य बन गये। जब उनसे लड़ाई हुई, तो रूज़वेल्ट के पुरखों में एक यहूदी भी निकल पड़ा। इसी तरह सन् '३० में जब हिन्दुस्तान का सविनय

अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था, तब हिटलर ने अंग्रेज़ों को आर्य बताते हुए डन्डे के ज़ोर से इस आन्दोलन को कुचलने की सलाह दी थी। जब अंग्रेज़ों से युद्ध हुआ, तो वे भी यहूदियों के चंगुल में फँसे बताये गये।

फ़ासिज्म के प्रचार का सबसे सबल या निर्बल अस्त्र कम्युनिस्ट-विरोध है। कम्युनिस्ट रूस के गुलाम हैं, सारी दुनिया पर रूस का राज फैलाना चाहते हैं, इन्हें मॉस्को से पैसा मिलता है, मज़दूरों को भड़काकर वे राष्ट्रीयता का गला घोटते हैं, आदि-आदि फ़ासिज्म के परिचित नुस्खे हैं। फ़ासिस्ट जानते हैं कि उनके सबसे कट्टर शत्रु कौन हैं और इसलिये उन्हें खत्म करने के लिये वे जी-जान से कोशिश करते हैं। यही उनका सबसे निर्बल अस्त्र भी है, इसलिये कि इस प्रचार का आधार बिल्कुल झूठ है। कम्युनिज्म पूँजीवाद की पैदा की हुई आर्थिक और राजनीतिक उलझनों को दूर करने की क्षमता रखता है। इसलिये लाख विरोधी प्रचार होने पर भी इतिहास की गति रुक नहीं पाती और उस गति के साथ वह आगे बढ़ता है। इसके अलावा कम्युनिज्म उन तमाम बातों को लेकर चलता है—संस्कृति, मानवता और जनतंत्र की परम्परा को—जिन्हें फ़ासिज्म खत्म करना चाहता है। फ़ासिज्म की पराजय इसलिये निश्चित होती है कि वह युद्ध और हिंसा के ज़रिये पूँजीवादी समाज की उलझनों से बचना चाहता है। लेकिन समाज का टिकाऊ आधार युद्ध और हिंसा नहीं, शान्ति और एकता ही हो सकती है। इसलिये फ़ासिज्म की पराजय भी निश्चित होती है।

गत महायुद्ध में फ़ासिस्टों की करारी हार हुई और जनवादी शक्तियों को आगे बढ़ने का मौक़ा मिला। पूर्वी यूरूप के देशों में जर्मन पूँजी ही नहीं ब्रिटिश पूँजी का प्रभुत्व भी खत्म हो गया। पोलैन्ड और यूगोस्लाविया जैसे बड़े-बड़े देश नयी जनवादी व्यवस्था

क़ायम करने में सफल हुए। वहाँ की बड़ी-बड़ी ताल्लुक़ेदारियाँ, जागीरें और रियासतें तोड़ दी गईं और उनकी ज़मीन किसानों में बाँट दी गई। उद्योग-धंधों पर मुनाफ़ाखोर पूँजीपतियों के बदले समाज का अधिकार हो गया। जब ब्रिटेन और अमरीका के पूँजीवादी अखबार यह शोर मचाते हैं कि इन देशों पर रूस का प्रभुत्व हो गया, तो उनका असली मतलब यह होता है कि वहां पर ब्रिटिश और अमरीकी पूँजी का प्रभुत्व ख़त्म हो गया है। इधर एशिया में च्यांग-काई-शेक की चीनी दीवाल बुरी तरह हिल गई है। देश के एक बहुत बड़े भाग में ज़मींदारी प्रथा ख़त्म कर दी गई है और च्यांग-काई-शेक के अधिकृत राज्य में पुरानी भूमि व्यवस्था और मुनाफ़ाखोरी के ख़िलाफ़ विद्रोह फूट रहा है। वियतनाम, हिन्द चीन, बर्मा और हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलनों से यूरुप का पूँजीवाद दहशत खा रहा है।

युद्ध के बाद प्रतिक्रियावाद का केन्द्र अमरीका बन गया है। वहां के बड़े-बड़े महाजन ऐटम बम और डॉलर की सहायता से सारी दुनिया पर एकच्छत्र अधिकार करना चाहते हैं। जिन देशों की पूँजीवादी व्यवस्था झकोले खा रही है, उन्हें खरीदने के लिये अमरीकी सेठों ने अपनी थैलियां खोल दी हैं। उनके प्रचार का सारा अथ से इति तक फ़ासिस्ट प्रचार की मिसाल लेकर चली है। अमरीकी पूँजीवाद अपने यहाँ जनतंत्र का नारा देकर संसार को फिर एक नये युद्ध में घसीटने की तैयारी कर रहा है। वहां के बड़े-बड़े लेखक और चार्ली-चैपलिन जैसे विश्व-विख्यात अभिनेता अमरीका-विरोधी प्रचार करने के अभियोग में तरह-तरह से सताये जा रहे हैं। अमरीकी पूँजीवाद का यह रवैया दुनिया की शान्ति तथा साहित्य और संस्कृति के लिये खतरनाक है। इसी की बटोर में एशिया और यूरुप के दूसरे प्रतिक्रियावादी भी आ जाते हैं।

शान्ति और जनतन्त्र के खिलाफ़ ये सब लोग एक विश्वव्यापी मोर्चा बना रहे हैं। इस मोर्चे की एक दीवार हिन्दुस्तान में भी है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने व्याख्यानों द्वारा फ़ासिज्म के बढ़ते हुए खतरे की तरफ़ सङ्केत किया है। फ़ासिज्म के लक्षण हमारे देश में भी प्रकट होने लगे हैं। हमारे यहाँ भी युद्ध को अनिवार्य बताना, हत्या और हिंसा को मानवता और भाई चारे से श्रेष्ठ बताना शुरू हो गया है। मुस्लिम फ़ासिस्ट कहते हैं कि इस्लामी राज क़ायम होना चाहिये। इसके लिये हिन्दुस्तान पर हमला करना ज़रूरी होगा। हमला करने के पहले अपने यहाँ की अल्पसंख्यक जनता को खत्म कर देना या निकाल देना ज़रूरी होगा। इसी तरह हिन्दू फ़ासिस्ट हिन्दू राष्ट्र की बातें करते हैं। वे पाकिस्तान से युद्ध को अनिवार्य बताते हैं और इस युद्ध की तैयारी के लिये वे अपने यहाँ की अल्प-संख्यक जनता को खत्म कर देना या निकाल देना ज़रूरी समझते हैं। संस्कृति की बात ज़ोरों से कही जाती है लेकिन उसका सम्बन्ध मनुष्यता और भाई चारे से नहीं होता। युद्ध और हत्या के लिये उकसाने में ही इस शब्द का प्रयोग होता है।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के फ़ासिस्ट जनवादी शक्तियों को खत्म करने के लिये बड़े ज़मींदारों, राजाओं और मुनाफ़ाखोरों का संयुक्त मोर्चा बना रहे हैं।

अँग्रेज़ी साम्राज्य के स्तम्भ देशी नरेश अचानक धर्मावतार बन गये हैं। उनके अखबार जाट, राजपूत, क्षत्रिय, सिख, आदि-आदि जातीयता के नाम पर मध्यवर्ग के लोगों और किसानों को शान्ति और जनतंत्र के खिलाफ़ उकसाते हैं। जैसे हिटलर ने 'हैरेन फ़ोक' या श्रेष्ट जाति का डंका पीटा था, उसी तरह ये राजा इस बात का प्रचार करते हैं कि किसी जाति-विशेष के लोग ही शासन करने की योग्यता रखते हैं। बड़े-बड़े मुनाफ़ाखोरों ने फ़ासिस्ट प्रचार के

लिये थैलियाँ खोल दी हैं। वे तमाम खबरों को इस तरह तोड़-मरोड़ कर देते हैं कि लोगों में भय और आतंक फैले। अपने कुकृत्यों को छिपाकर दूसरों के अत्याचार का वर्णन करके वे प्रतिहिंसा की आग सुलगाते हैं जिसमें आगे चलकर भारत की स्वाधीनता और जनतंत्र दोनों भस्म हो जायें। इन अखबारों को भी अपना सबसे बड़ा दुश्मन कम्युनिज़्म दिखाई देता है। इसलिये उनके पत्रों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और अमरीका के महाजनों के खिलाफ़ दो शब्द भी नहीं होते परंतु कम्युनिज्म के खिलाफ़ कालम के कालम रंगे होते हैं। वास्तव में ब्रिटिश और अमरीकी की पूँजी तरफ़ हिन्दुस्तान के प्रतिक्रियावादियों की आँखें लगी हुई हैं। वे जानते हैं कि बिना इस बाहरी मदद के चार दिन तक भी वे हिन्दुस्तान पर अपना शासन क़ायम नहीं रख सकते। हमारे देश का हर किसान, मज़दूर और मध्यवर्ग का आदमी चोरबाज़ारी, मुनाफ़ाखोरी, सामंतों और ज़मींदारों के अत्याचार से परेशान है। इस परेशानी को दबाने के लिये अमरीकी पूँजी की ज़रूरत पड़ेगी। यूनान और चीन में यही हो रहा है लेकिन प्रतिक्रियावादियों के दुर्भाग्य से उनकी ढहती हुई दीवार को अमरीकी सोने की ईंटें भी फिर मज़बूत नहीं बना पातीं।

उत्तरी हिन्दुस्तान में, खासतौर से रियासतों में, बड़े-बड़े हथियार बन्द जत्थे घूम रहे हैं। उन्होंने यह असम्भव कर दिया है कि आदमी शान्ति से ज़िन्दगी बिताये। खेती-बारी और उद्योगधंधों को भारी धक्का लगा है। ग़रीबी और बेकारी बढ़ रही है। ऐसी दशा में हमारे यहाँ फ़ासिस्ट विचारधारा सर उठाने लगी है। हमारी जाति श्रेष्ठ है, दूसरों का मज़हब ग़लत है, इनको खत्म किये बिना हम जी नहीं सकते, इन्सानियत धोखा है, हमारी राष्ट्रीयता भाई-चारे की विरोधी है, संस्कृति के नाम पर हमें अल्पसंख्यकों की हत्या के

लिये तैयार हो जाना चाहिये, इन सब बातों का ज़ोरों से प्रचार हो रहा है। भाभा, बल्देवसिंह, चेट्टी, श्यामाप्रसाद जैसे लोग, जो स्वाधीनता आन्दोलन का विरोध करते आये थे, और साम्राज्यवाद के साथ रहे थे, वे राष्ट्रीय सरकार में घुसकर देश के कर्णधार बन गये हैं। उनकी कोशिश है कि देश में जनतन्त्र खत्म करके एक फ़ासिस्ट हुकूमत क़ायम कर दी जाय। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने फ़ासिस्टों को चुनौती दी है कि वे यह न समझें कि सरकार से निकलकर वे (पंडितजी) खामोश बैठ जायेंगे। अगर इस्तीफ़ा देना ही पड़ा तो वे इन फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों के खिलाफ़ बराबर लड़ते रहेंगे। हिन्दुस्तान के तमाम स्वाधीनता प्रेमी लोगों के लिये यह एक चेतावनी है कि वे राजाओं, ज़मींदारों, और मुनाफ़ाखोरों के मोर्चे को तोड़ें और उनके जनतन्त्र-विरोधी प्रचार को रोकें।

हमारे साहित्य में अभी इन शक्तियों का बोल-बाला नहीं हुआ। फिर भी बहुत से अखबारों में जो हिन्दू-राष्ट्र के नाम पर घोर साम्प्रदायिक प्रचार कर रहे हैं और उसे राष्ट्रीय भी कहते जाते हैं, ऐसी कवितायें और कहानियाँ निकलने लगी हैं जैसी फ़ासिस्ट देशों में लिखी गई थीं। इनके ज़रिये अनत्य, हिंसा और युद्ध का प्रचार किया जाता है। साहित्य के प्रतिष्ठित पत्र अभी तक इससे अलग हैं लेकिन रियासतों और हमारे सूबे के दूसरे ज़िलों में ऐसे पचीसों अखबार निकल रहे हैं जिनमें इस तरह के साहित्य को प्रश्रय मिलता है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों में एक भी इस साम्प्रदायिक विचार-धारा के साथ मिलकर जनतन्त्र विरोधी प्रचार में नहीं लगा। नयी पीढ़ी के लोग भी उससे दूर हैं। बहुतों ने इसके विरुद्ध अपनी लेखनी भी उठाई है। ज़रूरत इस बात की है कि अभी से इन प्रवृत्तियों को दबा दिया जाय और साहित्य पर हमला करने का अवसर उन्हें

न दिया जाय। प्रगतिशील विचार-धारा के खिलाफ़ भी एकबारगी अनेक पत्रों में लेख प्रकाशित होने लगे हैं। इसका उद्देश्य यह है कि फ़ासिस्ट साहित्य के लिये मार्ग निष्कण्टक बना दिया जाय। इन सब बातों का महत्त्व इस देश के लिये ही नहीं, सारी दुनिया के लिये है। अमरीका के पूँजीवादी जिस युद्ध में सारी दुनिया को ढकेलना चाहते हैं, उसमें सहयोग देने के लिये हिन्दुस्तान के प्रतिक्रियावादी अभी से यह ज़मीन तैयार कर रहे हैं। अगर हिन्दुस्तान में जनवादी सरकार क़ायम होगी तो वह कभी अमरीकन पूँजी का साथ न देगी। जिस तरह यूनान, चीन और मध्यपूर्व में अमरीका की कोशिश है कि उसकी आज्ञाकारी हुकूमतें बन जायें, उसी तरह हिन्दुस्तान में भी वह अपने इशारे पर चलने वाली सरकार चाहता है। वह सरकार उन्हीं लोगों की हो सकती है जिन्हें अंग्रेज़ों ने अब तक पाला पोसा था। इसीलिये बड़े-बड़े राजे-महाराजे, बड़े-बड़े ताल्लुकेदार और बड़े बड़े पूंजीपति दंगों की आग फैलाने में जनतंत्र को कमज़ोर करने में, शान्ति के आन्दोलन को रोकने में इतने प्रयत्नशील हैं। हिन्दुस्तान के लेखक इन प्रवृत्तियों का विरोध करके अपने देश में ही नहीं, सारी दुनिया में शान्ति और जनतन्त्र क़ायम करने में मदद दे सकते हैं।

अक्टूबर '४७

आदि काव्य

काव्य में वेद भी आ जाते हैं, फिर भी आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण को ही कहा गया है।

इसका कारण यह हो सकता है कि वैदिक काव्य की देवोपासना के बदले यहाँ पहले-पहल मानव-चरित्र को काव्य का विषय बनाया गया है और इस मानवीय काव्य में मनुष्य को देवता के सिंहासन पर नहीं बिठाया गया वरन् उसकी शक्ति, असमर्थता और वेदना को बड़ी सहानुभूति से चित्रित किया गया है।

रामायण की मूल कहानी उत्तर वैदिक काल की है जब आर्य मध्यभारत में अपनी संस्कृति फैला रहे थे। इस संस्कृति के अग्रदूत अगस्त्य आदि ऋषि थे, जिन्हें जनस्थान के अनार्य निवासी सताया करते थे। इनकी रक्षा करने के बहाने आर्य राजाओं ने नर्मदा तक अपना राज्यविस्तार किया। आर्य संस्कृति के प्रचारकों के संपर्क में आने से हनुमान आदि उनकी भाषा के पंडित हो गये थे; कुछ पहले आनेवाले आर्य अनार्यों के साथ घुलमिल भी गये, जैसे रावण। अनार्यों में सुग्रीव-विभीषण आदि का एक दल आर्यों का मित्र बन गया और इस तरह उनकी विजय-यात्रा में वह सहायक हुआ। इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता कि राम का विजय-अभियान नर्मदा तक पहुँच कर रुक गया था। सम्पाति विंध्या की गुहा से निकल कर तुरन्त ही समुद्र के किनारे जा पहुँचता है और बालि भी किष्किंधा से निकल कर समुद्र के किनारे संध्या करने को पहुँच जाता है। अवश्य ही यह समुद्र विंध्याचल के दक्षिण में कोई झील रही होगी। इसके पार

कल्पना-लोक के स्वर्ग-सी सुन्दर लंका है जहाँ राम अपने अनुयायी विभीषण को राजा बनाकर अयोध्या लौट आते हैं। इस विजय की गाथाएँ जन-साधारण में अवश्य प्रचलित रही होंगी। इन्हीं को आगे चलकर किसी कवि ने महाकाव्य का रूप दे डाला और संभवतः अपने को ओट में रखकर उसने सारा श्रेय ऋषि वाल्मीकि को दे दिया। यह तो निश्चित है कि रामायण की भाषा उत्तर वैदिक काल के आर्य-अनार्यों के संघर्ष युग की भाषा नहीं है। वाल्मीकि राम के सम-सामयिक हैं परन्तु उनके नाम से चलने वाली रामायण की रचना बहुत बाद की है।

रामायण और ग्रीस के महाकाव्य इलियड की गाथाओं में अनेक समानताएँ हैं। दोनों की ऐतिहासिक वास्तविकता आर्य-अनार्यों का संघर्ष है। होमर का ट्राय तो खोद निकाला गया है लेकिन वाल्मीकि की लंका अभी पृथ्वी के गर्भ में ही है। दोनों गाथाओं में हेलेन और सीता की चोरी के बहाने युद्ध होता है; केवल ग्रीस की गाथा में हेलेन अपनी इच्छा से पैरिस के साथ भाग जाती है, और भारतीय गाथा में सीता को रावण बल-पूर्वक हर ले जाता है। होमर की गाथा में शूर-वीरों के आश्चर्यजनक कृत्यों का वर्णन है और मृत्यु के उस महान् सत्य की ओर बारबार संकेत है जिसका सामना एक दिन हर मनुष्य को करना है। वाल्मीकि का नैतिक धरातल और ऊँचा है; वह मानव-चरित्र के पंडित होते हुए भी आदर्शवादी हैं। मृत्यु के लिये यहाँ इतना भय नहीं है; इस जीवन में ही मनुष्य की वेदना उनके काव्य का परम सत्य है। राम, सीता, कौसल्या आदि के चरित्र में उन्होंने इसी वेदना का चित्रण किया है।

रामायण की मूल गाथा का लक्ष्य आर्यों की विजय और अनार्यों का पराभव चित्रित करना ही रहा होगा; उसकी झलक रामायण के इस रूप में भी जहाँ-तहाँ मिलती है। जब बालि राम के

छिपकर तीर मारने की निन्दा करता है, तब राम उसे यही उत्तर देते हैं कि सारी पृथ्वी आर्यों की है; धर्म-अधर्म का विचार वही कर सकते है; अनार्यों को इस पर विवाद करने का अधिकार नहीं है। परन्तु वाल्मीकि का लक्ष्य अनार्यों को राक्षस-रूप में और आर्यों को देव-रूप में चित्रित करके उन्हें ऊँचा नीचा दिखाने का नहीं है। उनके बालि, रावण, मेघनाद आदि से सहानुभूति होती है और राम, दशरथ, लक्ष्मण, आदि में गुणों के साथ मानवीय दुर्बलताओं का भी समावेश है।

जिस कविने महाकाव्य-रूप में इस समूची गाथा की कल्पना की थी, उसमें असाधारण करुणा और जीव-मात्र के प्रति उत्कट सहानुभूति थी, इसमें सन्देह नहीं। इस काव्य में एक अनोखी बात यह है कि इसके आरम्भ में किसी देवी-देवता की वन्दना नहीं है। कवित्व का जन्म भी इन्द्र या वरुण की उपासना में नहीं माना गया वरन् क्रौंच पक्षी के मारे जाने से, उसकी संगिनी के आर्तनाद से, ऋषि के हृदय में उत्पन्न होनेवाले क्रोध और करुणा से माना गया है। शोकः श्लोकत्वमा प्रगतः—कवि के शोक को ही श्लोक का रूप मिल गया। इस शोक से उत्पन्न होनेवाली कविता को राज-दरबार की नटी नहीं बनाया गया; न वह देवों की अर्चना में लिखा हुआ किसी पुरोहित का गीत है। इस गाथा को चारों वर्ण पढ़ते हैं और उनसे उनका कल्याण होता है। यद्यपि राम ने शंबु को मारा था, फिर भी वाल्मीकि ने रामायण पढ़ने में शूद्रों का निषेध नहीं किया। उन्होंने कहा है—जनश्च शूद्रोपि महत्त्वमीयात्: शूद्र भी इसे पढ़कर बड़ा बन सकते हैं। रामायण की कथा सुनकर वनवासी ऋषि आँसू बहाते हैं और लव-कुश को कमंडल, मेखला, कौपीन आदि भेंट करते हैं। वियोगी राम के लिये तो सबसे बड़ा प्रायश्चित्त यही होता है कि उन्हें अपने ही पुत्रों से बिना जाने हुए अपनी दुखद जीवन-कथा सुननी पड़ती है। उन्हें

सीता के गुणों की याद आती है, सीता के जीवन से मिली हुई अपने जीवन की समस्त घटनाओं का चित्र उन्हें देखना पड़ता है, लेकिन वह दुखी होकर आँसू ही बहा सकते हैं ; सीता को पा सकना असंभव है। कहानी की इस पृष्ठ-भूमि में उसकी करुणा और भी निखर उठती है।

इसमें सन्देह नहीं कि रामायण एक दुःखान्त कहानी है और उसका अन्त है वैसा ही है जैसा किसी बड़े-से-बड़े दुःखान्त नाटक का हो सकता है। रामने पिता की आज्ञा मानकर अयोध्या को छोड़ा; बन में उन्होंने कष्ट सहे और सीता के वियोग की यंत्रणा सही; युद्ध में भाई लक्ष्मण को शक्ति लगी और सीता मिली तो उसके साथ जीवन भर के लिये जनापवाद भी मिला। अयोध्या में आकर वह सुखी न रह सके; उन्हें सीता को बनवास देना पड़ा। जब यज्ञ के बाद सीता के फिर मिलने का अवसर आया और जनता एक स्वर से सीता की पवित्रता स्वीकार करने लगी, तब सीता ने राम से एक शब्द भी न कहा वरन् अपने जीवन का समस्त अपमान और कष्ट लिये हुए पृथ्वी में समा गयीं। राम का जीवन अंधकारमय हो गया। अंत में काल आया और उससे बात करते समय लक्ष्मण को दुर्वासा के आने का समाचार देना पड़ा। लक्ष्मण को दंड-स्वरूप निर्वासन मिला और सरयू के किनारे श्वास रोककर उन्होंने अपना प्राणान्त किया। राम के बाद उनके उत्तराधिकारी अयोध्या पर राज्य करते रहे परन्तु आगे चल कर अयोध्या उजाड़ हो गई और कई पीढ़ियों तक वह उजाड़ बनी रही। महानाश के चित्र के साथ इस आदि काव्य का अन्त होता है। अयोध्यापि पुरी रम्या शून्या वर्ष-गणान् बहून्। केवल महाभारत में जिस अन्तिम दृश्य से पटाक्षेप होता है, वह भी ऐसा ही अन्धकारपूर्ण है।

रामायण की सबसे करुण घटना सीता का वनवास है। इसके

आगे राम का वन-गमन फीका पड़ जाता है। राम के साथ लक्ष्मण और सीता भी गये थे और इनके साथ रहने से राम को अयोध्या की याद बहुत न आती थी। लेकिन गर्भिणी सीता को धोखा देकर उनका वन में त्याग करना ऐसी हृदय-विदारक घटना है जिससे राम के वनवास की तुलना की ही नहीं जा सकती। रामायण की इसी घटना को लेकर उत्तर राम-चरित और कुन्द माला जैसे महा-नाटकों की रचना की गई है। लेकिन सीता के त्याग में जिस क्रूरता का आभास आदि-कवि ने दिया है, परवर्ती कवि उसकी छाया भी नहीं छू सके। गोमती के किनारे दुख से बेहोश होकर सीता के गिर पड़ने में जो स्वाभाविकता है, परवर्ती कवि अपने अलंकृत वर्णनों में उसे नहीं पा सके। सीता एक वीर नारी हैं। राम के वनवास के समय उन्होंने बड़े दर्प से कहा था—अग्रतस्तं गमिष्यामि मृद्‌न्ती कुशकंटकान्। वह कुशकांटों को रौंदती हुई राम के आगे चलने का साहस रखती हैं। उनमें नारी दुर्बलताएँ, क्रोध और संदेह भी हैं। इसीलिये उन्होंने लक्ष्मण से कटुवचन कहे थे। इससे उनकी मानवीयता ही प्रकट होती है। राम की कातर पुकार सुनकर भय और चिन्ता के एक असाधारण क्षण में वह ऐसी बात कह बैठती हैं।

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोःप्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेनवा॥

इसके साथ वह अपना निश्चय भी प्रकट कर देती हैं कि वे भस्म हो जाएँगी लेकिन लक्ष्मण के हाथ न जायेंगी। अपनी इस दुर्बलता से सीता पाठक की सहानुभूति नहीं खो देती, उनकी कटूक्ति नियति का व्यंग्य बन कर उन्हीं की व्यथा को और तिक्त बना देती है जब लक्ष्मण के बदले रावण ही आकर उनका हरण करता है।

रावण की पराजय तक उन्होंने किसी तरह दिन काटे लेकिन उनके अपमान और दुख के दिन तो अब आने वाले थे। सीता

के चरित्र में शंका प्रकट करने वाले सबसे पहले स्वयं राम थे, न कि अयोध्या की जनता। जब विभीषण सीता को लिवा कर लाये, तब राम ने कहा—"राक्षस तुम्हें हर ले गया, यह दैव का किया हुआ अपमान था; उस अपमान को मनुष्य होकर मैंने दूर कर दिया।" लेकिन भौंहें चढ़ा कर क्रोध से तिरछे देखते हुए उन्होंने फिर कहा—"मैंने जो कुछ युद्ध जीतने के लिये किया है, वह तुम्हारे लिये नहीं, वरन् अपने चरित्र और वंश की कीर्ति की रक्षा के लिये। इस समय तुम संदिग्ध चरित्रवाली मुझे वैसी ही लगती हो जैसे नेत्र-रोगी को दिया लगता है। मुझे तुमसे कोई काम नहीं है; तुम्हारे लिये दशों दिशाएँ पड़ी हैं, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, जाओ। उच्च कुल में पैदा होनेवाला व्यक्ति दूसरे के घर में रहने वाली स्त्री को कैसे स्वीकार कर लेगा? जिस यश के लिये मैंने यह सब किया, वह मुझे मिल गया है। तुम लक्ष्मण, भरत, सुग्रीव या विभीषण किसी के साथ भी रह सकती हो। तुम्हारा दिव्य रूप देखकर और अपने घर में पाकर रावण ने तुम्हें कभी क्षमा न किया होगा।"

राम की बातें सीता का ही नहीं लक्ष्मण, सुग्रीव आदि का भी घोर अपमान करती थीं। कहाँ लक्ष्मण की निष्काम तपस्या और कहाँ राम की यह कल्पना! फिर सीता की संचित आकांक्षाएँ और उन पर यह अयाचित तुषारपात! यह अपमान भी वानरों और राक्षसों के बीच में हुआ! तब मुँह पर से आँसुओं को पोंछते हुए सीता ने धीरे-धीरे कहा—"वीर! तुम ग्रामीण जनों की तरह मेरे अयोग्य वाक्य मुझे क्यों सुना रहे हो? यदि विवश होने पर राक्षस ने मेरा शरीर छू लिया, तो इसमें दैवका ही दोष है; मेरा क्या अपराध? जो मेरे वश में है वह हृदय तुम्हारा है; शरीर पराधीन होने से मैं असहाय कर ही क्या सकती थी? जिस समय तुमने हनुमान को लंका भेजा था उसी समय तुमने मेरा त्याग क्यों न कर दिया?

तुम मेरा चरित्र भूल गये; और यह भी भूल गये कि मैं जनक की लड़की हूँ और धरती मेरी माता है। बाल्यावस्था में तुमने जो पाणिग्रहण किया था, उसे भी तुमने प्रमाण न माना। मेरी भक्ति, मेरा शील तुम सब कुछ भूल गये।" इस तरह कह कर सीता ने लक्ष्मण से चिता चुनने को कहा। दुर्भाग्य से अग्नि का साक्ष्य भी बहुत दिनों तक काम न आया।

एक बार सीता फिर राम के सामने आईं। वह वाल्मीकि के पीछे आँसू बहाती चल रही थीं और इस बार वाल्मीकि ने उनकी पवित्रता के लिये साक्ष्य दिया और यह भी घोषित किया कि लव-कुश रामचन्द्र की ही सन्तान हैं! उनके आने पर सभा में "हलहला" शब्द हुआ और लोग राम और सीता को साधुवाद देने लगे। वाल्मीकि ने सीता के निर्दोष होने की शपथ ली, लेकिन राम ने कहा—"मुझे सीता के निर्दोष होने में विश्वास है लेकिन जनापवाद के कारण मैंने उनका त्याग किया था।" इसका यही अर्थ था कि सीता को ग्रहण करने का कोई उपाय नहीं है। और अब क्या वह अपमान की सीमाएँ लाँघ कर राम और जनता से यह याचना करतीं कि उन्हें फिर ग्रहण कर लिया जाय? काषायवासिनी सीता ने आँखें नीची किये हुए और मुँह फेरे हुए ही हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"यदि मैं राम को छोड़ कर और किसी का मन में भी चिन्तन नहीं करती हूँ तो धरती मुझे स्थान दे!" उनकी शपथ के बाद पृथ्वी से सिंहासन निकला और उसी में बैठ कर वह अन्तर्धान हो गईं।

इस चमत्कारी घटना के पीछे नारी के उस दारुण अपमान की गाथा है जो अभी तक समाप्त नहीं हुई। महान् कवियों के हृदय में इस घटना के प्रति संवेदना उत्पन्न हुई है और उन्होंने इसे रामायण की मुख्य घटना मानकर उस पर नाटकादि रचे हैं। वाल्मीकि ने सीता-

वनवास की असह्य क्रूरता का अनुभव किया था और इसलिये उसका वर्णन रामायण के करुणतम स्थलों में से है।

इस कहानी से मिलती-जुलती राम-गमन के समय कौसल्या की व्यथा है।

कौसल्या इसीलिये दुखी नहीं है कि राम वन जा रहे हैं वरन् इसलिये भी कि पुत्र के रहने पर सपत्नियों के जिस अपमान को वह भूली हुई थीं, वह उन्हें फिर सहना पड़ेगा। इसमें कैकेयी का ही दोष न था; राजा दशरथ ही उनकी ओर से उदासीन हो गये थे। कौसल्या को अपने वन्ध्या होने के दिनों की याद आई। उन्हें लगा कि इस पुत्र वियोग से तो वही दिन अच्छे थे जब पुत्र हुआ ही न था। उन्होंने राम को याद दिलाया कि जैसे पिता बड़े हैं, वैसे ही वे बड़ी हैं; इसलिये उनकी आज्ञा मानकर उन्हें वन न जाना चाहिये। परन्तु राम ने यह सब न माना और वन चल ही दिये। तब जैसे बछड़ा मारे जाने पर भी गाय उससे मिलने की इच्छा से घर की तरफ़ दौड़ती है, वैसे ही कौसल्या राम के रथ के पीछे दौड़ीं।

प्रत्यागारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्।
बद्धवत्सायथा धेनुः राममाताभ्यधावत॥

ऐसे स्थलों के लिये सचमुच कहा जा सकता है कि शोकः श्लोकत्वमागतः।

करुणा के साथ क्रोध की भी उच्च कोटिकी व्यंजना हुई है। कौसल्या का दुख देखकर लक्ष्मण का पिता पर क्रोध, समुद्र की दुष्टता देखकर राम के वाक्य, कुंभिला में यज्ञध्वंस होने पर विभीषण के प्रति मेघनाद का उपालम्भ—ये सब इस महाकाव्य के स्मरणीय स्थल हैं। संवादों में ऐसी नाटकीयता महाभारत छोड़कर संस्कृत के और किसी काव्य में (नाटकों समेत) नहीं है। कौसल्या को विलाप

करती हुई देखकर लक्ष्मण ने कहा—"मुझे भी राम का इस तरह राज्य छोड़कर वन जाना अच्छा नहीं लगता। काम-पीड़ित होकर वृद्ध शक्तिहीन राजा इस तरह क्यों न कहे ? मुझे तो लोक-परलोक में ऐसा कोई भी नहीं दिखाई देता जो इस दोष की तुलना कर सके। देवता के समान, शत्रुओं को भी प्रिय, पुत्र का कौन अकारण त्याग कर देगा ? राजा फिर से बालक हो गये हैं, उनके चरित्र को जानने वाला कौन व्यक्ति उनकी बात मानने को तैयार हो जायगा ?" उन्होंने भाई से कहा—"लोग तुम्हारे वनवास की बात जानें, इसके पहले ही मेरे साथ तुम शासन पर अधिकार कर लो। धनुष लेकर मेरे साथ रहने पर तुम्हारा कोई क्या बिगाड़ सकता है ? यदि कोई विरोध करेगा तो मैं तीक्ष्ण बाणों से अयोध्या को जनहीन कर दूँगा !" फिर उन्होंने कौसल्या से कहा—"मैं धनुष की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं अपने भाई से प्रेम करता हूँ। यदि जलते हुए वन में राम प्रवेश करेंगे तो आप मुझे पहले ही उस वन में प्रविष्ट हुआ समझ लीजिये। देवि, आप मेरी शूरता को देखें; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार छुट जाता है, वैसे ही मैं आपका दुख दूर करूँगा। कैकेयी में आसक्त इस पिता का मैं नाश करूँगा जो बुढ़ापे में फिर बच्चों जैसी बातें कर रहा है:—

> हरिष्ये पितरं वृद्धम् कैकेय्यासक्तमानसम्।
> कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम्॥

यह चरम क्रोध का उदाहरण है। रामायण में सामाजिक नियम मानव-सुलभ सहृदयता के आड़े आते हैं; इनके विरोध और परस्पर संघर्ष से ही यह नाटक दुःखान्त बनता है। लक्ष्मण के विद्रोह में नियमों के प्रति वही तिरस्कार और मानवीय सहानुभूति का पक्षपात है।

रामायण के अनेक संवादों में व्यंग्य खूब निखरा हुआ है और

उसका उपयोग इसी मानवीय सहानुभूति को उभारने के लिये हुआ है। बालि-वध के उपरान्त तारा राम से कहती है, "जिस बाण से आपने बालि को मारा है उसी से मुझे भी मार डालिये और यदि आप समझें कि स्त्री को मारना अनुचित है तो बालि और मेरी आत्मा को एक जान कर अपना संशय दूर कर दीजिये।"

जब राम ने छिपकर बालिको मारा और उसके अनार्य होने से कोई पाप न हुआ, तब उसकी स्त्री को ही मारने में क्या पाप है! बालि की मृत्यु के बाद पाठक की सारी सहानुभूति तारा की ओर खिंच जाती है।

वाल्मीकि प्रतिपक्ष को बड़ा करके या उसे उसके उचित रूप दिखाने में कभी पीछे नहीं हटते। बालि और सुग्रीव के चित्रण में उन्होंने सुग्रीव को बड़ा करके दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। सुग्रीव एक तो छिपकर भाई की हत्या करवाता है; फिर राज्य पाने पर भाई की स्त्री के साथ ऐसा विलास में पड़ जाता है कि उसके प्रति पाठक की तनिक भी सहानुभूति नहीं रह जाती। लक्ष्मण का क्रोध बिल्कुल उचित जान पड़ता है।

रावण के शयनागार का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि वह एक भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध न लाया था। उसकी पत्नियाँ न पहले किसी की स्त्री रही थीं न उन्हें दूसरे पति की इच्छा थी। हनुमान ने सीता के और इन स्त्रियों के पति-प्रेम की तुलना तक कर डाली। उन्होंने कहा—"जैसी ये रावण की स्त्रियाँ हैं, वैसी ही यदि राम की पत्नी भी हैं (अर्थात् रावण उनका सतीत्व नष्ट नहीं कर सका), तभी उसका कल्याण है।" जिस समय हनुमान शिंशुपा की डाल पर बैठे थे, तभी धनुषबाण छोड़े हुए काम के समान रावण वहाँ उपस्थित हुआ। हनुमान स्वयं तेजस्वी थे; फिर भी

रावण का तेज उन्हें असह्य हो उठा। उन्होंने अपने को पत्तों के पीछे छिपा लिया।

स तथाप्युग्रतेजाः सन्निर्धूतस्तस्य तेजसा।
पत्रगुह्यान्तरे सक्तो हनुमान् संवृतोभवत् ॥

रावण के तेज का इससे बढ़ कर और क्या बखान हो सकता था? वाल्मीकि की तटस्थता और नाटकीय प्रतिभा का यह अकाट्य प्रमाण है।

एक स्थल और है जहाँ ऐसे ही संतुलन से उन्होंने चरित्र की विशेषता दिखाई है। राम के वनवास की अवधि में भरत उनकी पादुकाओं की अर्चना किया करते हैं। त्याग और निस्वार्थता के वे चरम उदाहरण हैं। राम और लक्ष्मण पर जब भी विपत्ति पड़ती है, तभी भरत के षड्यंत्र की गंध उन्हें मिलती है लेकिन जब अवधि पूर्ण हुई और भरत अपनी तपस्या के फलस्वरूप राम के दर्शन की बाट जोह रहे थे, तब अयोध्या के पास पहुँचकर रामने हनुमान से कहा कि वह भरत के पास जायँ और रावण-वध आदि का वृत्तान्त कहकर उनके आने की सूचना दें और देखें कि भरत के मुँह पर कैसे भाव प्रकट होते हैं। बाप-दादों का राज्य पाकर किसका मन विचलित नहीं हो जाता कवि ने राम के हृदय में यह शंका उत्पन्न करके भरत के त्याग में चार चाँद लगा दिये हैं।

जैसी निपुणता और भाव सम्बन्धी लाघवता इन संवादों में देख पड़ती है, वैसी ही चित्रमयता इस महाकाव्य के वर्णनात्मक स्थलों में भी है। तमसा के किनारे से लेकर जहाँ वाल्मीकि शिष्य से घड़ा रख देने को कहते हैं, रावण के शयनागार तक, जहाँ का सौंदर्य और वैभव वर्णनातीत है, कवि ने अपनी सजीव कल्पना का समान रूप से परिचय दिया है। उसकी उपमाएँ अनूठी हैं; लंबे वर्णन के बाद

दो शब्दों में वे एक अनुभूति को मानों संचित कर देते हैं। रावण के शयनागार के लिये लिखा है कि उसने हनुमान को माता के समान तृप्त किया।

रामायण के चित्रों में विराट और उदात्त भावना विद्यमान रहती है। उनमें एक विशेष प्रकार की गरिमा और वैभव है। स्वाभाविकता और लाघवता—संसार को देखने में उनकी कुशलता और चतुरता तो है ही। लंका में आग लगने पर वह लपटों के लिये कहते हैं कि कहीं तो वे किंशुक के फूलों जैसी, कहीं शाल्मली के फूलों जैसी और कहीं कुंकुम जैसी लगती है! राम-रावण युद्ध में ऐसे बहुत से चित्र देखने को मिलते हैं। जिस समय लक्ष्मण ने विभीषण पर आती हुई रावण की शक्ति अपने बाणों से काट डाली, उस समय वह काञ्चन-मालिनी शक्ति स्फुलिंग छोड़ती हुई आकाश में उल्का के समान पृथ्वी पर गिरी। पुनः रावण की अमोघ शक्ति वासुकि की जीभ के समान लक्ष्मण के हृदय में घुस गई। इस तरह की उपमाएँ इस महाग्रंथ में भरी पड़ी हैं।

जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण नकारात्मक नहीं है। उसे भोग-प्रधान कहना अनुचित न होगा। जिन ऋष्यश्रृंग ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराके दशरथ की पुत्रहीनता को दूर किया था, वे स्वयं शान्ता के पति थे और उसके पति होने के पहले वेश्याओं के आकर्षण में वन छोड़कर नगर की ओर गये थे। राम और सीता की प्रेम क्रीड़ाओं के वर्णन में कहीं झिझक नहीं है। रावण के शयनागार के वर्णन में तो सौन्दर्य और विलासिता का नन्द उमड़ चला है। स्त्रियों की विभिन्न मुद्राओं के वर्णन से खजुराहो कि नग्न प्रस्तर मूर्तियों की याद आ जाती है। भरत सेना लेकर भरद्वाज मुनि के आश्रम पहुँचते हैं तो उनके प्रभाव से सैनिकों के भोजन, पान और रति का प्रबन्ध हो जाता है। सीता की खोज करते हुए वानरगण जब विवर में प्रवेश

करते हैं, तब वहाँ भी लंका के समान वे एक काल्पनिक स्वर्ग में विहार करने लगते हैं और कुछ के मन में यह भी आता है कि वहीं रहना चाहिये; 'सीता की खोज करना व्यर्थ है। इस सबके साथ लक्ष्मण और हनुमान के चरित्र का भी आदर्श है। अपनी साधना और तेज में वे अद्वितीय हैं अथवा अपने ढंग के दो ही हैं। इन जितेन्द्रिय पुरुषों का मन भी कभी-कभी चंचल हो उठता है। हनुमान तृप्ति की भावना से रावण की स्त्रियों को देखते हैं यद्यपि जानते हैं कि ऐसा करना अनुचित है। लेकिन सीता का पता लगाना ही है; इसलिये और दूसरा उपाय नहीं है। लक्ष्मण ने नारी-विमुखता की हद कर दी है क्योंकि नूपुर छोड़कर उन्होंने सीता का मुँह भी नहीं देखा। अपने दूसरे वनवास के समय जब सीता ने कहा कि मुझ गर्भवती को एक बार देख लो, फिर राम के पास चले जाओ, उस समय लक्ष्मण ने उत्तर दिया—"शोभने, आप मुझसे क्या कह रही हैं? मैंने अब तक आपका रूप नहीं देखा, केवल चरण देखे हैं। इस वन में जहाँ राम नहीं हैं, मैं आपको कैसे देखूँ?" क्या यहाँ पर पाठक (और उसके साथ कवि भी) यह नहीं चाहता कि लक्ष्मण अपने दमन को इस सीमा तक न ले जाते? यह लक्ष्मण और सीता का अंतिम संवाद था और लक्ष्मण सीता की अंतिम इच्छा पूरी न कर सके।

सुग्रीव ने अवधि बीत जाने पर भी जब वानरों को सीता की खोज के लिये न भेजा तो लक्ष्मण क्रोध में उसकी भर्त्सना करने चले। वहाँ पर निवास में उन्होंने रूपयौवनगर्विता बहुत सी स्त्रियों को देखा। तब उनके नुपूरों और करधनियों का शब्द सुनकर महा-क्रोधी लक्ष्मण के मन में व्रीड़ा-भावका उदय हुआ।

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निनदंतथा।
सन्निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितो भवत्॥

इस लज्जा से बचने के लिये उन्होंने जोर से धनुष के रोदे

को टंकारा, जिसके शब्द में वह कूजन-रणन डूब गया। सहारा लेना यही बतलाता है कि दमन का मार्ग एकदम समतल थीं।

सुग्रीव की हिम्मत न पड़ी कि वह स्वयं लक्ष्मण से मिलें, इसलिये उन्होंने तारा को भेजा। तारा शराब पिये हुए थी; इसलिये बिना लज्जा के, अपनी दृष्टि से लक्ष्मण को प्रसन्न करती हुई, प्रणय-प्रगल्भ वाक्य बोली। उसके निकट आने से लक्ष्मण का क्रोध दूर हो गया (स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्त कोपः)। तारा ने बड़े स्नेह से लक्ष्मण के क्रोध का कारण पूछा और लक्ष्मण ने वैसे ही स्नेह से (प्रणयदृष्टार्थ) उसका उत्तर दिया। यह सब कहने से कवि का एक ही लक्ष्य सिद्ध होता है—उसके चरित्र श्वेत या कृष्ण न होकर मानवीय हैं और इसी में सत्य और कला के सहज दर्शन होते हैं।

दो शब्द भाषा और छंद के बारे में कहना आवश्यक है। कवि ने कल्पना की है कि दो बालक इस गाथा को वीणा पर गाते हैं; श्लोकों की गेयता में सन्देह नहीं; परन्तु वैसे पढ़ने में भी उनका प्रवाह अविराम धारा की भाँति पाठक को आगे बहाता जाता है। इसकी संस्कृत की विशेषता यह है कि उसमें बोलचाल की स्वाभाविकता है। संवादों में एक कलात्मक गठन है जिसमें सबसे प्रभावशाली भाग अन्त में आता है, जैसे सीता की अंतिम प्रार्थना में कि लक्ष्मण उन्हें देखें और लक्ष्मण के क्रोध में जब वे पिता को मारने की बात कहते हैं। भाषा का प्रवाह संवादों की इस स्वाभाविकता के लिये अत्यावश्यक है। बीच बीच में और विशेष कर सर्गों के अन्त में बड़े छंद हैं जिनके चित्रमय वर्णन और मधुर शब्दावली साधारण श्लोकों से भिन्न एक विचित्र सौंदर्य लिये होते हैं। वन-गमन के समय कौसल्या के निषेध करने पर रामचन्द्र के रोष का वर्णन ऐसे ही एक छंद में है :—

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमिव प्रविष्टः
भूयः प्रजज्वाल विलापमेवं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥

इसी प्रकार जब मदविह्वला तारा लक्ष्मण के पास आती है :—

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्ब काञ्चीगुण हेमसूत्रा ।
सुलक्षणा लक्ष्मण सन्निधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः ॥

परवर्ती कवियों ने भाषा को और संस्कृत किया है, उपमाओं में और विचित्रता लाये हैं, उनकी नक्काशी और रंगामेज़ी में और बारीकी आ गयी है। लेकिन वे मानव-हृदय में उतना गहरे नहीं पैठे जितना आदि-कवि; आदि कवि और उनका अन्तर समुद्र और बावड़ी का सा है। उन कवियों के सामने लक्षण ग्रन्थ पहले हैं, मानव हृदय बाद को है; वाल्मीकि के लिये इन ग्रन्थों का अस्तित्व ही नहीं है। उन्होंने, नायक में अमुक गुण होने चाहिये, और कथा में प्रभात और संध्या वर्णन होना चाहिये, यह सोचकर रामायण नहीं लिखी। वह कुशल कथाकार हैं, अपनी कथा की नाटकीय परिस्थितियों को खूब पहचानते हैं, मानव हृदय की करुणा और रोष से उन्हें सहज प्रीति है, इसलिये उनकी कथा जनसाधारण के हृदय को स्पर्श करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने देव-काव्य की स्पर्धा में इस मानव-काव्य की रचना की है। राम ने बड़े गर्व से सीता से कहा है, दैव ने जो अपमान किया था, उसका मनुष्य होकर मैंने प्रतिकार किया है। राम उनके आदर्श चरित्र हैं और इस आदर्श का मूलमंत्र है, सामाजिक विधान की रक्षा। लेकिन यह सामाजिक विधान ऐसा कठोर था कि मनुष्य की कोमल भावनाओं

से उसकी मुठभेड़ होती थी। कवि की पूर्ण सहानुभूति इन कोमल भावनाओं के साथ थी यद्यपि तर्कबुद्धि उन्हें दूसरी ओर खींचती थी। यह संघर्ष ही रामायण की नाटकीयता का मुख्य कारण है और उसी से इस काव्य में करुण और उदात्त भावों की सृष्टि होती है।

नैतिकता की कसौटी पर राम सीता को वन भेज देते हैं और इसी नैतिकता के कारण राम स्वयं वन जाते हैं। लेकिन कवि की सहानुभूति रोती हुई कौसल्या के साथ है या वृद्ध कामातुर दशरथ की प्रतिज्ञा के साथ; वह अपवाद के भय से गर्भवती सीता के वन जाने से संतुष्ट होते या राम के साथ उनके अयोध्या में रहने से,—इसमें किसे संदेह हो सकता है ? उनकी यह सहानुभूति ही उनकी महत्ता का कारण है। उनका क्रोध इसी का एक अंग है। लक्ष्मण क्रोध से पागल होकर पिता का वध करने को उद्यत होते हैं, इसीलिये कि कौसल्या का दुख उनसे देखा नहीं जाता। अपनी इन मौलिक भावनाओं के बल पर ही रामायण का रचनाकार उस पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ गया है। बहुत से अंश प्रक्षिप्त से लगते हैं और होंगे भी, लेकिन रामायण के सभी महत्वपूर्ण स्थलों में हम एक ही कुशल कविकी लेखनी का चमत्कार देख सकते हैं। जिस कविने क्रौञ्च के दुख से पीड़ित होकर मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं आदि वाक्य कहे थे, वही राम के मुँह में कहला सकता था—दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः।

वाल्मीकीय रामायण आदि काव्य हो चाहे न हो, वह ऐसा काव्य अवश्य है जिसे हम अपनी काव्य-संस्कृति का आदि-स्रोत मानने में गर्व का अनुभव करेंगे। परवर्ती कवियों ने उसके अंशों को लेकर जिस प्रकार काव्य-रचना की है, उससे उसके आदि काव्य होने की सम्भावना और दृढ़ होती है।

सितम्बर '४५

"अनामिका" और "तुलसीदास"

हिन्दी में साहित्य-प्रकाशन का ढंग कुछ ऐसा है कि जब कविता की पुस्तकें छपती हैं तब वे एक दम ही नवीन नहीं रहती। इसका कारण यह है कि कविताएँ अधिकांश मासिक पत्रों आदि में पहले से छप जाती हैं, फिर इन पत्रों से छप कर उनका पुस्तकों में समावेश होता है और तब तक वे काव्य के पाठकों के लिए नवीन नहीं रहतीं। हाल में निराला जी की दो नई पुस्तकें लीडर प्रेस से प्रकाशित हुई हैं, 'अनामिका' और 'तुलसीदास'। यदि ये पहले-पहल यहीं प्रकाश में आई होतीं तो निश्चय वह हमारे साहित्य की एक विशेष घटना होती। 'अनामिका' में कुछ 'मतवाला' काल की और कुछ बाद की कविताएँ संगृहीत हैं। पत्रों के ढेरों से निकल कर एक साथ पुस्तक रूप में अब ये हमारे और निकट आ गई हैं। 'तुलसीदास' उनको लंबी कविता 'सुधा' में कई वर्ष हुए क्रमशः छपी थी। पुस्तक रूप में अब वह भी सुलभ हुई है।

नई और पुरानी कविताओं के एकत्र होने से 'अनामिका' में स्वभावतः विचित्रता आ गई है! निराला के कई कंठस्वर एक साथ यहाँ सुनने को मिलते हैं। 'खँडहर के प्रति' में एक नवयुवक कवि का रोमांटिक रूप देखने को मिलता है; इसी तरह 'दिल्ली' अपने गत गौरव के स्वप्न के कारण उसे आकर्षित करती है। 'परिमल' संग्रह में ऐसी कविताएँ छोड़ दी गई थीं; यहाँ प्रकाशित होने से वे कवि के विकास पर नया प्रकाश डालती हैं। 'परिमल' में सस्ती नवयुवकोचित रोमांटिक भावना खोजने से ही मिलती है; यहाँ वह पहले की कविताओं में प्रचुरमात्रा में विद्यमान है।

एक दूसरी बात जो इन पहले की रचनाओं में हमें आकर्षित करती है, वह भाषा का ओजपूर्ण मुक्त प्रवाह है। यहाँ पर कवि ने अपनी विशिष्ट भाषा की रचना नहीं की है; जो भाषा उसे प्रचलित मिली है उसी में अपने पुरुषार्थ से उसने नया जीवन डाला है। छंद ज़्यादातर मुक्त हैं और उनकी रचना में वह संयम नहीं दिखाई देता जो 'परिमल' की इस प्रकार की कविताओं की विशेषता है। इन कविताओं में कवि का वह विकासोन्मुख रूप मिलता है जो बाधाओं और साथ-साथ कला की बारीकियों की चिन्ता न करता हुआ अपनी प्रतिभा की खोज में चलता है। यह स्पष्ट दिखाई देता है कि साहित्य के अध्ययन का यहाँ प्रभाव नहीं है, न पुरानी साहित्यिक रूढ़ियों के ही संपर्क में वह आया है; यदि निराला जी के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जा सके तो कहेंगे कि इन कविताओं में उनका अल्हड़पन है।

पुरानी कविताओं के अतिरिक्त बाद की अनेक रचनाएँ यहाँ ऐसी हैं जो इस पुस्तक के महत्त्व का कारण हैं। इनमें से एक 'राम की शक्ति पूजा' है जो 'तुलसीदास' को छोड़ कर उनकी श्रेष्ठ कृति है। यह एक लंबी कविता के रूप में है जिसमें किसी पुरानी घटना को लेकर पात्रों को एक नये मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से चित्रित किया गया है। इसका उल्लेख 'रूपाभ' में प्रकाशित एक दूसरे लेख में कर चुका हूँ। 'सरोजस्मृति' अपने ढंग की अनूठी कविता है; इसे 'एलेजी' कह सकते हैं परन्तु उस प्रकार की कविताओं की यथार्थ से दूर रहने वाली रूढ़िप्रियता इसमें नहीं आ पाई। इसका भाव-चित्रण जितना मर्मस्पर्शी है, उतना ही संयत भी। वह दिन दूर दिखाई देता है जब कोई अन्य कविता इससे हिन्दी की श्रेष्ठ 'एलेजी' होने का दावा छीन लेगी।

'सम्राट् एडवर्ड अष्टम् के प्रति', 'वनबेला' और 'नरगिस' एक दूसरे ढङ्ग की रचनाएँ हैं। इनमें कवि की अलंकारप्रियता दर्शनीय

है जो 'मतवाला' काल की कविताओं के स्वच्छ भाव प्रवाह के प्रतिकूल है। 'सम्राट्' वाली कविता में सानुप्रास मात्रिक मुक्त छंद का प्रयोग हुआ है; आलंकारिकता के होते हुए भी ओज पूर्ण मात्रा में विद्यमान है और यह विशेषता हमें 'तुलसीदास' की याद दिलाती है। 'वनबेला' में अलंकारप्रियता अपनी सीमा को पहुँच गई हैं; यहां तक कि जब 'वनबेला' एक लम्बे मुखबंध के बाद अतल की अतुलवास लिए ऊपर उठती है तो हम भी एक सुख की साँस छोड़ देते हैं। 'नरगिस' में इसी वृत्ति को खूब दबाकर रखा गया है और इस लिए प्रकृति चित्रण में वह निराला जी की श्रेष्ठ कविताओं में अपना स्थान बनाती है।

'तट पर उपवन सुरम्य, मैं मौन मन
बैठा देखता हूँ तारतम्य विश्व का सघन,
जान्हवी को घेर कर आप उठे ज्यों कगार
त्योंही नभ और पृथ्वी लिये ज्योत्स्ना ज्योतिर्भार,
सूक्ष्मतम होता हुआ जैसे तत्व ऊपर को
गया श्रेष्ठ मान लिया लोगों ने महाम्बर को
स्वर्ग त्यों धारा से श्रेष्ठ, बड़ी देह से कल्पना,
श्रेष्ठ सृष्टि स्वर्ग की है खड़ी सशरीर ज्योत्स्ना।'

छंद की धीमी गति उस मानसिक स्थिति को चित्रित करने के लिए उपयुक्त है जहाँ विचारों को प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होने के लिए छोड़ दिया जाता है और वे अपनी गतिविधि उसी सौंदर्य के इंगितों पर ही निश्चित करते हैं। भाषा की प्रौढ़ता 'विश्व का तारतम्य सघन' आदि में देखने को मिलती है; अर्थ के अतिरिक्त संकेत की मात्रा शब्दों में पूर्णरूप से भर गई है।

और इन्हीं के साथ निराला-तत्व की निर्देशक 'तोड़ती पत्थर' 'खुला आसमान' 'ठूँठ' आदि कविताएँ हैं जहाँ मानों अपने ही

शब्द-माधुर्य को कवि चुनौती देकर कहता है, मैं 'दंत कटाकटेति' भी लिख सकता हूँ।

'लोग गाँव-गाँव को चले,
कोई बाज़ार कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघिया-लँगोटा ले; सँभले,
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान।'

फिर भी युग की प्रगति देखते ऐसा जान पड़ता है कि नौजवानों को यह कर्कशता और भाषा का यह ठेठपन ही आगे अधिक प्रभावित करेगा।

'अनामिका' में कुछ छोटी कविताएँ और गीत हैं, 'अपराजिता' 'किसान की नई बहू की आँखें' 'कहा जो न कहो' 'बादल गरजो' आदि जो उनके गीति-काव्य का निखरा सौंदर्य लिए हुए हैं। जो प्रतिभा 'राम की शक्ति पूजा' सी कविता का बंधान बाँध सकती है, वह इन छोटी छोटी रचनाओं में भी अपना लाघव प्रदर्शित करती है। खेल-खेल में जैसे किसी कारीगर ने एक महल बनाते हुए स्वांतः-सुखाय कुछ खिलौने भी बना डाले हों जो छोटे होने से दृष्टि द्वारा शीघ्रता से ग्रहण किए जा सकते हैं और सुन्दर भी लगते हैं।

'तुलसीदास' में हम एक नए धरातल पर आते हैं। पहले-पहल इसकी भाषा-क्लिष्टता ही पाठक का ध्यान खींचती है। कहाँ गोस्वामी तुलसीदास की सरल ललित पदावली और कहाँ यह 'प्रभापूर्य' और 'सांस्कृतिक सूर्य'! भाषा को इतना ज्यादा क्यों तोड़ा मरोड़ा गया है? पहले तो भाषा की दृष्टि से स्वयं गोस्वामी तुलसीदास सर्वत्र ही ललित और सरल नहीं हैं; 'विनय पत्रिका' में अनेक स्थानों पर उन्होंने संस्कृतबहुल और समासयुक्त पदों की रचना की है; दूसरे निराला जी ने जिन मनोभावों को यहाँ चित्रित करने का प्रयत्न किया है, वे हिन्दी

के लिए नवीन थे, इसलिए उनके लिये उन्हें भाषा भी बहुत कुछ अपनी गढ़नी पड़ी है। तुलसीदास में उन्होंने जिस व्यक्ति की कल्पना की है वह निराला के अधिक निकट है, तुलसीदास के कम। फिर भी वह नितांत काल्पनिक नहीं है। रामचरितमानस में कवि को जो शांति मिली है, वह अवश्य ही एक भयानक संघर्ष के बाद मिली होगी। निरालाजी ने इसी संघर्ष की कल्पना की है। भावों का द्वंद एक ऐसी सतह पर होता है जिससे हम प्रायः अपरिचित हैं। 'तुलसीदास' का युद्ध उनके पुराने संस्कारों से है और उस समय की दासता को अपनाने वाली संस्कृति से। इस तरह तुलसीदास एक विद्रोही के रूप में आते हैं। पहले वे विरोधियों पर विजयी होना ही चाहते हैं कि रत्नावली का ध्यान उन्हें अपने मोह में बाँध लेता है। घटनाचक्र में यही रत्नावली उनकी दबी हुई प्रतिभा के मोक्ष का कारण होती है। कविता के सबसे ओजपूर्ण स्थल वे हैं जहाँ कवि अपने संस्कारों से युद्ध करता हुआ अंत में मोहित हो जाता है और बाद में जहाँ उसे रत्नावली का निष्काम अग्निशिखा की भाँति योगिनी का रूप देखने को मिलता है। अंत में विदा होते समय तुलसीदास को वह शांति मिलती है जिससे हठात् भास होने लगता है कि अब ये रामचरितमानस अवश्य लिखेंगे। निराला जी और तुलसीदास में एक सांस्कृतिक सामीप्य है, एक की अनुभूति में दूसरा सहज बँधा चला आता है। केवल निराला में अन्य विरोधी तत्व इतने ज़्यादा समाहित हैं कि उनका व्यक्तित्व उनके नायक से कहीं अधिक वैचित्र्यपूर्ण है। अवश्य ही गो० तुलसीदास के भक्त उनके लिए भी इस वैचित्र्य का दावा पेश न करेंगे; तुलसीदास महात्मा हैं, निराला में मनुष्यता अपने तीनों गुणों के साथ वर्तमान है और इस लिए वह हमारे अधिक निकट हैं।

जो लोग जनप्रियता को काव्य-सौष्ठव की कसौटी मानते हैं, उन्हें

'तुलसीदास' से निराश होना पड़ेगा। यह कविता जनप्रिय न होगी, यह आँख मूँदकर कहा जा सकता है; उसी प्रकार यह भी कि हिंदी कविता में वह निराला की कीर्ति का कारण एक अमर रचना के रूप में रहेगी। भारतीय स्तूपकला के किसी सुन्दर नमूने की भाँति लोग इसके वेश-विन्यास और अलंकृत वैचित्र्य को देखेंगे और वापस चले जाएँगे; उसमें रहेंगे नहीं; और संसार के काव्य साहित्य में ऐसे भव्य प्रासादों के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। दोनों पुस्तकों की छपाई और सजावट सुन्दर है; निरालाजी के कुछ दिन पहले के विरोध को देखते हुए उनकी पुस्तकों का यह नख-शिख भी उनके प्रति बढ़ते हुये आदर का चिन्ह जान पड़ता है।

मार्च '३६

हिन्दी साहित्य पर तीन नये ग्रन्थ

इधर तीन-चार वर्षों में हिन्दी साहित्य पर तीन थीसिस प्रकाशित हुए हैं जिनका ध्येय १६ वीं और २० वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य पर विशेष प्रकाश डालना है। पहला डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१६०० ई०) है। दूसरा डा० केसरीनारायण शुक्ल का 'आधुनिक काव्य-धारा'। तीसरा डा० श्रीकृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१६००-१६२५ ई०) है।

डा० शुक्ल के थीसिस का विषय केवल कविता है परन्तु उन्होंने उसकी पृष्ठ-भूमि का उल्लेख करते हुए १६ वीं शताब्दी के साहित्य पर भी बहुत-कुछ कहा है। डा० श्रीकृष्णलाल के थीसिस में आधुनिक हिन्दी कविता आ ही जाती है, इसलिये इन तीन ग्रन्थों में कई बातें समान है। इनमें साहित्य को समाज की गतिविधि के साथ परखने का प्रयास है परन्तु इतिहास को समझने और उसकी पृष्ठभूमि में साहित्य का मूल्य आँकने में अभी काफी उलझने हैं। इसके सिवा ये तीनों ग्रन्थ शुक्लजी से बहुत कम आगे बढ़ सके हैं और शुक्लजी का इतिहास पढ़ने पर इन तीनों ग्रन्थों के पारायण से हिन्दी-साहित्य का ज्ञान कितना बढ़ेगा, यह सन्देह का ही विषय रह जाता है।

(१)

पहले 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' को लेते हैं क्योंकि इसमें १६ वीं सदी के साहित्य का भी अध्ययन किया गया है। विषय प्रवेश के उपरान्त लेखक ने 'पूर्व-परिचय' में ब्रिटिश शासन और हिन्दी

गद्य के विकाश पर प्रकाश डाला है। आगे धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का उल्लेख है। पुनः गद्य, जीवनी-साहित्य, हिन्दी-ईसाई साहित्य, उपन्यास, नाटक और कविता पर विचार किया गया है। 'परिशिष्ट' में लेखक ने रीतिकालीन साहित्य की विवेचना की है।

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि देने का चलन अभी हाल में नहीं हुआ। यह प्रथा पुरानी है। परन्तु अब उन कारणों पर भी ध्यान देना चाहिये जिनसे बड़े-बड़े सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन सम्भव होते हैं। अब इतना कह देना काफी नहीं है—"आध्यात्मिकता के मूल तत्वों की भित्ति पर खड़ा हुआ वृहद् हिन्दू-जीवन प्राणहीन हो गया था। काल स्रोत ने उसका जीवन निस्तेज और निस्पन्द कर दिया था।" कालस्रोत का उल्लेख तो बाबा आदम से होता चला आ रहा है। इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर कालस्रोत का नाम लेना अपने अवैज्ञानिक भाग्यवाद का परिचय देना है।

डा० वार्ष्णेय की दृष्टि इतिहास के महापुरुषों की ओर जाती है परन्तु उन व्यापक आर्थिक कारणों को वे नहीं देख पाते जिनसे इन महापुरुषों का कार्य संभव होता है। उनके अध्ययन का परिणाम कुछ-कुछ इस प्रकार है—एक समय हिन्दू समाज गौरव के उच्च शिखर पर था। समय के प्रवाह से वह खाई में आ गिरा। वहाँ से उसे स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन ने उबारा। "पर उन्नीसवीं शताब्दी में ब्राह्म समाज और आर्यसमाज के प्रचार से अनेक हिन्दू धर्मावलम्बी जो ईसाई या मुसलमान हो गये थे, फिर से हिन्दू-धर्म की गम्भीर छाया के नीचे आ गये।" इस दृष्टिकोण में धार्मिकता अधिक है, ऐतिहासिकता कम। इस प्रकार तो राजा राममोहन और स्वामी दयानन्द के कार्यों का जो राजनीतिक और सामाजिक महत्व है, उसे भी हम न समझेंगे।

इसी प्रकार भक्तिकाल में सूर और तुलसी के साहित्य और उनकी विचार-धारा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि न समझने के कारण डा० वार्ष्णेय ने लिखा है कि धर्म ने "समाज के अस्तित्व को बनाये रक्खा" परन्तु "उसके बाद वह [समाज] जैसा था वैसा ही बना रहा।" और भी "उसे अवतारवाद का पाठ पढ़ाया गया। सन्तों ने अनहद का राग अलापा, तुलसी ने अवतारवाद की शिक्षा दी और सूर ने बच्चों से जी बहलाया।"

वास्तव में तुलसी ने जो रूप समाज को देना चाहा था, वही रूप उसका पहले भी न था। सामन्तवाद के कट्टर वातावरण में सन्त कवियों ने जिस उदार सामाजिक भावना को जन्म दिया, उसे लेखक ने बिलकुल भुला दिया है।

इस भ्रम के कारण ही उसने शृङ्गारी-साहित्य को अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया मान कर उसकी सफाई पेश की है और नये हिन्दी साहित्यिकों द्वारा जो उसकी उपेक्षा हुई है, उससे अपनी "मर्मान्तक पीडा" का उल्लेख किया है।

राज दरबार में नारी को क्या समझा जाता था, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। लेखक ने उस विलासी मनोवृत्ति को—जिसके अनुसार नारी एक क्रीत दासी से बढ़कर कुछ नहीं है—एक मनोवैज्ञानिक तथ्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। जितना अवैज्ञानिक प्रयोग "मनोवैज्ञानिक" और "वैज्ञानिक" शब्दों का होता है, उतना और किन्हीं शब्दों का नहीं। उदाहरण के लिये लेखक के अनुसार भारतेन्दुकाल में शृङ्गारी कविताओं के संग्रह निकलने लगे थे और इस काल में प्राचीन और तत्कालीन शृङ्गार साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन भी शुरू हो गया था।

संक्षेप में यह मनोविज्ञान इस प्रकार है। "मनोविज्ञान के आधुनिक विद्वानों की सम्मति में भी स्त्री एक प्रेमी के बाद दूसरा

प्रेमी चाहती है। यह समझना चाहिये कि इस प्रेम में विलासिता का अंश ही अधिक रहता है।"

विवाह हो जाने के बाद स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के लिये साधारण रह जाते हैं। "इस मनोवैज्ञानिक सत्य के प्रकाश में परकीया व्यभिचारिणी नहीं ठहरतीं। वैसे भी व्यभिचारिणी कही जाने वाली किसी स्त्री को घृणा और क्रोध की दृष्टि से देखना स्त्री जाति की मूल प्रकृति से अनभिज्ञता प्रकट करना है।"

सामन्तवादी और पूँजीवादी समाज के बन्धनों से यदि कुछ या अनेक स्त्री-पुरुषों को दमित इच्छाएँ व्यभिचार की ओर ले जाती हैं तो इससे यह 'शाश्वत सत्य' कैसे सिद्ध हो गया कि यह स्त्री या पुरुष की 'मूल-प्रकृति है ? स्त्री और पुरुष की प्रकृति बहुत कुछ उनके सामाजिक विकास के अनुसार बनी है। सामाजिक व्यवस्था की असंगतियों के कारण। मानव-प्रकृति में भी असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन असंगतियों को न समझ कर लेखक ने सामाजिक संघर्ष की एक असंगति को मनुष्य की मूल प्रकृति मान लिया है। असभ्य अवस्था से सामन्तवाद और क्रमशः पूँजीवाद और समाजवाद की ओर बढ़ने में कौनसा तत्व कम हुआ है, कौनसा बढ़ा है, यह अब सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह गई।

१६ वीं सदी के साहित्य में जन-आन्दोलन के प्रथम चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। लेखक ने भारतेन्दुकालीन साहित्यिकों की राजभक्ति का उल्लेख करते हुए उन्हें उत्तमवर्ग और उच्च मध्यम वर्ग का बतलाया है। अधिकांश हिन्दी लेखकों का जीवन उस समय कितने कष्टों में बीता था, इसे सभी जानते हैं। हिन्दी लेखकों ने हिन्दी सेवा के लिये सब कुछ कैसे फूँकताप दिया, इसे भी हम जानते हैं। अनजाने में उन्होंने उच्च वर्गों का प्रतिनिधित्व किया हो, यह दूसरी बात है। लेखक के विचार से "राजनीतिक भय के कारण उन्हें चुप रह जाना पड़ा।"

चार पृष्ठ बाद लेखक ने प्रतापनारायण मिश्र की "सर्बसु लिये जात अंगरेज" आदि पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं। राजनीतिक भय अवश्य था लेकिन हिन्दी लेखक दण्ड भय से चुप नहीं बैठे। उन्होंने देश-दशा का स्पष्ट वर्णन किया। और अंगरेजों को ठेठ भाषा में सीधी-सीधी सुनाईं। राज भक्ति का कारण झूठे वादे थे, लेकिन इस मरीचिका को भंग होने में देर न लगी थी।

साहित्य के विभिन्न अङ्गों की चर्चा में लेखक ने अनेक स्थलों पर एकांगी या काम चलाऊ आलोचना से काम लिया है। यह सभी जानते हैं कि भारतेन्दुकाल का सब से विकसित और पुष्ट साहित्यिक रूप निबन्ध का है। लेखक ने दो पृष्ठों में इस प्रसंग को समाप्त कर दिया है। वास्तव में लेखक निबन्ध साहित्य से भली भाँति परिचित नहीं है क्योंकि निबन्धों के संग्रह अभी प्रकाशित होने को हैं। परन्तु यदि कोई भारतेन्दु युग के निबन्ध-साहित्य को नहीं जानता तो वह भारतेन्दु युग को भी नहीं जानता।

नाटकों के बारे में वार्ष्णेय जी ने सामाजिकता और सामायिकता का इस प्रकार उल्लेख किया है मानों इनसे उच्चकोटि के साहित्य का कोई बैर हो। प्रहसनों की निन्दा के लिए उन्होंने काफी पृष्ठ दे दिये हैं परन्तु उस समय के नाटकों की सफलता का मूल्यांकन नहीं किया। कविता में रीति-कालीन परम्परा पर चलते हुए भी उस समय के लेखकों ने एक नये जन-साहित्य की नींव डाली थी। इसके सिवा भारतेन्दु, प्रेमघन आदि ने कविता में नयी व्यक्तित्व-व्यञ्जना (नगद दमाद अभिमानी के आदि) और वर्णनात्मक रचनाएँ भी कीं। लेखक ने इनका भी यथोचित मूल्यांकन नहीं किया।

इन सब कारणों से पुस्तक को पढ़ लेने के बाद यही धारणा होती है कि लेखक के 'मनोविज्ञान' के सिवा इसमें नवीन सामग्री बहुत नहीं है जो हिन्दी-साहित्य के अध्ययन को आगे बढ़ाये।

(२)

'आधुनिक काव्य-धारा' को पढ़कर सहसा हिन्दी के आलोचना-साहित्य पर अभिमान हो आता है। वह इस कारण कि इससे अच्छी किताबें आये दिन हिन्दी-माता के भण्डार की श्रीवृद्धि किया करती हैं। शब्दाडम्बर खूब है, ग़नीमत है कि अर्थाडम्बर का अभाव है।

इस पुस्तक में रीतिकाल और भारतेन्दु-युग के काव्य-साहित्य का विहंगावलोकन करने के बाद लेखक ने द्विवेदी युग और उसके बाद की कविता का मूल्यांकन किया है।

रीतिकालीन साहित्य की निन्दा करने में लेखक ने उन्हीं बातों को दुहराया है जिन्हें और लेखक भी कह चुके हैं। परन्तु इसे दोष नहीं माना जा सकता। दोष यह है कि एक ही बात को इस पुस्तक में भी कई बार दोहराया गया है।

भारतेन्दु-युग की विवेचना करते हुए लेखक ने नये साहित्य की पृष्ठभूमि की अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। 'कालस्रोत' से सन्तोष न करके उन्होंने लिखा है कि "सन् सत्तावन के उपद्रव से बहुत से रजवाड़े लुप्त हो गये थे और अनेक देशी रजवाड़ों की शक्ति क्षीण हो गई थी। कवियों के आश्रयदाता भी नहीं रह गये थे, इसलिये जहाँ रीतिकाल के कवि अपने लौकिक पालकों को प्रसन्न करके पुरस्कार पाने के लिये लालायित रहते थे, वहाँ इस उत्थान के कवियों और लेखकों को केवल जनता से ही प्रशंसा की आशा थी।" वास्तव में भारतेन्दु-युग में जो नव-जागरण दिखाई देता है, उसका मूल कारण सामन्तवाद का ह्रास और साहित्य का उससे सम्बन्ध-विच्छेद है। डा० वार्ष्णेय ने इस साधारण ऐतिहासिक तथ्य को भली-भाँति ग्रहण नहीं किया।

सामन्तवाद से सम्बन्ध तोड़कर उस युग के साहित्यिक जनता

को ओर मुड़े परन्तु जनता और उनके बीच में एक तीसरी शक्ति और थी—ब्रिटिश साम्राज्यवाद। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा की, साथ ही जनता के दुख दर्द की कहानी भी कही। डा० शुक्ल के विचार से राजभक्तिपूर्ण कविताएँ कोरी चाटुकारिता नहीं हैं। "ब्रिटिश शासन की नयी सुविधाओं और विज्ञान के नूतन आविष्कारों से कवियों तथा जनता दोनों को मति आच्छादित थी। इसी से भारतेन्दु-युग की जनता और कवि, ब्रिटिश राज का गुणगान करते थकते नहीं थे।" यह केवल आंशिक सत्य है। स्वयं भारतेन्दु अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने लिखा था कि विज्ञान के नये आविष्कारों से देश पूरा लाभ नहीं उठा पा रहा। देश में उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हो पा रहा। इसीलिये जनता की मति ब्रिटिश राज की कारगुजारी से अच्छादित न हुई थी वरन् उसके वादों से हो गई थी। इसीलिये "ब्रैडला स्वागत" जैसी कविता में देश की दुर्दशा और राजभक्ति दोनों साथ-साथ चलती हैं। वास्तव में ब्रिटिश राज के वादों का भरोसा कुछ दिन में टूट गया और तब कविगण खरी-खरी कहकर दिल के फफोले फोड़ने लगा। आधुनिक साहित्य की विवेचना में दो एक बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि श्री "अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने प्रयोगों में कभी असफल नहीं हुए।" और—"प्रकृति का सजीव चित्र न उपस्थित कर उन्होंने पेड़ों के नाम गिनाये हैं।" और :—

"महादेवी वर्मा की रचनाओं में भी प्रवाह का अभाव है। यद्यपि संस्कृत की पदावली की ओर इनका अधिक झुकाव नहीं है और वे प्रभाव के लिये उर्दू के शब्दों को ग्रहण करती हैं तथापि इनकी भाषा में स्वाभाविक भाषा का प्रवाह और ओज नहीं है।" आखिर यह बात क्या हुई ?

"बंगला की देखा देखी" हिन्दी में भी छायावाद चल पड़ा,—

इस निष्कर्ष की सिद्धि के लिये एक थीसिस की आवश्यकता न थी। दस पाँच बंगला की पंक्तियाँ उद्धृत करके लेखक महोदय अपने मत की पुष्टि करते तो उनकी पुस्तक का अधिक महत्व होता।

प्रगतिशील कवियों की रचना को उन्होंने एकांगी कहा है परन्तु उन्हीं कवियों से प्रेम और प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के उदाहरण भी दिये हैं।

कुल मिलाकर लेखक के चिन्तन का धरातल बहुत नीचा है और पुस्तक में एकत्र की हुई सामग्री से हिन्दी साहित्य का अध्ययन एक पग भी आगे नहीं बढ़ता।

(३)

तीसरी पुस्तक में १६०० से १६२५ तक के हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया गया है। इस पुस्तक की विषय-कल्पना में ही एक मूल दोष है और वह यह कि द्विवेदी युग या छायावादी युग को अपने अध्ययन का विषय बनाकर हमने ऐसी सीमाएँ निर्धारित की हैं जो छायावादी काल का दो तिहाई भाग काट देती हैं। १६२५ में छायावादी युग का आरम्भ मात्र होता है। उसका पूर्ण विकास आगे चलकर होता है इसलिये प्रसाद, पन्त और निराला की कुछ रचनाओं को तो लिया गया है, कुछ को छोड़ दिया गया है। यही बात प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल, मैथिलीशरण जी गुप्त आदि के बारे में भी हुई है। इसलिये १६२५ की सीमा साहित्यिक विवेचना के लिये उचित नहीं थी।

इस पुस्तक का महत्व गद्य-शैली और गीतिरूपों के विश्लेषण में है। यद्यपि यह विश्लेषण काफी गहरा नहीं है; फिर भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहासकार इस ओर से उदासीन से रहते हैं। मुक्त छन्द और गद्य-पद्य के नये प्रयोगों के प्रति कुछ शास्त्रीय अध्ययन

का स्वाँग रचनेवालों में जो अवज्ञा और उनकी अनभिज्ञता होती है, उसका यहाँ अभाव है। लेखक ने सहानुभूति से छायावादी कवियों के प्रयोगों को समझने और उनके मर्म तक पैठने की कोशिश की है।

इस विश्लेषण में एक दोष है कि अत्यधिक उद्धरण देकर लेखक बहुधा उनकी प्रशंसा करके रह गया है। जैसे निरालाजी की सन्ध्या सुन्दरी की 'अनुपम सृष्टि' दिखाने के बाद लेखक ने इस कविता से प्रकृति चित्रण की शैलियों के प्रसंग को समाप्त किया है—'इसी प्रकार सुमित्रानन्दन पन्त का 'पल्लव' भी एक अनुपम सृष्टि है।' इस तरह के विशेषणों के प्रयोग से आलोचना अपने साधारण धरातल से भी नीचे आ गिरती है।

भूमिका में लिखा है—'आधुनिककाल यद्यपि शृंगारिक नहीं है तथापि इसमें शृंगार रस की कविताओं की भरमार है। सुमित्रानन्दन पन्त की 'ग्रन्थि' इस युग के उद्दाम यौवन का एक ज्वलन्त उदाहरण है।' परन्तु आगे चलकर प्रेम सम्बन्धी कविताओं की विस्तृत चर्चा करते हुए लिखा है—'सभी जगह प्रेम वासना-जनित आकर्षण से ऊपर उठा हुआ मिलता है।' तब क्या उद्दाम यौवन कोई आध्यात्मिक वस्तु है?

भूमिका में फिर लिखा है—'इस काल की शृंगार भावना विशुद्ध बुद्धिवादिनी है। वीर, शृंगार और भक्ति के अतिरिक्त करुणा और प्रकृति-चित्रण से पूर्ण कविताएँ भी इस काल में पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। किन्तु इन सभी कविताओं का आधार मानसिक है।' और भी—'आधुनिक साहित्य में वर्णित वस्तुओं का महत्व बुद्धि पर प्रभाव डालने के लिये है।' परन्तु आगे चलकर इन विषयों के विस्तृत विवेचन में लेखक ने बिल्कुल उल्टी ही बातें कही हैं।

पृष्ठ ६५ पर लिखा है :—'जिस प्रकार तुलसीदास और सूरदास इत्यादि भक्त कवि भक्ति को ही जीवन का तत्व मानते थे और बिना भक्ति के ज्ञान, मान और वैभव को तुच्छ समझते थे, उसी प्रकार आधुनिक प्रेमी कवि प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं।' इसके बाद गोस्वामी तुलसीदास की चौपाइयाँ उद्धृत करके वह कहते हैं—'प्रसाद भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर प्रेम के सम्बन्ध में कहते हैं।' इसके बाद चार पंक्तियों का उद्धरण है। यदि प्रसादजी गोस्वामीजी के स्वर में स्वर मिला सकते हैं तो बुद्धिवादी कौन है ?

ऐसे ही प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में लेखक का कहना है, अँगरेज़ी कवि वर्ड्स्वर्थ जिस प्रकार इन्द्र धनुष देखकर हर्षोद्रेक से पागल हो उठता था, हिन्दी के आधुनिक भावुक कवि भी प्रकृति का सौन्दर्य देखकर उन्मत्त हो उठते हैं ! सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है.......। तब क्या हर्षोद्रेक का आधार मानसिक है ? क्या प्रकृति का सौन्दर्य देखकर उन्मत्त हो उठने वाले कवि किसी की बुद्धि को प्रभावित करना चाहते हैं ?

राष्ट्रीय कविताओं के प्रसंग में डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है—"भारतवर्ष को जन्म-भूमि मानना हमने पश्चिम से सीखा।" यह खोज और भी महत्वपूर्ण होती यदि वे कहते कि भारतवर्ष का नाम भी हमें अँग्रेज़ों से मिला है। छायावादी कविता का जन्म भी उन्होंने अँग्रेज़ी प्रभाव से माना है। यही प्रभाव बँगला कविता से होकर भी आया परन्तु स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द का जो प्रभाव निरालाजी तथा पन्तजी पर पड़ा है, उसे डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने नहीं देखा। संस्कृति और मध्यकालीन कवियों के प्रभाव को भी उन्होंने नहीं आँका। हमारे आलोचक वस्तुस्थिति से अभी काफी दूर हैं, इसीलिये उनकी समीक्षा एकांगी होती है।

फिर भी डाक्टर श्रीकृष्णलाल की पुस्तक से नये साहित्य की अच्छी जानकारी होती है यद्यपि वह पूरी नहीं होती। उनका दोष यह है कि उन्हें अत्यधिक उद्धरणों से प्रेम है। उनका गुण उनकी विश्लेषण की क्षमता है जिसके विकास की यथेष्ट सम्भावना है। इसमें सन्देह नहीं, उनमें हम हिन्दी का एक सुन्दर आलोचक पा सकते हैं।

[१९४५]

'देशद्रोही'

कथाकार यशपाल का यह दूसरा उपन्यास है। पहला था—'दादा कामरेड'। उसका सम्बन्ध था आतंकवादियों के जीवन से। विज्ञापन के अनुसार वह शरत् बाबू के 'पथेर दाबी' का एक प्रकार से उत्तर था; आतंकवादियों के जीवन पर प्रकाश डालकर उनका सही चित्र पाठकों के सामने पेश करता था। उसकी भूमिका में लेखक ने स्पष्ट कर दिया था कि राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालना उसका मुख्य ध्येय था। शैल और हरीश के रोमांस ने इन समस्याओं को रङ्गीन बना दिया था। "देशद्रोही" का सम्बन्ध पिछले असहयोग-आन्दोलन—सन् '३० वाले—से लेकर महायुद्ध तक की राजनीतिक घटनाओं से है। रोमांस का रङ्ग पहले से कुछ गहरा ही है। चाहे जिस दृष्टिकोण से देखा जाय, यह उपन्यास 'दादा कामरेड' को बहुत पीछे छोड़ आया है। शरत् को पसन्द करनेवालों के लिए इसमें काफ़ी मसाला है। उन्हें 'दादा कामरेड' से असन्तोष हुआ भी हो तो इससे उन्हें आशातीत तृप्ति होगी। "पथेर दाबी" का ही आनन्द उन्हें यहाँ न मिलेगा; श्रीकान्त की आत्मकथा का रस भी उनकी आत्मा को शीतल करेगा।

उपन्यास खत्म करने पर •अरस्तू और कोलरिज की याद आ गई जिन्होंने कला और धोखे के मसले पर विचार किया है। अरस्तू ने शायद कहा था कि कला के लिये वैज्ञानिक सत्य की अपेक्षा नहीं है; पाठक या दर्शक को जँच जाय कि यह सच है तो उसी से काम चल जाना चाहिए। और कोलरिज ने छायालोक के प्राणियों को अपनी कल्पना से ऐसा सप्राण कर दिया था कि वे यथार्थ और

उससे बढ़कर मालूम पड़ने लगे थे। "देशद्रोही" उपन्यास का घटना-क्रम हमें अफ़ग़ानिस्तान से दक्षिण रूस तक की सैर कराता है लेकिन सच तो यह है कि जैसे कोलरिज का मेरिनर वर्ड्स्वर्थ के पीटर बेल से बढ़कर है, वैसे ही दूर देशों के उन सुंदर दृश्यों के आगे हिन्दुस्तान के दृश्य—जिनमें दिल्ली भी है—फीके लगने लगते हैं। दृश्य क्या, ग़ज़नी और समरकन्द की सुन्दरियों के आगे भारतवर्ष की महिलाएँ भी कुछ हीन-सी लगती हैं। पाठक इसी से इस उपन्यास की रोचकता का अन्दाज़ा लगा सकते हैं।

कथा का आरम्भ होता है "अजानी अँधेरी राह में" जहाँ कथानायक डा० भगवानदास खन्ना को कुछ वज़ीरी पकड़े लिये जा रहे हैं। खन्ना फ़ौजी डाक्टर यानी लेफ्टिनेन्ट डाक्टर खन्ना हैं। वज़ीरियों के प्रदेश के वर्णन में लेखक ने कमाल किया है। छोटे-छोटे बच्चों की पोशाक, काली नीली चादरें ओढ़े स्त्रियाँ, खूँटों से बेतरतीब बिना पिछाड़े के बँधे हुए खच्चर आदि-आदि का उल्लेख करके उसने अपने वर्णन को यथार्थ की सजीवता दे दी है और उसे यथार्थ से भी अधिक आकर्षक बना दिया है। इसके साथ डा० खन्ना की शारीरिक दुर्दशा, उसकी मानसिक उलझन, अपनी धर्मपत्नी राज का बार-बार याद आना आदि मनोवैज्ञानिक धरातल की वे बातें हैं जो सहृदय पाठकों के मर्म को सहज ही स्पर्श कर लेंगी। पठानों की बात-चीत, आपस का हिस्सा-बाँट, अंगरेज़ी राज्य की आलोचना, उनकी आत्मसन्तोषयुक्त ज्ञानगम्भीरता आदि वे बातें हैं जो उपन्यास में हास्य का पुट देकर उसे आकर्षक बनाती हैं।

दूसरा अध्याय "समय का प्रवाह" हमें खन्ना के विद्यार्थी-जीवन और दिल्ली के उस वातावरण से परिचित कराता है जिसमें वह पला और बढ़ा था। उसका एक साथी था शिवनाथ। कांग्रेस-आन्दोलन में जनता पर अत्याचार होते देखकर शिवनाथ का खून खौल उठा था

और खन्ना का साथ पाकर उसने बम बनाने की तैयारी की थी। परन्तु बिना "ऐक्शन" के ही वह चुङ्गी पर हाँड़ी में बम लिये हुए पकड़ा गया और अपनी बहन यमुना को निस्सहाय छोड़कर जेल भेज दिया गया। खन्ना डाक्टरी पढ़ने लगा और समय पाकर डाक्टर भी हो गया। शिवनाथ जेल से छूटने पर कांग्रेस में काम करने लगा। उसके सहायक थे बद्री बाबू जो कांग्रेस के दक्षिण दल के प्रतिनिधि हैं। शिवनाथ धीरे-धीरे कांग्रेस सोशलिस्ट हो जाता है। इन दो पात्रों को लेकर लेखक ने कांग्रेस की राजनीति का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है।

डा० खन्ना ने वज़ीरियों की कैद से छुटकारा पाने के लिये अपने भाई को रुपया भेजने के लिये लिखा परन्तु रुपया न आज आया न कल। दो-तीन पठान सुन्दरियाँ उसकी ओर अवश्य आकृष्ट हुई। इनमें एक थी इब्बा जो "आते-जाते अपनी सुरमा भरी बड़ी-बड़ी आँखों से डाक्टर की ओर कटाक्ष कर जाती।" परन्तु डाक्टर उन कटाक्षों से अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर रहा था। इसी लिये—"कभी कोई समीप देखने सुननेवाला न होता तो धीमे से कह जाती—हिश्त बोद्दा।" बोद्दा यानी नामर्द। इब्बा के नामकरण की सार्थकता पाठक आगे देखेंगे। इब्बा की एक सहेली थी नूरन। "वे एक दूसरे को दिखाकर डाक्टर से मज़ाक करतीं और हाथ का अँगूठा चूमकर संकेत करतीं।" डाक्टर कैदी होने से दूसरों की बेगार करता था। एक दिन उसकी बारी नूरन के यहाँ मक्का पीसने की थी। नूरन ने मौक़ा पाकर डाक्टर की बाँह पकड़ ली और कहा—अब ? "भय से डाक्टर का हृदय धक-धक करने लगा। नूरन ने डाक्टर को बाँहों में ले माथे पर दाँत मार दिया। नूरन के गले की चाँदी की भारी हमेल उसकी हँसली में चुभ गई। डाक्टर का चेहरा पुराने काग़ज़ की तरह पीला पड़ गया और शरीर पसीना-पसीना हो गया।" इसी तरह की घटन

शरत् बाबू के 'चरित्रहीन' में है जहाँ किरण दिवाकर को घसीटकर एक ही बिस्तर पर सुलाना चाहती है और वह बलि के बकरे की तरह मिमियाकर भागना चाहता है परन्तु भाग नहीं पाता। किरण सबेरे उससे कहती है—मैंने तुम्हारा ब्रह्मचर्य व्यर्थ ही नष्ट किया। परन्तु यहाँ उसकी नौबत नहीं आती। पठानिन चतुर थी। वह सब कुछ समझ गई—"उसे काँपते देख नूरन शिथिल हो पीछे हट गई। डाँटकर उसने कहा—'उठा ले जा गठरी! क्या देखता है?' गठरी ले जाते हुए डाक्टर की कमर पर आ पड़ी नूरन की लात! जिसने उसे और जल्दी बाहर ढकेल दिया।" इसके बाद जब नूरन डाक्टर को देखती तो थूक देती और कहती—नामर्द!

धर्मपत्नी के बाद बोद्दा का यह पहला रोमांस था।

छुटकारे की कोई राह न थी। घर से कोई जवाब आ नहीं रहा था और वज़ीरी उसे ग़ज़नी में बेच देने की बात चला रहे थे। केवल इब्बा निराश न होकर उससे कहती कि वह उसे भगा ले चले—उसे ग़ज़नी की राह भी मालूम है। डाक्टर उसकी बातों पर विचार करता। "मुझे सुलेमान खेल के मामज़ाई के शहर ले चल। तू तो इलमदार है। मेरा मर्द तो मुझे बहुत मारता है। उसे औरत से क्या मतलब? वह तो मुझे ही मर्द समझता है। मैं तो औरत हूँ!....नहीं क्या?" डाक्टर इलमदार तो था लेकिन....

ईद के दिन कलमा पढ़ाकर उसे मुसलमान बना लिया गया। ग़ज़नी में पोस्तीनों के व्यापारी अब्दुल्ला के हाथ वह बेच भी दिया गया। अब्दुल्ला के बेटे नासिर से उसकी दोस्ती हो गई। नासिर को अमानुल्ला के स्कूलों की हवा लग चुकी थी, इसलिए देश-विदेश के बारे में जानने को उसकी प्रबल उत्कण्ठा थी। वह डाक्टर का अन्तरङ्ग मित्र और फिर साला भी बन गया। इधर डाक्टर नूरन के प्रालिटेरियन प्रेम से घबरा गया था परन्तु बुर्जुआ अब्दुल्ला की

लड़की—अदब और नज़ाकत से उसका हाथ उठा कर सलाम करना और कहाँ वह नूरन का हाथ पकड़कर कहना, अब ? या अन्त में उसकी लात और इब्बा का "हिश्त बोद्दा ?" बद्री बाबू की सहायता से उधर खन्ना की धर्मपत्नी राजदुलारी उर्फ़ राज सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करती है। मिलों में हड़ताल और बद्री बाबू का अनशन, मिल-मालिकों से समझौता—यह कहानी दिल्ली की है। इधर ग़ज़नी में—"दो मन्ज़िल की खिड़की से झलक दिखा कल्पना को उन्मत्त कर देनेवाली नर्गिस ने जब, हंस की ग्रीवा के समान कोमल अपनी बाँहें डाक्टर की गर्दन में डाल कस्तूरी की भीनी और मादक गन्ध से सुवासित अपना सिर उसके हृदय पर रख आत्म-समर्पण कर दिया" तब भय से डाक्टर का हृदय धक-धक नहीं करने लगा और न पुराने काग़ज़ की तरह उसका चेहरा ही पीला पड़ गया। यहाँ पर कल्पना का वह चाँद उसे मिल गया जिसे पाने की आकांक्षा एक पत्नीव्रत के बावजूद उसके हृदय में विद्यमान थी। "उसकी कल्पना की दूरगामी उड़ान बाँहों में सिमटी, रसभीनी वास्तविकता के चारों ओर लिपटकर रह गई।" शरत् बाबू भी अपने शब्दों को इस तरह मधुमय नहीं बना सके। जैसा मोहक प्रेम है, वैसा ही रोमांटिक वह चित्र भूमि है जिस पर ये दो प्रेमी अंकित किये गये हैं। "रङ्गीन उपवनों से छिटकी और उत्तुङ्ग हिमर्जी पहाड़ों से घिरी ग़ज़नी की उपत्यका से परे संसार का अस्तित्व उसके लिये रह ही नहीं गया।" लेकिन कब तक ? जब तक "कल्पना की दूरगामी उड़ान" थोड़ी ही दूर में थककर उस उपत्यका में निढाल होकर गिर न पड़ी। नर्गिस के समीप बैठे रहना डाक्टर के लिये यन्त्रणा बन गया। वह झल्लाहट में उठकर चल देता और फिर स्वयं ही नर्गिस के प्रति अपनी इस निष्ठुरता से लज्जित होकर तर्क करने लगता, इस बेचारी का क्या अपराध है ? और वह रोमांटिक चित्रभूमि, "ग़ज़नी की वह अत्यन्त सुन्दर

और रमणीक उपत्यका डाक्टर के लिये जेल का आँगन बन गई।" इसके साथ बुर्जुआ अब्दुल्ला के शोषण-व्यापार से भी उसे घृणा होने लगी और एक दिन अपने अन्तरङ्ग नासिर के साथ वह कल्पना-परी नर्गिस के कस्तूरी-वासित केशपाश से सहज ही अपना दिल निकालकर रूस की सीमा में जा पहुँचा।

स्तालिनाबाद का वर्णन, डाक्टर और नासिर का बिना पासपोर्ट के पकड़े जाना, उनका क्रास इग्ज़ामिनेशन और फिर डाक्टर का समरक़न्द के सैनिटोरियम में काम करना—कहीं भी लेखक ने चित्रण की सजीवता को फीका नहीं होने दिया। डाक्टर खन्ना का परिचय हुआ शिशुशाला की अध्यक्ष कामरेड ख़तून से। डाक्टर कम्यूनिज़्म के अधिक निकट आता गया। और भी महत्त्वपूर्ण यह कि "तीन पहर रात गये तक ख़तून की बगल बैठ, उसकी निरावरण बाँहों और शरीर के अनेक अङ्गों को देखकर भी डाक्टर को ख़याल न आता कि वह एक स्त्री के साथ एकान्त में है।" पता नहीं पाठक कथाकार की इस बात से कहाँ तक सहमत होंगे कि "ख़तून को भी ख़याल न आता कि एक पूर्ण युवा पुरुष उसके बिस्तर पर बैठा है?" विशेषकर इसलिए कि ख़तून को दिल डूबने की बीमारी थी। इसी का दौरा होने पर डाक्टर ने उसके हृदय पर हाथ रखकर उसकी गति भी देखी। कुछ क्षण चुप रहकर उसने सलाह दी "तुम सो जाओ। विश्राम करो! तुम्हारे लिये एक ख़ुराक दवा मैं अभी ला देता हूँ।" शरत् के पाठक यहाँ समझ जायँगे कि ख़तून क्या जवाब देगी। गृहदाह में अचला जैसे सुरेश का हाथ अपने हृदय पर दबा लेती है वैसे ही "अपने हृदय पर रखा डाक्टर का हाथ दबा ख़तून ने उसे उठने न दिया" और कहा—"नहीं तुम बैठो! औषध मैं बहुत दिन पी चुकी हूँ!" पोपोलोफ से अपनी प्रतिद्वन्द्विता की वह बातें करने लगी। लेकिन डाक्टर उसे सोने की दवा पिलाकर

चला ही गया। ऐसा था यह डाक्टर जो दिल डूबने की बीमारी का इलाज न कर सकता था। नतीजा यह हुआ कि "खतून के हृदय में डाक्टर के लिए एक वात्सल्यपूर्ण ममता उमड़ आई।" इसी वात्सल्य रस से प्रेरित होकर "खतून गुलशाँ को डाक्टर की ओर ढकेलने का यत्न करती परन्तु डाक्टर का विवेक कह रहा था, नहीं !!" लेकिन कब तक ? वह "काग़ज़ पर क़लम न चला, बिजली के लैम्प के अत्यन्त समीप गुलशाँ की झुकी हुई लम्बी पलकों की ओर देखता रह जाता।" बीच की सीढ़ियों पर छलाँग मारकर हम उसी पुराने नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि गुलशन के प्रेम-निवेदन ने डाक्टर के प्रेम को ठण्ढा कर दिया। वह राज से गुशलाँ की तुलना करने लगा। कहाँ राज के साथ "प्रणय का मैदान जीतना" और गुलशाँ का "यह जबरन प्रेम का बोझ लादते फिरना।" परिणाम—"उसका मन गुलशाँ के प्रति वितृष्णा से भर गया।"

वात्सल्य रस की स्रोत खतून को यह अच्छा नहीं लगा। वह डाक्टर को खुला इशारा करती है—"सोवियट प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए हमें स्वस्थ संतानों की आवश्यकता है।" इस आवश्यकता से पीछा छुड़ाकर डाक्टर राजनीतिक शिक्षा के लिए मास्को चला गया। लेकिन जब वह गुलशाँ से दूर हो गया तब "आँखें मूँदे कल्पना में वह राज की गोद में सिर रखे विश्राम करना चाहता परन्तु उससे पहले आ जाती गुलशाँ।" उसने क्षमा माँगी और जीवन भर उसे याद रखने का वचन दिया !

शिक्षा समाप्त करके खन्ना भारत आता है। बम्बई आकर उसने राज को एक पत्र लिखा; फिर उसे जला दिया। जर्मनी के रूस पर आक्रमण करने से वह जगह-जगह जाकर जन-युद्ध की नीति लोगों को समझाने लगा। बम्बई में वह जमालदीन था; कानपुर में आकर वह डा० बी० डी० वर्मा हो गया। एक दिन वह शिवनाथ

की बहिन यमुना से भेंट करता है। वहाँ उसे मालूम होता है कि उसकी स्त्री राज ने कांग्रेसी कार्यकर्ता बद्री बाबू के साथ विवाह कर लिया है। क्रमशः उसकी भेंट अपनी साली चन्दा और उसके पति राजाराम से होती है। डाक्टर का रोमांस फिर शुरू होता है। क्या मौके से लेखक ने शरत् के 'चरित्रहीन' को याद किया है—चन्दा को 'चरित्र-हीन' बहुत पसन्द है और अब उसका नायक ही उससे मिलनेवाला है। एक ओर पति, दूसरी ओर खन्ना,—चन्दा का हृदय संघर्ष से मथ जाता है, विशेषकर इसलिए कि पति बड़ा शक्की है! चन्दा को इस बात से और दुख होता है कि शारीरिक सम्पर्क न होने पर भी पति को इतना सन्देह होता है। चरित्र निभाने के लिए वह सभी कुछ सहती है परन्तु पति को फिर भी सन्तोष नहीं होता है।

चन्दा की छोटी बच्ची को पानी में खेलने से ज्वर हो जाता है। काश, डाक्टर भी पानी में खेला होता और उसे ज्वर हो आता। जैसा कि वह चन्दा से कहता है—"हो जाता तो मैं आपके पास आकर लेट रहता। मेरा सिर दबाना पड़ता। आपको ज़हमत होती और मुझे अच्छा लगता।" चन्दा पूछती है, क्या बिना बीमार हुए नहीं लेट सकते? डाक्टर कहता है "वैसे तो लेटा ही हूँ परन्तु बीमार का अधिकार अधिक हो जाता है।" डाक्टर तकिया लेकर सहारा नहीं लेना चाहता; चन्दा पूछती है, वह उसे किस तरह सहारा दे सकती है। डाक्टर कहता है—"अपनी गोद में स्थान देकर।" इति शुभम्। खन्ना के प्रेम का यही वास्तविक रूप है। असली बात उसने कही डाली। गुलशाँ, खतून, नर्गिस पठान लड़कियाँ,—उसे गोद में सिर रखने को अब तक न मिला था। चन्दा उसकी इच्छा तुरन्त ही पूरी नहीं कर सकी। वह मान और क्रोध करता है लेकिन दूसरी बार चन्दा ने लेटे हुए खन्ना के माथे

पर हाथ रखकर कहा—'तुम्हारा माथा कुछ गरम है!' आखिर माथा गरम ही हो गया! चन्दा "खन्ना का सिर अपनी गोद में ले उसके माथे को सहलाने लगी।" पूरी मनोकामना जी की। चन्दा ने पूछा—"ऐसे तुम्हें सन्तोष होता है?" योद्धा ने उत्तर दिया—"बहुत!"

और भी, चन्दा की छोटी बच्ची की तरह वह उसकी गोद में खो जाना चाहता है। "मन चाहता है, जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ?" चन्दा ने सिर झुकाये, अधमुँदी आँखों से उत्तर दिया—"तो क्या उससे कम हो?" और "उसका मन चाह रहा था, खन्ना का सिर उठा कर हृदय से लगा ले!"

चन्दा ने ठीक प्रश्न किया था। यह उपन्यास का चरितनायक छोटी बच्ची शशि से किस बात में कम है? क्या वह अपनी बाल्य भावनाओं पर विजय पाकर विकसित पुरुषत्व प्राप्त कर सका है? क्या उसका समाजवाद शरत् के पात्रों की इसी गोद में सिर रखने की इच्छा से विशेष महत्त्व रखता है? और भी, साहस करके यह पूछने की इच्छा होती है कि खन्ना को फ़ौज का डाक्टर बनाकर, अफ़रीदियों द्वारा उसे उड़वाकर, अफ़ग़ानिस्तान और रूस की सैर कराकर, हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्ट बनाकर और अन्त में प्रेम की वेदी पर उसका बलिदान कराके लेखक ने क्या बालसुलभ कल्पना का ही परिचय नहीं दिया? निश्चय ही लेखक चतुर है; उसकी बुद्धि बच्चों की सी नहीं है। वह इस काल्पनिक कहानी को यथार्थ के रङ्ग में रँग देता है, इस बात में उसकी प्रौढ़ों जैसी चतुरता है, परन्तु उसकी भाव-धारा का मूल स्रोत क्या है? उसके व्यक्तित्व का रहस्य क्या इस वाक्य में निहित नहीं है—"मन चाहता है, जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ?"

पति की शङ्काओं से परेशान होकर चन्दा एक रात छत से नीचे कूद पड़ती है। झाड़ियों पर गिरने से वह मरने से बच जाती है। खन्ना उसका उपचार करता है। बच्चों की तरह होने की बात को दोहराता है।

६ अगस्त और उसके बाद तोड़-फोड़। कांग्रेस सोशलिस्ट शिव-नाथ फ़रार हो जाता है। खन्ना चन्दा के पति राजाराम के यहाँ कम आता है लेकिन "कभी बहुत थकावट अनुभव होने पर वह घण्टे आध घण्टे के लिए चन्दा के समीप आ तख़्त पर लेट जाता। चन्दा का हाथ अपने माथे पर अनुभव कर उसकी गोद में अपना सिर रख आँखें मूँद लेट जाने से उसे विश्राम और स्फूर्ति मिलती।" एक दिन इसी दशा में उसके माथे पर चन्दा की आँखों से निकले दो बूँद आँसू आ टपके। उसने उठकर "अपनी बाँह उसकी गर्दन में डाल उसका सिर अपने हृदय पर रख लिया।...चन्दा का मुख उठा उसने उसकी आँखों के आँसू चूम लिये।" चन्दा रोई क्यों? इसलिए कि वह घर के जीवन से ऊबकर खन्ना के साथ निकल जाना चाहती है। लेकिन वह शरत के पात्रों की तरह टाल-मटूल करता है। वह उसकी गोद में लेटना भर चाहता है; उसे सँभालने, साथ रखने, उसका खर्चा बर्दाश्त करने के लिए वह तैयार नहीं है। वह राजाराम के रहते आ जाता तो यों ही इधर-उधर की बातें और विनोद करके चला जाता। कभी चन्दा के अकेले रहते आता तो उसके समीप लेट जाता या मचल कर उसकी गोद में सिर रख लेता और चाहता, कुछ क्षण के लिए सब कुछ भूल जाय। पति के सन्देह से ऊबकर चन्दा अपना मार्ग ढूँढ़ने के लिये छिपकर खन्ना से रेती पर मिलती है। "आज निश्चय किया था, इस समय यहाँ आकर तुमसे कहूँगी, अब लौट नहीं सकती। अपनी बहन, माँ, बेटी जो कुछ भी समझो, मुझे ले चलो। या फिर सामने गङ्गा है।" लेकिन देवदास की तरह

खन्ना उसे सहारा नहीं दे सकता। वह तो खुद गोद में सिर रखकर सब कुछ भूल जाना चाहता है; चन्दा का भार अपने सिर पर कैसे ले ले? वह युक्ति भिड़ाता है—"तुमने अपना बलिदान कर सब सहा, अब उसके प्रति विद्रोह भी करो तो क्या कर सकती हो? जब तक जीवन में खड़े होने का साधन तुम्हारे पास न हो!" लेकिन खन्ना जितना उसकी गोद में लेटने का इच्छुक है, क्या उतना ही इच्छुक वह उसे अपने पैरों पर खड़ा देखने के लिये भी है? चन्दा के जीवन में एक सङ्घर्ष पैदा करके वह उसका अन्त करने के लिये किसी तरह की भी सहायता उसे नहीं देता, देने की चेष्टा भी नहीं करता। चन्दा निराश होकर फिर घर लौट गई।

मिल में हड़ताल होती है। खन्ना मज़दूरों को समझाने जाता है। वहाँ घायल हो जाता है। शिवनाथ को मालूम था कि खन्ना रूस से जाली पासपोर्ट बनाकर आया है। वह उसे धमकी देता है कि कानपुर छोड़कर न गया तो वह सारा भेद पुलिस के पास लिख भेजेगा। अब खन्ना को छिपकर इलाज कराने की ज़रूरत है। चन्दा उसे लेकर अपनी बहन राज के यहाँ चलती है। रानीखेत पहुँचकर दोनों "रङ्गोड़ा" की चढ़ाई चढ़ते हैं। पहाड़ी बियाबान में थकी हुई चन्दा अपनी बहन राज के यहाँ पहुँचती है लेकिन राज के जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हो चुका है। अब उसका पति आया है, लोग सुनकर क्या कहेंगे? चन्दा घायल खन्ना के साथ उसी रात को बहन के यहाँ बिना ठहरे वापस चल देती है।

जब चन्दा कानपुर से चली थी तब उसके पति बाहर थे। लौट कर उन्होंने उसे गायब देखा। ढूँढ़ने निकले, और पहाड़ी रास्ते में उन्हें चन्दा मिल भी गई। लात, तमाचा, सभी से काम लिया। घायल खन्ना मना करता है; राजाराम डाटता है—"चुप धूर्त, देश-द्रोही, बदमाश"। बेहोश चन्दा को डाँडी में लिटाया गया और घायल

खन्ना को वहीं छोड़कर राजाराम घर की ओर चल दिया। उसकी प्राणशक्ति क्षीण हो रही थी। "सिर पत्थरों के ढेलों पर टिका था परन्तु मन में विश्वास था, चन्दा उसका सिर गोद में लिये है, जीवन संग्राम में फिर से लड़ने के लिये वह स्वास्थ्य-लाभ कर रहा है।" इस प्रकार देशद्रोही कहलाकर, देश की सेवा करके भी देशवासियों की ठोकर खाकर खन्ना शहीद हो जाता है।

कहानी हूबहू ऐसी नहीं है जैसी इतना लेख पढ़ने पर शायद मालूम हो, लेकिन है बहुत कुछ ऐसी ही। जन-युद्ध और कांग्रेस सोशलिस्टों की नीति को लेकर लम्बे-चौड़े विवाद भी हैं और कांग्रेस के आन्दोलन और हड़तालों का भी चित्रण किया गया है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि 'देशद्रोही' मूलतः एक रोमांटिक कृति है जिसमें खन्ना के रोमांसों की प्रधानता है। जिस वर्ग के लिये खन्ना काम करता है, उस वर्ग का इसमें उतना और वैसा चित्रण नहीं है, जितना खन्ना के हृदय की प्रेम-सम्बन्धी उथल-पुथल का। दूसरे शब्दों में उपन्यास पढ़कर क्या पाठक को यह निश्चय नहीं हो जाता कि लेखक की निगाह जहाँ खन्ना के हृदय में पैठकर उसके निगूढ़ रहस्यों को टटोला करती है, वहाँ मज़दूर-वर्ग और उसकी आर्थिक या सामाजिक समस्याओं को वह केवल छूकर ही रह जाती है?

इसे हम राजनीतिक उपन्यास न कहकर "श्रीकान्त" की कोटि का एक सामाजिक उपन्यास ही कह सकते हैं जिसमें प्रेम-कहानी प्रधान है। हमें उपन्यास से वह चीज़ माँगने का चाहे अधिकार न हो जो लेखक को देना अभीष्ट न थी लेकिन यशपाल का ध्येय यहाँ राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रकाश डालना ही है। क्या यह कहानी जन-युद्ध के पेचीदा सवाल पर काफ़ी रोशनी डालती है? ६ अगस्त की घोषणा ने लोगों में कौन-

सी प्रतिक्रिया उत्पन्न की, भोले-भाले और धूर्त—दोनों ही तरह के लोगों ने किस तरह देश में अशान्ति को जन्म दिया, मज़दूरों और किसानों में इस तोड़-फोड़ का क्या असर हुआ, इत्यादि-इत्यादि सैकड़ों ऐसी बातें हैं जिनका विशद चित्रण हम इस तरह के उपन्यास में पाना चाहते हैं। यदि "पथेर दावी" या "श्रीकान्त" को हम प्रगतिवाद की सीमा मान लें तो दूसरी बात है; परन्तु यदि प्रगतिवाद उनसे बढ़कर कुछ और भी है तो इस रोमांस से छुटकारा पाकर लेखक को समाज की हलचल का एक नये सिरे से अध्ययन और चित्रण करना होगा। और यह प्रेम-कहानी भी कैसी है ? एक ऐसे निकम्मे आदमी की है जिसे नालायक भी कहें तो बेजा न होगा। नर्गिस से प्रेम करता है; फिर एक दिन ऊबकर, उसे छोड़कर चल देता है। मर्द का क्या यही काम है ? यह नहीं कि नर्गिस से प्रेम करके उसने ग़लती की हो और अब वह इससे बचा रहेगा। श्रीकान्त की तरह वह स्त्रियों के साथ आकर्षण-प्रत्याकर्षण का खेल छोड़कर और करता क्या है ? नर्गिस से भागे तो कहीं खतून मिल गई, तो गुलशाँ, तो कहीं चन्दा। औरत के नज़दीक आने पर वह भाग खड़ा होता है; दूर होने पर प्रेम करता है। कारण यह है कि वह आध्यात्मिक प्रेम में विश्वास करता है—शायद बिना जाने ही। गोद में सुख से लेटना चाहता है, लेकिन चन्दा को उसके दुष्ट पति से छुटकारा दिलाने के लिये वह एक कदम आगे नहीं बढ़ता।

इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थ-जीवन की समस्याओं के चित्रण में यशपाल को बहुत बड़ी सफलता मिली है। राजाराम का चरित्र उनकी कुशल लेखनी का प्रमाण है। व्यंग्य और हास्य पर उनका अधिकार है। अजाने प्रदेशों को भी कल्पना और पुस्तकों के सहारे उन्होंने सजीव और सचित्र कर दिया है। फिर भी मध्यवर्ग के असफल और अस्वस्थ नवयुवकों की बीमारी पर हँसा जा सकता है; आँसू बहाना

असम्भव है। लेखक अपने व्यंग्य और हास्य के तीर खन्ना को बचाकर छोड़ता है, अथवा खन्ना को देखकर वह अपने व्यंग्य तीर छोड़ना भूल ही जाता है।

तात्पर्य यह कि शरत् की छाया हिन्दी साहित्य पर अब भी गहरी है। यशपाल जैसे लेखक पर भी उसका प्रभाव स्पष्ट है। "देशद्रोही" को श्रीकान्त के साथ या उससे ऊँचा रखना आज के लेखक के लिये प्रशंसा की बात नहीं हो सकती। यशपाल के पास व्यंग्य और हास्य के पैने अस्त्र हैं जो शरत् बाबू के पास नहीं थे। तर्क और बुद्धि की दृष्टि से वह समाजवादी हैं। फिर भी कथा-साहित्य में वह घरेलू जीवन की परिधि के बाहर नहीं निकल पा रहे। एक पत्नी, एक पति और एक मित्र—यह सनातन त्रिकोण उनकी रचनाओं में बार-बार उभरकर आता है। आज के सामाजिक जीवन में भी यह त्रिकोण है लेकिन वह त्रिकोण ही नहीं, और भी बहुत-सी बातें हैं। निकम्मे नवयुवकों का चित्रण किया जाय, लेकिन तटस्थता से, व्यंग्य अस्त्र साधकर। देशद्रोही पढ़कर साधारण पाठकों को यह भ्रम हो सकता है कि आदर्श युवक किसी न किसी की गोद में सिर रखकर सो रहने के लिये बड़े उत्सुक रहते हैं। जिस कष्ट-सहिष्णुता, अथक परिश्रम और उत्कट लगन से एक कम्यूनिस्ट का निर्माण होता है या होना चाहिये उसका आभास पाठक को इस उपन्यास में नहीं मिलता। यह उसकी बहुत बड़ी कमज़ोरी है।

(१६४४)

अहं का विस्फोट*

अपने आलोचनात्मक लेखों के संग्रह को नगेन्द्रजी ने 'विचार और अनुभूति' का नाम दिया है। अच्छी आलोचना में अनुभूति का अंश होना भी चाहिए; इसके बिना शायद वह रचनात्मक साहित्य की श्रेणी में न आये। नगेन्द्रजी की अनुभूति सन '३६ के छायावादी की है; उनके विचार सन् '२६ के अधकचरे फ्रायड-भक्तों के। हर फ्रायड-भक्त को अपनी अनुभूति की स्वस्थता में बड़ी शंका रहती है; वह जगह जगह नगेन्द्रजी में भी मिलती है। छायावादी कवि सन् ३०, और ३६ में जहाँ थे, वहाँ से वे—अपने विचारों और अनुभूति दोनों में ही-काफ़ी आगे बढ़ गये हैं। लेकिन नगेन्द्रजी के विचार उन्हें एक कदम आगे ठेलते हैं तो उनकी अनुभूति उन्हें चार कदम पीछे घसीट ले जाती है। इस तरह इस किताब का नाम 'एक कदम आगे तो चार कदम पीछे' भी हो सकता था।

एक कदम आगे, किस तरह—सो भी देखिए। रस के लोकोत्तर आनन्द या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' पर उनकी टिप्पणी—'काव्य का सम्बन्ध मानव-मन से है, और मन में किसी प्रकार की अपार्थिवता नहीं है।...रस की अलौकिकता भी अन्त में लौकिक ही ठहरती है।'

नगेन्द्रजी को धन्यवाद, जो उन्होंने भौतिकवाद (या भौतिकता) को ऐसी दृढ़ता से पकड़ा। इससे उनके शाश्वतवाद के आगे एक प्रश्नसूचक चिह्न अवश्य लग जाना चाहिये।

*विचार और अनुभूति—लेखक प्रोफ़ेसर नगेन्द्र। प्रकाशक प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद।

छायावादी कविता के बारे में वह कहते हैं—'मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एकदम विश्वास नहीं है।' इस तरह छायावाद और आध्यात्मिकता की भूलभुलैया में वह नहीं पड़े।

नये साहित्य के बारे में कहते हैं—'यह न मानना कृतघ्नता होगी कि भारतीय जीवन में समाजवाद की तरह प्रगतिवाद भी एक जीवित शक्ति है। उसमें उत्साह और चैतन्यता है।' हिन्दी में स्वस्थ साहित्य की रचना कहाँ हो रही है, इसका उन्हें पता है।

इसी तरह उन्होंने गुलेरीजी के स्वस्थ बहिर्मुखी दृष्टिकोण की भी प्रशंसा की है।

इसके बाद जब हम उनके विचारों और अनुभूति को ज़रा नज़दीक से देखते हैं तो काफी उलझन पैदा करने-वाली बातें हमारे सामने आती हैं। जहाँ वह मन की पार्थिवता में विश्वास करते हैं, वहाँ यह भी कहते जाते हैं कि आध्यात्मिकता में उन्हें अविश्वास नहीं है और छायावाद की उत्पत्ति जहाँ अतृप्त कामवासना से मानते हैं, वहाँ इसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी करार देते जाते हैं। मानों तृप्ति स्थूल होती है और अतृप्त रहना ही सूक्ष्मता का परिचायक है।

नगेन्द्रजी बहुत ऊँचे दर्जे के व्यक्तिवादी हैं। इसलिये उनके सभी सिद्धान्त व्यक्तिवाद से जुड़े हुए हैं।

साहित्य क्या है ?

'साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति है।'

इस आत्म की व्याख्या कीजिये। साहित्यकार की व्याख्या में वह भी आ जाती है।

'स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान् होगा उसका अहं उतना ही तीखा और

बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः समाजीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा।'

इसलिए साहित्य इस दुर्दमनीय अहं की अभिव्यक्ति ठहरा। नगेन्द्रजी के साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्तियों की प्रधानता होती है और एक तरह से वे साहित्य और इन वृत्तियों को पर्यायवाची मान लेते हैं। अन्तर्मुखी वृत्तियों का मतलब है कि दुनिया से आँखें मूँद लो और अपनी असाधारण प्रतिभा से असाधारण साहित्य की रचना करते रहो।

नगेन्द्रजी साहित्यकार की इस शाश्वत व्याख्या से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने अपने इंट्रोवर्ट साहित्यकारों की श्रेणी में गोर्की, इकबाल और मिल्टन को भी बिठाया है। ये महान् साहित्यिक अपने अहं के बल पर ही बड़े बन सके हैं। कहते हैं—'गोर्की, इक़बाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अहं का विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं।' अब विश्व साहित्य का एक नया इतिहास लिखा जाना चाहिये जिसका नाम रखा जाय 'अहं का विस्फोट।' इसमें यह दिखाया जायगा कि संसार के सभी महान् साहित्यकार साम्यवाद इस्लाम, प्यूरिटन मत जैसी क्षुद्र वस्तुओं से ऊँचे उठकर विशुद्ध रस के तल पर (या रसातल पर) अपने अहं का बैलून फोड़ते रहे हैं। यदि कोई कहे कि इतिहास से यह सिद्ध नहीं होता तो हम नगेन्द्रजी की एक दूसरी उक्ति से उसका मुँह बन्द कर देंगे और वह यह कि आलोचना भी तो आत्माभिव्यक्ति है; उसमें विज्ञान क्या कहता है, इतिहास क्या कहता है, इन क्षुद्र सत्यों की ओर कहाँ तक ध्यान दिया जाय। आलोचक का कर्त्तव्य है—'आलोच्य वस्तु के मध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य

पद को प्राप्त हो सकती है।' यही एक प्रकार है जिससे गोर्की, इक़बाल और मिल्टन का आलोचक उन्हीं के बराबर आसन पर बैठने का अधिकारी हो सकता है। उसकी आलोचना तभी साहित्य (या निर्वाण) पद को प्राप्त कर सकती है जब उसके अहं के विस्फोट का शब्द गोर्की, इक़बाल वगैरह से किसी क़दर भी घट कर न हो।

नगेन्द्रजी ने जहाँ फ्रायड की तरह अतृप्त कामवासना को साहित्य की प्रेरणा माना है, वहाँ एडलर का यह मत भी उद्धृत किया है कि मनुष्य की हीन भावना (inferiority complex) ही साहित्य की प्रेरक शक्ति है। 'एडलर मानवता की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूलप्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल कीटाणु क्षतिपूर्ति की कामना में खोजता है।' इस सत्य की पुष्टि के लिये नगेन्द्रजी ने तुलसी बाबा और छायावादी कवियों का उदाहरण दिया है। यदि यह सिद्धान्त सच है तो सोचिये जो संसार के तमाम महान् साहित्य को अहं का विस्फोट मानता है, वह किस भयंकर क्षति की पूर्ति करना चाहता होगा; उसकी हीन भावना किस अन्धकार-मय अतल गह्वर जैसी होगी जिसे भरने के लिये आकाश को छूनेवाले पिरैमिड की ज़रूरत होती है!

नगेन्द्रजी की ट्रैजेडी यह है कि वे योरप के व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिकों का अन्धानुसरण करके अभाव और अतृप्ति को ही काव्य की प्रेरणा मानते हैं और यह जानते हुए भी कि अभाव को काल्पनिक तृप्ति से दूर करनेवाला साहित्य स्वस्थ नहीं है, वे और किसी तरह के साहित्य का अस्तित्व मानने को तैयार नहीं होते। इस तरह के पलायनवादी, व्यक्तिवादी, निर्जीव और कभी-कभी अस्वस्थ साहित्य को वे तरह-तरह के रंगीन विशेषण पहनाकर विचार और अनुभूति के नाम पर हिन्दी पाठकों के सामने पेश करते हैं।

समस्त साहित्य अतृप्ति और अभाव की काल्पनिक पूर्ति है, इस विषय में उनके निम्न वाक्यों को पढ़ जाइए—

(१) 'और वास्तव में सभी ललित कलाओं के—विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिये स्थान नहीं है।'

(२) 'प्रत्यक्ष जीवन में सौन्दर्य-उपभोग से वंचित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौन्दर्य के चित्र आँके।'

(३) 'छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं।'

नगेन्द्रजी छायावाद के समर्थक के रूप में प्रसिद्ध हैं; उनका समर्थन छायावाद के लिये कितना हितकर है, इसे छायावादी और ग़ैर छायावादी पाठक ऊपर के वाक्यों को पढ़कर समझ सकेंगे।

इस व्याख्या पर शाश्वतवाद का मुलम्मा कैसे चढ़ाया जाता है, यह भी देख लीजिये—

(१) 'उपर्युक्त विवेचन मेरी अपनी धारणाओं के इतना निकट है कि इसमें विशेष आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।....सारतः महादेवी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यानहैं।'

(२) 'छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा एक विमुखता का भाव मिलता है। आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुंठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में पलायन का रूप नहीं है।'

यह अंतिम वाक्य कई बार पढ़ने लायक है। छायावाद की

अतींद्रियता 'मूल रूप' में मानसिक कुंठाओं पर आश्रित है लेकिन 'प्रत्यक्ष रूप' में वह पलायन का रूप नहीं है। नगेन्द्रजी ने मूल रूप और प्रत्यक्ष रूप में कैसा मौलिक भेद किया है! लेकिन हमें तो मूल रूप से ही मतलब है, भले ही प्रत्यक्ष रूप में छायावाद पलायन न हो, मूल रूप में पलायन होने से ही हमारा काम चल जायगा।

नगेन्द्रजी इसी तरह शब्दों के साथ आँख-मिचौनी खेला करते हैं। छायावाद का विरोध करने के लिये आपका समर्थन पेश कर देना ही काफी है। छायावाद के विरोध में यही बात कही भी गई है। लेकिन वह आंशिक सत्य ही है। छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। यही उसका मज़बूत पहलू है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्त्वावधान में हुआ था, इसलिए उसके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई थी। नगेन्द्रजी ने छायावाद को अन्तर्मुखी वृत्तियों का प्रकाशन मानकर उसके प्रगतिशील पहलू को नज़रन्दाज़ कर दिया है। केवल एक जगह उन्होंने इशारा किया है कि छाया-वादी विद्रोह का एक सामाजिक रूप भी था। उन्होंने स्वीकार किया है कि निराला, नवीन जैसे 'शक्तिशाली व्यक्तित्वों' में वह मिलता है। छाया-वाद के इस पहलू की विशेष चर्चा उन्होंने नहीं की। इसका कारण यह है कि ऐसी चर्चा उनकी अनुभूति के क्षेत्र के बाहर जा पड़ती है। इसका प्रमाण यह है कि साहित्य में जब भी वास्तविकता या लोकहित की चर्चा करना ज़रूरी होता है, तब नगेन्द्रजी या तो पैंतरा बदलकर अलग खड़े हो जाते हैं या उसे देखकर मुँह बनाने लगते हैं या पला-यन से उसका संबन्ध जोड़ देते हैं!

प्रसाद जी के लिए उन्होंने लिखा है—'वे बड़े गहरे जीवन द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा

था।' लेकिन इससे परिणाम क्या निकला ? यह कि प्रसादजी पलायनवादी थे और ऐसे व्यक्ति को, गहरे जीवन-द्रष्टा को—पलायनवादी होना ही चाहिये। सुनिये—'ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को महत्त्व न देगा।...उसका दृष्टिकोण रोमांटिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण—जैसा रोमाण्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जायगा या कल्पनालोक की ओर !' क्या खूब। जो आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को देखे और सहेगा, वह तो पलायनवादी होगा और यथार्थवादी शायद वह होगा जो इन विभीषिकाओं से पलायन करे !

सरस्वती के न्यायालय में प्रेमचन्द पर मुकदमा चलता है और वीणापाणि (अर्थात् नगेन्द्रजी) उन पर जो फैसला देती हैं, वह इस तरह है : – 'हमारा आदेश है कि आज से श्रीयुत प्रेमचन्दजी स्रष्टा कलाकारों की प्रथम श्रेणी को छोड़कर द्वितीय श्रेणी में आसन प्राप्त करें।' अन्तर्मुखी आलोचक से इससे ज्यादा और क्या आशा की जा सकती थी ? नगेन्द्रजी शुद्ध कविता, शुद्ध रस और शुद्ध सौन्दर्यशास्त्र के प्रेमी हैं। इस कसौटी पर प्रेमचन्द का साहित्य परखा जायगा तो कसौटी के ही अशुद्ध हो जाने का भय है। फिर भी उन्होंने उसे परखा, यही क्या कम है।

नगेन्द्रजी के यहाँ हर चीज़ शुद्ध है ; बानगी देखिए—

(१) 'साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान...का ही अधिक विश्वास करना उचित होगा।'

(२) 'लोक प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है।'

(३) 'छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है।' हम अपनी तरफ से यही कह सकते हैं कि नगेन्द्रजी की आलोचना बिल्कुल शुद्ध आलोचना होती है।

अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है, इसलिए प्रगतिवाद को रस का सबसे बड़ा शत्रु मानना चाहिये। नगेन्द्र जी पहले तो प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का पर्यायवाची शब्द मान लेते हैं; फिर उस पर एकांगिता आदि के दोष लगाते हैं। यह दोनों ही बातें ग़लत हैं। नगेन्द्रजी समझते हैं कि प्रगतिवाद की यह व्याख्या शायद सकुचित होगी, इसलिए कहते हैं—'शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण तो शायद पंत और नये कवियों में नरेन्द्र ही ने ग्रहण किया है।' प्रगतिवादियों ने 'शुद्ध' पर इतना जोर नहीं दिया जितना नगेन्द्रजी ने। इसके सिवा मार्क्सवाद पर जो एकांगी होने का दोष लगाया गया है, वह भी उन्हीं की आत्माभिव्यक्ति हो सकती है; वस्तुगत सत्य नहीं है। मार्क्सवाद हमें संसार की घटनाओं को उनकी परस्पर सम्बद्धता में देखने के लिए कहता है। वह सामाजिक विकास के नियमों से हमें परिचित कराता है और उनके प्रकाश में अपने युग की गतिविधि को पहचानने में हमारी सहायता करता है। साहित्य को वह एक सामाजिक क्रिया के रूप में देखता है; उसे कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की पूँजी नहीं मानता। वह यह नहीं कहता कि साहित्य में आनन्द नहीं मिलता या छंद, वर्ण, गति-लय का सौंदर्य साहित्य के लिये कलंक है। लेकिन वह यह मानता है कि जो साहित्य युग की सजीव 'अनुभूति' और प्रगतिशील 'विचारों' को व्यक्त नहीं करता, वह निर्जीव हो जाता है।

नगेन्द्रजी का विरोध मार्क्सवाद से ही नहीं है वरन् 'साहित्य समाज का दर्पण है'—इस साधारण सिद्धान्त से भी है। वह वस्तुतः 'कला-कला के लिए' की गुहार मचाने वालों में हैं। कहते हैं—'कला कला के लिये है सिद्धान्त का प्रतिपादक भी वास्तव में शुद्ध आनन्द को ही कला का उद्देश्य मानता है।' इन कलापंथियों के अनुसार कवि वह सहृदय प्राणी नहीं है जिसका हृदय मानव-उत्पीड़न और

संघर्षों से आन्दोलित होता है। इनके अनुसार वह अतृप्त वासनाओं का दास है जो दुनिया से मुँह चुराकर काल्पनिक आनन्द की खोज में लगा रहता है। इस तरह की व्याख्या कोई गया गुज़रा छायावादी भी न स्वीकार करेगा।

नगेन्द्रजी को शुद्ध रस की उपलब्धि कहाँ होती है इसे देखकर भी कलापंथियों की सप्राणता का पता चल जायगा। जब आप नगेन्द्रजी की अतल-भेदी दृष्टि पा जायँगे तब आप सहज ही समझ जायँगे कि 'पूर्व और पश्चिम की दृष्टि में जो जघन्य पाप है—बहिन के प्रति रति—उसको पवित्र रूप देने के लिये हृदय में कितने सतोगुण की आवश्यकता हुई होगी।' और शेखर के आनन्द में मगन होकर आलोचकजी आत्माभिव्यक्ति करते हैं—'इस अंतिम रसस्थिति पर पहुँचकर मेरा मन यात्रा के सभी श्रम को भूलकर लेखक के प्रति एक अमिश्रित कृतज्ञ-भाव से भर जाता है! क्या आप मुझसे सहमत नहीं हैं?'

आपसे सहमत वही होगा जिसने आपका सा हृदय पाया होगा; साधारण पाठकों में तो इस अनुभूति का अभाव ही होता है। इसी कारण आप प्रेमचन्द के स्वस्थ पात्रों को अस्वाभाविक ठहराते हैं और जैनेन्द्र और शेखर के मरीज़ों में रस का अनुभव करते हैं।

नगेन्द्रजी के लेखों के बारे में कहने को (और सुनने को भी) अभी बहुत कुछ है लेकिन यहाँ मेरा उद्देश्य उनकी आलोचना की बुनियादी कमज़ोरियों की तरफ़ संकेत करना भर है। उनका दृष्टिकोण समाज-हित से दूर अहंकार का पोषक है, इसलिये वे संपूर्ण साहित्य को अतृप्त कामवासना से उत्पन्न होनेवाली कपोलकल्पना बना देते हैं। प्रगतिशील साहित्य सप्राण है, इसे वह मानते हैं लेकिन वह पलायनवादी साहित्य का पल्ला नहीं छोड़ सकते क्योंकि उससे शुद्ध रस की सृष्टि होती है। शुद्ध रस की खोज में वह रोगी पात्रों के

नज़दीक खिंचते चले जाते हैं। यहाँ तक कि उनकी आलोचना उनके अपने रोग की अभिव्यक्ति बन जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मध्यवर्ग के अधिकांश युवक हीनभावना से पीड़ित हैं। उनके जीवन में अभावों का समुद्र लहरा रहा है। लेकिन वे इन अभावों को दूर करना नहीं जानते और झूठी सच्ची भूख का अन्तर भी नहीं पहचानते; इसलिए वह समूचे साहित्य को अहं का विस्फोट कहकर अपनी अकल का गुब्बारा फोड़ देते हैं।

नगेन्द्रजी परस्पर असंगत बातों का समर्थन करते हैं, इसलिए उनका तर्क लचर होता है। वाक्यों में असम्बद्धता भी रहती है। कहीं-कहीं उनकी दलीलें देखने लायक होती हैं। शुक्लजी और रिचार्ड्स की तुलना करते हुए लिखते हैं—'दोनों अध्यापक हैं। अतः दोनों की शैली विश्लेषणात्मक है।' और नगेन्द्रजी भी अध्यापक हैं, अतः उनकी शैली रिचार्ड्स और शुक्लजी की शैली के कान काटती है। शुक्लजी से निकालिए एक भी ऐसा वाक्य जैसे—'ध्रुवस्वामिनी का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है।' अच्छा हुआ, शान्तिप्रियजी अध्यापक न हुए; अभी नगेन्द्रजी अकेले हैं, फिर दो हो जाते तो इस विश्लेषणात्मक शैली से हिन्दी की रक्षा करना असंभव हो जाता।

[१९४८]

'सतरंगिनी' : बच्चनजी का नया प्रयोग

'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', आदि के बाद 'सतरंगिनी' के नाम ही में ताज़गी है। देखनेवाले की तबीयत तो एक ही रंग से फड़क उठती है, फिर जहाँ सातों रंगों की झाँकी हो, वहाँ कहना ही क्या ? इसमें सन्देह नहीं, कि पहले के निराशा और वेदना-प्रधान गीतों की तुलना में यहाँ उत्साह, गति और प्रणय की उमंग है। व्यथा से घुल घुलकर मरने के बदले निर्माण की आकांक्षा है ; रास्ते के नुकीले काँटों की याद के साथ आगे बढ़ चलने की उत्कंठा है।

सतरंगिनी के सातों रंग अलग अलग हैं ; उसके गीतों का राग एक का नहीं है। सात रंगों के रूपक को पूर्णोपमा में बदलना ज़रूरी नहीं है। ज़ाहिर सी बात यह है कि इन गीतों में हम कवि को अँधेरे में अपनी राह टटोलते देख सकते हैं। उजाला दिखाई पड़ने के पहले उसे अँधेरे में, और उजाले के एक भुलावे में, इधर-उधर मारे मारे फिरना पड़ता है और इन गीतों में उसी श्रम की चर्चा है।

यद्यपि कवि ने सतरंगिनी को छः खण्डों में बाँट दिया है, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि उसकी खोज इसी क्रम से हुई हो। यह भी कह देना ज़रूरी है कि यह खोज एक सीमित संसार में,—क़रीब-क़रीब अपने पारिवारिक संसार में—होती है।

इन गीतों में जो स्वर बार बार लगता है, वह यह कि—

'जो बीत गयी सो बात गयी।'

आसमान तारों के टूटने पर नहीं रोता ; प्यालों के टूटने पर

मदिरालय भी नहीं पछताता ; फिर कवि ही बीती बातों पर क्यों आँसू बहाये ? इस बात को उसने यों भी कहा है :—

'एक निर्मल स्रोत से
तृष्णा बुझाना कब मना है ?'

लेकिन ऐसे प्रश्नों से ही उस दबी हुई टीस का पता चलता है जो 'निर्मल स्रोत' मिलने पर भी नहीं मिटती। 'सतरंगिनी' की चमक-दमक, आशा-उल्लास के नीचे से वेदना की यह गहरी छाया बार बार ऊपर उभर आती है। शायद इन गीतों के आकर्षण का यह भी एक कारण है। एक दूसरे गीत में कवि ने बड़ी व्यथा से लिखा है—ऐसी व्यथा जिसमें सन्देह करना असंभव है, जिससे सहानुभूति न करना असंभव है,—

'चिर विधुर मेरे हृदय में
जब मिलन मनुहार उठती,
तब चपल जिसके पगों की
पायलें झनकार उठतीं,
तुम नहीं हो
हाय, कोई दूसरा है।'

इस पृष्ठभूमि में कवि जीवन की नयी राह ढूँढ़ता है, राह पर चलने के लिए नयी प्रेरणा और नया उत्साह ढूँढ़ता है।

ऐसी स्थिति में यदि चलना केवल भाग्य का विधान मालूम पड़े, यदि संसार की वास्तविकता एक विषैली मोहक नागिन की तरह आँगन में नाचती दिखाई दे, यदि निर्माण के चरणों में नाश की विभीषिका कवि-हृदय को सहसा आक्रान्त कर दे, तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए।

'पग तेरे पास चले आये
जब वे तेरे भय से भागे'

यह तो प्रगति न हुई। नियति ने ही गतिशीलता का रूप ले लिया है। 'सतरंगिनी' की अधिकांश कविताओं में सिर्फ राह पर चलने की बातें हैं लेकिन वह राह कहाँ ले जायगी, इसकी ओर संकेत नहीं है। कवि की संवेदना का क्षेत्र इतना सीमित है कि अपने सचेत प्रयत्न से विश्व की विकलता दूर करने में उसकी आस्था नहीं है। इसलिए वह अपनी राह का अकेला राही है; वह एक सामूहिक प्रयास का गायक नहीं है। उमंग के अन्यतम क्षणों में भी वह दृढ़ता और विश्वास से अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ता, वरन उसे यह उमंग, यह गति भी भाग्यविधान सी लगती है।

'उठ गया लो, पाँव मेरा,
छुट गया, लो, ठाँव मेरा।
× ×
कौन भाग्यविधान रोके!
कौन यह तूफ़ान रोके!'

लक्ष्य भले ही न दिखाई दे, कवि साधना के मूल्य से इनकार नहीं करता। कोयल ने तपस्या की है, तभी उसका स्वर इतना मीठा है और उसका शरीर काला पड़ गया है। यह एक अनूठी कल्पना है; वैसे ही भावपूर्ण भी। कोयल अपनी तपस्या के बल पर उजड़े हुए उपवन में फिर बहार लाती है। इसके साथ कवि में निर्माण की एक प्रबल स्वस्थ आकांक्षा है, यह भी मानना पड़ेगा। 'निर्माण' नाम का गीत इस संग्रह की सबल रचनाओं में से है और वह सबल इसीलिए है कि कवि ने अपने विषाद को किसी छलना से भुला नहीं दिया वरन् खुले तौर पर उसकी स्याही पर निर्माण के रंगीन चित्र बनाये हैं

'नाश के दुख से कभी
दबता नहीं निर्माण का सुख!

इन दो पंक्तियों में बच्चन ने अत्यन्त प्रौढ़ स्वरों में अपने आशावाद की बात कह दी है।

यह भी सही है कि निर्माण का सुख बहुधा अभिसार के सुख में बदल जाता है और कवि कह उठता है—

'कल उठाऊँगा भुजा
अन्याय के प्रतिकूल,
आज तो कह दो कि मेरा
बन्द शयनागार।
सुमुखि ये अभिसार के पल,
चल करें अभिसार!'

मानी बात है कि इस 'कल' के आश्वासन से बहुत कम पाठकों को सन्तोष होगा। उन पाठकों के लिए यहाँ चेतावनी भी है जो सतरंगिनी के रूपकों में तल्लीन होकर बहुत दूर की कौड़ी लायेंगे।

सब गीतों को पढ़ने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि कवि की संवेदना उसके प्रणय संसार में इधर उधर मँडराती है; उसमें सामाजिक अथवा सामूहिक संवेदना का अभाव है। परन्तु सच्चे निर्माण की आकांक्षा देर तक परिवार के दायरे में सीमित नहीं रह सकती। आगे चलकर वह सामाजिक प्रगति से नाता जोड़ेगी और क्रमशः अधिक स्वस्थ और अधिक सबल बनेगी। ऐसा न हुआ तो निर्माण का यह स्वर क्षीण होकर फिर विनाश और पीड़ा का क्रन्दन बन जायगा।

सतरंगिनी के अन्त में कुछ पंक्तियाँ ऐसी आयी हैं जिनमें एक नयी सामाजिक चेतना के दर्शन होते हैं। कवि अपने भाग्यवाद को चुनौती देता है और मानव के सचेत प्रयास की सफलता में विश्वास प्रकट करता है। वह 'काल' के लिए कहता है—

'अब नहीं तुम प्रलय के जड़ दास,
अब तुम्हारा नाम है इतिहास।'

और

'नाश के अब हों न गर्त महान,
प्रगतिमय संसार के सोपान।'

इस इतिहास-निर्माण की प्रेरणा कवि को परिवार ही में मिलती है। घर का प्रेम 'जगजीवन से मेल कराता' है। इस दुनिया में उसका लाल बढ़ेगा, पढ़ेगा, खेले कुदेगा, इसलिए—

'जैसी हमने पायी दुनिया
आओ, उससे बेहतर छोड़ें।'

पाठक की मंगल कामनाएँ कवि के साथ होंगी; अभिसार के बाद का 'कल' इतनी जल्दी आये तो इसमें किसी को ऐतराज़ भी क्या होगा? और यदि कवि कहे—

'पंथ क्या, पथ की थकन क्या
स्वेद कण क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं।'

तो इस प्रेम के लिए कवि को कौन बधाई न देगा जब प्रगति से उसका ऐसा अटूट सम्बन्ध है?

सतरंगिनी में बच्चन ने छंदों के नये बंद रचे हैं; काव्यरूपों में नये प्रयोग किये हैं। यद्यपि चित्रों में पुरानापन है और कहीं-कहीं पुरानी नीतिसम्बन्धी कविताओं की झलक आ गयी है। बहुत से गीतों में गठन की कमी का अनुभव होता है। फिर भी 'कोयल' 'निर्माण' 'विश्वास' आदि अनेक गीत हैं जो बच्चन की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं और हिन्दी गीतिकाव्य में जिनका स्थान असंदिग्ध है।

[१९४४]

कुप्रिन और वेश्या-जीवन

कुप्रिन का उपन्यास 'यामा दि पिट' खूब प्रसिद्ध हुआ है। संसार की प्रायः सभी प्रधान भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। इसलिये एक प्रकार से उसका हिंदी में अनुवाद हो ही जाना चाहिये था। इस उपन्यास में रूस देश में क्रान्ति के पूर्व के वेश्या-जीवन का वर्णन है। वर्णन सजीव और यथार्थ है; नग्न सत्य को कहीं छिपाया नहीं गया वरन् जितना भी समाज की गन्दगी को खंभोया जा सकता था, खंभोया गया है। प्रकाशक के शब्दों में पाठक कह उठता है—'ओह, यह हमने आज जाना कि वेश्या-जीवन के अभिशाप से हमारा समाज इस तरह अभिभूत है!' क्रान्तिकारी साहित्य का घर-घर प्रचार करने के लिये प्रकाशक ने घाटा उठाकर भी इसे प्रकाशित किया है। एतदर्थ वह धन्यवाद के पात्र हैं।

ऐसी पुस्तकें छपनी चाहिये या नहीं—इस विषय पर काफ़ी विवाद हुआ है और हो रहा है। अनुवादक ने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है और यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। रूसी समाज में व्यभिचार और पतन का चित्र खींचकर कुप्रिन ने साधारणतः अच्छा ही किया है। पाठक उपन्यास पढ़कर वेश्या जीवन की गन्दगी से इतना रुष्ट अथवा आकर्षित होगा कि और बातों पर सोच विचार कम करेगा। परन्तु जो थोड़ा तटस्थ होकर पढ़ेगा, वह कुछ और बातें भी सोच सकता है।

पहली बात यह कि वेश्या-जीवन की समस्या को कुप्रिन ने अति कामवासना की समस्या कहा है। और इस अति कामवासना का उपाय उसने कठोर चारपाई या चौकी पर खुरखुरी चादर बिछाकर

ा बताया है। अच्छा साहित्य पढ़ना, परिश्रम करना आदि बातें
, में हैं। वेश्या-जीवन की वीभत्सता के लिये उत्तरदायी एक
.वशृङ्खल सामाजिक व्यवस्था की ओर उसका ध्यान नहीं गया
जिसको बदले बिना इस नारकीयता में कमी नहीं हो सकती। इसी-
लिये सही अर्थ में यह उपन्यास क्रान्तिकारी नहीं है; लेखक वेश्या-
जीवन की ऊपरी गन्दगी में फँस गया है जैसे लोग उसकी ऊपरी
तड़क-भड़क से चौंधिया जाते हैं। गन्दगी का ठीक-ठीक कारण न
जानने से वह उसे दूर करने का उपाय भी नहीं जानता। 'मुझे कोई
ऐसा अचूक नुसखा इस रोग के विरुद्ध नहीं मिला है जो मैं आपको
बता दूँ।' अचूक नुसखा है भी नहीं; इस रोग को दूर करने के लिये
पूरे समाज-शरीर की जाँच करनी होगी। कठोर चारपाई और खुरखुरी
चादर से वही हाल होगा जो उपन्यास में लिखोनिन और लियूब्का
का होता है। दिन में प्रतिज्ञा और रात में प्रतिज्ञा भंग।

कुप्रिन का दृष्टिकोण एक आदर्शवादी और व्यक्तिवादी का है।
प्लेटोनॉव जो लेखक की प्रतिमूर्ति है, एक आवारा है। वह एक के
बाद दूसरा काम उठाता है परन्तु टिकता कहीं भी नहीं है। कारण, कि
सामाजिक उपयोगिता का काम उसे दिखाई नहीं देता। वह कहत.
है—'मुझे तरह-तरह का जीवन देखने की एक उमंग-सी रहती है।
मैं आपसे सच कहता हूँ, मेरा मन कुछ दिन घोड़ा बनने को, कु छ
दिन पेड़ बनने को, कुछ दिन मछली बनने को, और कभी-कभा
औरत बनकर ज़च्चा जीवन का अनुभव लेने को भी चाहता है।'
ाह वेश्या बनना चाहे तो भी आश्चर्य न होगा! यह वही आवारापन
ा आदर्शवाद है, जो घटिया रूसी उपन्यासों में भरा हुआ है।
ऐसे मनुष्य से क्या आशा की जा सकती है! प्लेटोनॉव वेश्याओं
के बीच रहता है और उन पर पुस्तक भी लिखना चाहता है।
वेश्याओं की उसके प्रति यह धारणा है—'यहाँ की सारी छोकरियाँ

मुझे आदमी और औरत के बीच की ज़ात का जीव समझती है।' ऐसा व्यक्ति वेश्याओं की प्रशंसा पाते हुए भी उन्हें अति निकट से नहीं जान सकता। कुप्रिन वेश्याओं के बच्चों जैसे भोलेपन पर मुग्ध है। प्रायः प्रत्येक अध्याय में वह उनकी बच्चों से तुलना करता है। उनके भोलेपन और उनके जीवन की गन्दगी दोनों पर ही वह फ़िदा है। प्लेटानॉव अपने विचारों को कठिनता से सुलझाता हुआ कहता है—'यहाँ का जीवन मुझे...कैसे समझाऊँ....उपयुक्त शब्द नहीं मिलता। मुझे एक तरह से आप कह सकते हैं बड़ा आकर्षक लगता है।' 'क्योंकि यहाँ जीवन के भयंकर और नग्न चित्र मुझे देखने को मिलते हैं।' यह कुप्रिन का ही दृष्टिकोण है। उसमें तटस्थता नहीं है। भयंकरता से उसे मोह हो गया है। उसे नष्ट करने की शक्ति उसकी खो गई है। इसलिए उसे समाज में कहीं भी स्वास्थ्य नहीं दिखाई देता; और अपनी दृष्टि भी वह अन्ना के चकले से नहीं हटा पाता। हेरफेर एक ही चकले का वर्णन करने से उपन्यास में एकरसता आ गई है। विभिन्न श्रेणी की वेश्याओं और उनके जीवन की विचित्रता की ओर उसने आँख नहीं उठाई।

कथा-वस्तु में विस्तार अत्यधिक है और पुनरावृत्ति भी कम नहीं है। अन्त में कथा समाप्त करने के लिए चकले का जल्दी-जल्दी अन्त भी कर दिया गया है। पुस्तक के अन्त में 'आखिरी बात' में अनुवादक ने वेश्या-जीवन और भारतवर्ष में उसकी समस्या पर अपने विचार प्रकट किये हैं। कुप्रिन की भाँति उनका दृष्टिकोण भी आदर्शवादी है। प्रस्तावना में उन्होंने इस बात पर खुशी और अभिमान प्रकट किया था कि कुप्रिन ने अति कामवासना के लिये भारतीय विद्वानों की भाँति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना ही बताया है। वेश्याओं की पतित अवस्था के लिये कुप्रिन व्यक्तिगत कामुकता को दोषी मानता है जिसे वश में किया जा सकता है; परन्तु अपने

ृपन्यास में ही उसने अनेक ऐसे वेश्यागामी पुरुषों का ज़िक्र किया है जिन्हें अति काम-वासना के लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता। साथ ही उसने ऐसी वेश्याओं का भी जिक्र किया है जिनमें अति काम-वासना है। वे एक पुरुष से सन्तुष्ट न रह पाकर वेश्या हुई हैं। इन सब की मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर कुप्रिन ने कुछ नहीं कहा—ब्रह्मचर्य रामबाण औषधि अवश्य है परन्तु गोली बारुद के युग में उसका सब जगह उपयोग नहीं होता, न हो सकता है।

यह पुस्तक रूसी भाषा में कभी पूरी-पूरी नहीं छपने दी गई। अंग्रेजी अनुवाद में वह प्रथम बार पूरी प्रकाशित हुई। इसका कारण भी लेखक का असामाजिक दृष्टिकोण हो सकता है।

मई' ४१